Ved Mandir Library
No. 788/H
Date 18:3:1982
JAMMU.

वैष्णव-ग्रन्थों का संक्षिप्त सार संग्रह—

श्रीमद्वैष्णव
सिद्धांत-रत्न-संग्रह

२६ प्रमुख तत्वों की गवेषणापूर्ण मीमांसा

श्रीहरिनाम संकीर्त्तन मण्डल (रजि०)
श्रीधाम वृन्दावन।

[illegible]
[illegible] ....
[illegible] ....
[illegible]

* श्रीगौराङ्गविधुर्जयति *

श्रीमद्‌वैष्णव-सिद्धान्त-रत्न संग्रह

Ved Mandir Library
No...............
Date ....
JAMMU.

परमभागवत विद्यावाचस्पति

श्रीराधागोविन्द नाथ

एम. ए.

बंगलाभाषाकृत

श्रीचैतन्यचरितामृत भूमिका से

संग्रहीत तथा अनुवादित

सम्पादक—

श्यामलाल हकीम

श्रीवृन्दावन

प्रकाशक—श्रीहरिनामसङ्कीर्त्तन मण्डल
श्रीधाम वृन्दावन।

द्वितीय संस्करण — ५००

कार्तिक मास सम्वत् २०२८
अक्टूबर १९७१

न्यौछावर रु० ३.५०

मुद्रक—श्रीश्यामलाल हकीम
श्रीहरिनाम प्रेस,
वृन्दावन।

"आराध्यो भगवान् व्रजेशतनयस्तद्धाम वृन्दावनं,
रम्या काचिदुपासना व्रजवधूवर्गेण या कल्पिता ।
श्रीमद्भागवतं प्रमाणममलं प्रेमा पुमर्थो महान्,
श्रीचैतन्यमहाप्रभोर्मतमिदं तत्रादरो नः परः ॥

—व्रजेश-पुत्र श्रीकृष्णभगवान् आराध्य हैं,उनका धाम श्रीवृन्दावन है। व्रज-रमणियों ने जिसको अभिव्यक्त किया है, वह रमणीय उपासना है, श्रीमद्भागवत् ही विशुद्ध प्रमाण-शास्त्र है एवं प्रेम ही परम पुरुषार्थ है-श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभु जी का यही मत है—इसी का ही हम परम आदर करते हैं।"

समर्पण

भवदीय श्रीचरणकृपोपलब्ध वस्तु

पूर्व-समर्पित

एकबार पुनः

हे करुणामय श्रीगुरुदेवचरण !

भवदीय सर्वाभीष्ट वरप्रद

श्रीकरकमलों में

समर्पण करने का साहस

करता हूँ।

—श्याम

श्रीमन्नित्यानन्दवंशोद्भव परम पूज्यपाद

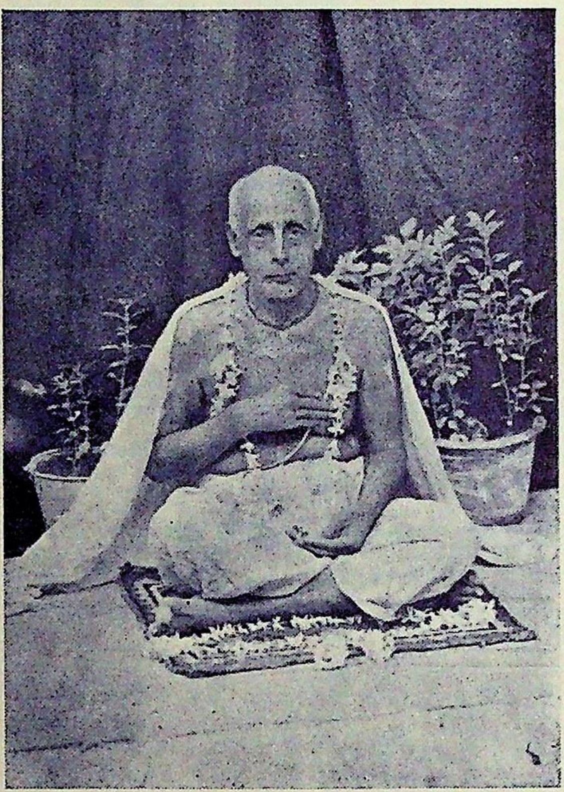

श्री श्री १००८ गोस्वामी श्री देवकीनन्दनजी महाराज

शृङ्गारवट—श्रीधाम वृन्दावन

दो शब्द—प्रथम संस्करण

व्रजेन्द्रनन्दन ! आपकी सदा जय हो !! धन्य हैं आप और धन्य है आप की करुणा । प्रत्येक कार्य में आपकी करुणा का अद्भुत विकाश है । प्रत्येक कार्य के प्रेरक, कर्त्ता एवं फलप्रदाता स्वयं आप होकर किस के द्वारा क्या कार्य सम्पादित करा देते हैं—यह कोई नहीं जान सकता, लीला पुरुषोत्तम हो न ! फिर भी जीव इस मर्म से अनभिज्ञ है, वह कर्तृत्वाभिमान में बँध जाता है । परन्तु, हे करुण ! जब आपकी प्रत्येक लीला में जीव के प्रति करुणा ही है, तो फिर उसका कर्तृत्व कैसा ?

पाठकवृन्द ! यह "श्रीमद्वैष्णव-सिद्धान्त-रत्न संग्रह" सचमुच परम-करुण आनन्दकन्द श्रीश्यामसुन्दर की असाधारण करुणा का ही फल है । इस कृति के लिए मेरा न कोई सङ्कल्प ही था और न ऐसा साहस । श्रीपाद श्रीकृष्णदास कविराज गोस्वामी विरचित—श्रीश्रीचैतन्यचरितामृत ग्रन्थ, जो कि गौड़ीयवैष्णव समाज का जीवन प्राण है, उससे आज कौन अपरिचित है ? इस ग्रन्थ की एक अनिर्वचनीय, अपूर्व महत्वपूर्ण एवं श्रुति-स्मृति-प्रमाण सम्वलित 'गौर-कृपा-तरङ्गिणी' नाम की टीका श्रीयुत श्रद्धेय भक्तप्रवर श्रीराधागोविन्द नाथ एम. ए. भूतपूर्व अध्यक्ष, कुमिल्ला विक्टोरिया तथा चौमुहनी कालेज कलकत्ता ने की है । सम्पूर्ण ग्रन्थान्तर्गत इतस्तत: आलोचित मुख्य मुख्य विषयों को उन्होंने पृथकरूप में एकत्रित कर उक्त ग्रन्थ की भूमिका का जो रूप दिया है, मानो सागर को गागर में भर दिया है ।

[जब मैं सर्वप्रथम श्रीचैतन्यचरितामृत का अध्ययन करने के लिए उक्त सङ्कलन की आदि-लीला लेकर जाड़े के दिनों में एक दिन अपनी दुकान के सामने धूप में बैठा था, और मैं ने अभी पहला पृष्ठ ही खोला था कि अचानक एक वैष्णव-बाबा मेरे पीछे आकर बोले—"तुम तो पंजाबी हो न ? तुम बंगला पढ़ सकते हो ! मैं ने कहा—"हां बाबा ! बंगाली का कुछ अभ्यास है, चैतन्यचरितामृत देखना चाहता हूँ ।" बाबा बोले—"इसे

देखने से पहले इसकी भूमिका देखो।" मैंने ग्रन्थ के पन्ने उलटे और आरम्भ में देखने लगा। बाबा ने कहा—"नहीं नहीं, इस ग्रन्थ की भूमिका एक पृथक् ग्रन्थ के रूप में श्रीराधा-गोविन्द ने प्रकाशिक कराई है, उसे देखो।" इतना कहकर वे बाबा न जाने कहां चले गए। मैंने फिर उनके दर्शन की बहुत चेष्टा की, परन्तु फिर वे आज तक मुझे नहीं दीखे]बाबा की प्रेरणा से मुझे उस भूमिका के अध्ययन करने का सुअवसर प्राप्त हुआ। भूमिकान्तर्गत तत्वों की जो मीमांसा एवं गवेषणापूर्ण आलोचना की गई है, वह अपूर्व तथा बहुत विस्तृत है। उसको भलीभांति हृदयङ्गम करने के लिए मैंने हिन्दी में उसका आंशिक अनुवाद किया। विशेषतः उन्हीं तत्व-प्रबन्धों का अनुवाद किया गया, जिनके जाने बिना वैष्णव-ग्रन्थों का मर्म-उद्घाटित नहीं हो सकता। कई, एक श्रद्धेय वैष्णवों ने इस अनुवाद को देखकर मुझे प्रोत्साहित करते हुए यह इच्छा प्रकट की कि यदि यह संग्रह सर्वसाधारण के लिए प्रकाशित हो, तो सम्भवतः अभीष्ट साध्यप्राप्ति के निमित्त यह निश्चतरूप से सब के लिए पथप्रदर्शक हो सकेगा।

वस्तुतः साधक जब तक अपने स्वरूप से, अपने साध्य के स्वरूप से, उस के साथ अपने सम्बन्ध से एवं उसकी प्राप्ति के साधन तथा प्रयोजन के स्वरूप से अपरिचित है, तब तक उसका साधन भजन उन्मत्त-स्वरूप विस्मृतव्यक्ति की भांति अनिश्चित स्थान के लिए अपरिचित मार्ग से अनियत समय तक निश्प्रयोजन भ्रमणवत् है। तात्पर्य यह है कि उपास्य तथा उपासक की तत्वालोचना के बिना उपासना सुसम्पन्न नहीं हो सकती। यही कारण है कि श्रीपादसनातन गोस्वामी ने साधकावस्था का प्रारम्भिक आदर्श सर्वसाधारण के समक्ष उपस्थित करते हुए श्रीमन्महाप्रभु से सर्वप्रथम यही जिज्ञासा की—

"कृपा करि यदि मोरे करियाछ उद्धार।
आपन कृपाते कह "कर्त्तव्य आमार"॥
के आमि, केने आमाय जारे तापत्रय ?।
इहा नाहि जानि आमि-केमने हित हय? ॥
साध्य साधन तत्व पुछिते न जानी।
कृपा करि सब तत्व कहत आपनि ॥"

—श्रीचै० च० २-२०-९५, ९७

"प्रभो ! यदि आपने करुणापूर्वक मेरा उद्धार किया है, तो आप मेरा कर्त्तव्य भी बतलाने की कृपा करें। मैं कौन हूँ ? त्रितापों द्वारा मैं क्यों परितप्त हूँ ? मैं यह नहीं जानता कि मेरा हित कैसे होगा ? मैं साध्य-साधन तत्व भी पूछना नहीं जानता—कृपा कर इन तत्वों का आप उपदेश प्रदान करें।" भावार्थ यह है कि उपास्य-उपासक की स्वरूपछवि को हृदय में धारण कर सर्वतोभावेन निर्भर-योग्य अभिधेय का अवलम्बन करने से ही अभीष्ट साध्य की प्राप्ति हो सकती है। तत्वालोचना के बिना भजन-साधन में मन की स्थिरता एवं दृढ़ता मायाकवलित जीव के लिए अत्यन्त दुष्कर ही नहीं, अपितु सर्वथा असम्भव ही है। "सिद्धान्त की क्लिष्टता को देख कर उसकी अपेक्षा नहीं करनी चाहिये। क्योंकि सिद्धान्त के बिना श्रीकृष्ण-पादारविन्द में दृढ़ मन संयोग नहीं हो सकता"—यह श्रीकविराज गोस्वामी पाद ने स्पष्ट शब्दों में कहा है—

सिद्धान्त बलिया चित्ते न कर अलस।
इहा हैते कृष्णे लागे सुदृढ़ मानस॥

—श्रीचै० च० १-२-६९

उन महान् पुरुषों की शुभाशीर्वाद ने मुझे इस ओर बलपूर्वक प्रेरित किया; किन्तु मेरे जैसे शास्त्रज्ञानशून्य साधनभजनहीन बहिर्मुख जीव के लिए यह नितान्त दुस्साहसपूर्ण अनधिकार-चेष्टा ही थी, फिर भी प्रभु कृपा से असम्भव को सम्भव कर दिया।

यहां पर यह उल्लेख करना मैं आवश्यक समझता हूँ कि जिन तत्व-प्रबन्धों का मैंने अनुवाद किया है, ग्रन्थबाहुल्य के भय से कहीं कहीं उनके कियदंशों को परित्याग करने के लिए मुझे बाध्य होना पड़ा है। तथापि मूल प्रबन्धों के सामञ्जस्य की ओर पूरा-पूरा ध्यान रखा गया है। प्रयोजन अनुसार भूमिका के अतिरिक्त मूल-ग्रंथ से भी कुछ अंशों का ग्रहण किया गया है।

श्रीश्रीगौरगोविन्दचरण-परायण अखण्डगुणगणालंकृत परमोदार पूज्यपाद श्रीनृसिंहवल्लभजी गोस्वामी वेदान्तशास्त्री (राधाबाग श्रीधाम वृन्दावन) महोदय ने इस अनुवाद के संशोधन कार्य में अपना जो अमूल्य समय प्रदान किया, तदर्थ मैं उनका विशेष ऋणी हूँ—उनका ऋण सर्वथा

अपरिशोध्य है। उनके प्रति कृतज्ञता प्रकाश करने के लिए मेरे पास शब्दाभाव है।

प्रेस कापी तैयार हो जाने पर मूल-ग्रन्थ-सम्पादक महोदय से इस संग्रह के प्रकाशन की अनुमति प्राप्त कराने में परम श्रद्धेय वैष्णवप्रवर श्रीयुत श्रीकामिनीकुमार घोष (श्रीधामवृन्दावन) महोदय ने जो अमूल्य सहायता प्रदानन की है, उसके लिए मैं उनका अतीव आभारी हूँ।

मूल-ग्रन्थ-सम्पादक महोदय ने.................इसके प्रकाशन की सहज—स्वीकृति प्रदान कर उदारता का पूर्ण परिचय देते हुए मुझे अतीव अनुगृहीत किया है। मैं किन शब्दों में उनके प्रति कृतज्ञता प्रकाश करूं ? उनकी कृपा से हिन्दी समाज को भी उनकी अपूर्व कृति को हृदयङ्गम करने का सुअवसर प्राप्त होगा.............. ।

अब रही आर्थिक समस्या। उसका समाधान भी सर्वान्तर्यामी भगवान् ने छः वर्ष पहले ही कर रखा था। "श्रीहरिनाम प्रेम-सङ्कीर्त्तन-मण्डल"—डेरागाजीखान का चतुर्थ वार्षिक "श्रीहरिनाम सङ्कीर्त्तन-सम्मेलन" जोकि सन् १९४७ में पाकिस्तान हो जाने के कारण स्थगित कर दिया गया था, उसका कोष मेरे पास मौजूद था। इस कार्य में ही उस कोष के सद्व्यय की प्रेरणा प्रभु ने की। इस सम्बन्ध में उक्त सङ्कीर्त्तन मण्डल के प्रायः समस्त प्रमुख सदस्यों ने मुझे सहर्ष अनुमति प्रदान की। वास्तव में इस कोष की सार्थकता इस से बढ़कर और क्या हो सकती थी ? उस पूर्वनिर्दिष्ट सम्मेलन का ही रूप एकदेशीय एवं सीमित ही होता, किन्तु "श्रीमद्वैष्णव-सिद्धान्त-रत्न संग्रह"—ग्रन्थ का प्रकाशन मानों मण्डल का चतुर्थ सम्मेलन सर्वदेशीय तथा अधिकतर व्यापक होता हुआ उक्त सङ्कीर्त्तन मण्डल की स्मृति को न केवल मण्डल के सदस्यों के चित्त में, अपितु प्रत्येक पाठक के हृदय में जागरूक रखेगा।

यह ग्रन्थ श्रीगौरपूर्णिमा चैतन्याब्द ४६५ (फाल्गुल पूर्णिमा सं० २००७) से आरम्भ होकर चैनन्याब्द ४६८ (वैशाख सं० २०१०) में करुणासागर की अपार अनुकम्पा से निर्विघ्न सम्पूर्ण हुआ।

जिन जिन महानुभावों ने जिस किसी रूप में भी इस ग्रन्थ के सम्पादन तथा प्रकाशन में मुझे अपना उदार-सहयोग प्रदान करने की अनुकम्पा की है, मैं उन समस्त महानुभावों का कृतज्ञ हूं।

मेरा यह प्रथम प्रयास है। मेरी समस्त त्रुटियों को अदोषदर्शी, दया-दाक्षिण्यादि विविध सद्गुणालंकृत पाठकवृन्द क्षमा करते हुए यदि इस ग्रन्थ को अपनाने की कृपा करें तभी मैं अपने प्रयास को सफल समझूंगा।

इस ग्रन्थ के विक्रय-लब्ध-अर्थ द्वारा भविष्य में अन्यान्य सद्ग्रन्थों के प्रकाशन की अभिलाषा है। पाठकों के उत्साह एवं सहयोग से ही यह सङ्कल्प सिद्ध हो सकता है। विज्ञेषुकिमधिकमिति शम्।

श्रीनृसिंह जयन्ती
वैशाख शुक्ला चतुर्दशी
सं० २०१०

भक्त-पद-रजप्रार्थी
श्यामलाल हकीम
श्रीधाम-वृन्दावन।

दो शब्द—द्वितीय संस्करण

सुधी पाठकवृन्द !

सम्वत् २०१० में प्रस्तुत ग्रन्थ "श्रीमद्वैष्णव-सिद्धान्त-रत्न संग्रह" को श्रीमन्महाप्रभु जी की कृपा से मण्डल ने प्रकाशित किया था। मण्डल के प्रकाशनों का यही श्री गणेश था। इसके बाद ही मण्डल ने—श्रीवृन्दावन महिमामृत (एक से सत्रह शतक) श्रीचैतन्यचरितामृत (आदि, मध्य, अन्त्य लीला) श्रीगोपालचम्पू आदि अनेक विशाल ग्रन्थों का प्रकाशन किया।

प्रथम संस्करण में भाषाक्लिष्टता का जो अनेक पाठकों ने अनुभव किया, इस संस्करण में यथा सम्भव मैं ने दूर करने का प्रयास किया है। सिद्धान्त-विषय होने के कारण हलकी भाषा भी विषय के सारस्य एवं गम्भीरता की रक्षा करने में असमर्थ मालूम होती है। अनेक स्थानों पर विषय को स्पष्ट करने के लिए परिशोधन एवं परिवर्धन किया गया है।

प्रस्तुत संस्करण में १. भगवत्-स्वरूप, २. श्रीकृष्ण का रसास्वादन, ये दो प्रबन्ध बढ़ा दिये गये हैं जो साधक समाज के लिए अति उपादेय एवं ज्ञातव्य हैं। श्रीमन्महाप्रभुजी का चरितांश, जो प्रथम संस्करण में दिया गया था, उसे इसमें प्रकाशित नहीं किया गया, क्योंकि मण्डल की ओर से "श्रीगौर तत्व" ग्रन्थ का प्रकाशन किया जा चुका है, जिसमें श्रीगौर सुन्दर के चरितांश एवं तत्वांश दोनों का सुन्दर समावेश है।

श्रीश्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभु के गुणलीला वर्णन प्रधान अनवद्य ग्रन्थ रत्न श्रीश्रीचैतन्यचरितामृत में वैष्णव धर्म के जिन मूल तत्वों का एवं दार्शनिक सिद्धान्तो का विशद विवेचन किया गया है वे प्रायः समस्त इस ग्रन्थ में एकत्रित किये गये हैं एवं उनकी गवेषणापूर्ण विस्तृत मीमांसा की गई है। इसलिए प्रस्तुत ग्रन्थ को श्रीचैतन्यचरितामृत की भूमिका कहा गया है; यह बात ठीक है, परन्तु मैं समझताहूँ यह ग्रन्थ केवल श्रीचैतन्यचरितामृत की ही भूमिका नहीं है, बल्कि समस्त वैष्णव शास्त्रों की मूल भित्ती है। इस ग्रन्थ के अध्ययन करने के बाद ही समस्त वैष्णव-सिद्धान्तों का यथार्थ प्रतिपाद्य विषय सहज में समझा जा सकता है।

वैष्णवपदरजाभिलाषी—

श्यामलाल हकीम

श्रीवृन्दावन

दिनाङ्क—

११-१०-१९७१

विषय-सूची

श्रीकृष्ण-तत्व

विषय	पृष्ठ सं०
१—ब्रह्म	१
२—ब्रह्म-शब्द का अर्थ, ब्रह्म सशक्तिक है	२
३—ब्रह्म सच्चिदानन्द, स्वप्रकाश एवं ज्ञानस्वरूप है	४
४—ब्रह्म के शक्ति-विकाश में अनन्त वैचित्री है। शक्ति-विकाश-वैचित्री का नित्यत्व है एवं ब्रह्म विकारहीन है	५
५—शक्ति-क्रिया से ब्रह्म में सविशेषत्व है	६
६—ब्रह्म रसस्वरूप है	६
७—ब्रह्म रसस्वरूप आस्वाद्य तथा आस्वादक है	८
८—आस्वाद्यत्व-जनयित्री अभिव्यक्ति	८
९—आस्वादकत्व-जनयित्री अभिव्यक्ति	९
१०—शक्तिविकाश से ब्रह्म में भगवत्ता, शिवत्व एवं सौन्दर्य है	१०
११—ब्रह्म भावनिधि है	११
१२—अनन्त भगवत्स्वरूप ब्रह्म की अनन्त रस-वैचित्री एवं अनन्त भाव-वैचित्री के मूर्तरूप हैं	१०
१३—ब्रह्म अव्यक्तशक्तिक है	११
१४—श्रीकृष्ण परब्रह्म हैं	१२
१५—परमात्मा एवं अन्यान्य भगवत्स्वरूप। ईश्वर एवं भगवान्। श्रीकृष्ण परमेश्वर, स्वयंभगवान् एवं परतत्व हैं	१२
१६—परब्रह्म श्रीकृष्ण निर्विशेष ब्रह्म की प्रतिष्ठा हैं	१३
१७—परब्रह्म एक रूप में ही बहुरूप हैं	१३
१८—श्रीकृष्ण अंशी हैं	१४
१९—श्रीकृष्ण सगुण एवं निर्गुण हैं	१५
२०—श्रीकृष्ण अद्वय-ज्ञानतत्व हैं	१५
२१—श्रीकृष्ण सर्वकारण-कारण हैं	१७

२२—श्रीकृष्ण आश्रय-तत्व हैं १७
२३—परब्रह्म श्रीकृष्ण नराकृति हैं १७
२४—श्रीकृष्ण लीलामय हैं १८
२५—श्रीकृष्ण लीला पुरुषोत्तम हैं १८
२६—श्रीकृष्ण का आकर्षकत्व २०
२७—श्रीकृष्ण का ऐश्वर्य भी माधुर्य-मण्डित है २१
२८—श्रीकृष्ण-नरवपु में विभुत्व हैं २१
२९—श्रीकृष्ण विरुद्ध-धर्माश्रय हैं २१
३०—श्रीकृष्ण करुणामय हैं २२

शक्ति-तत्व

३१—चित्-शक्ति, जीव-शक्ति तथा माया-शक्ति २३
३२—गुणमाया तथा जीवमाया २४
३३—सन्धिनी, सम्वित् तथा ह्लादिनी २४
३४—शुद्धसत्व एवं मूर्ति २५
३५—मूर्ता एवं अमूर्ता शक्ति २५
३६—योगमाया २५
३७—जीवमाया और योगमाया का पार्थक्य २६

धाम-तत्व एवं परिकरतत्व

३८—धाम और परिकर स्वरूपशक्ति की वृत्तियां हैं २७
३९—श्रीकृष्णलोक एवं परव्योम। सिद्धलोक। धाम सविशेष है। सिद्ध-लोक निर्विशेष है। कारण-समुद्र की स्थिति २७
४०—ब्रजरस एवं ब्रज-परिकर २८
४१—ममताबुद्धि के आधिक्य से श्रीकृष्ण-वश्यता का आधिक्य है २९
४२—ब्रज-प्रेम २९

भगवत्-स्वरूप

४३—ब्रज एवं द्वारका के भाव की विशेषता ३०
४४—श्रीबलराम ३१
४५—द्वारका चतुर्व्यूह ३१
४६—परव्योम-चतुर्व्यूह ३१

४७—परव्योम-स्वरूप ३१
४८—पुरुष-त्रय ३२

श्रीकृष्ण का रसास्वादन

४९—आत्मारामता ३३
५०—स्वरूपानन्द व शक्त्यानन्द ३४
५१—ऐश्वर्यानन्द ३५
५२—मानसानन्द ३६
५३—भगवत् स्वरूप रूप से श्रीकृष्ण का रसास्वादन ३७
५४—रसास्वादन के उद्देश्य से ही अनन्त भगवत् स्वरूपों में श्रीकृष्ण का आत्मप्रकटन ४०
५५—परिकर रूप से भी श्रीकृष्ण का रसास्वादन ४०
५६—रसास्वादन में श्रीकृष्ण जीव-शक्ति की अपेक्षा नहीं रखते ४१

श्रीब्रजेन्द्रनन्दन

५७—वात्सल्य रसास्वादन निमित्त पिता-माता का प्रयोजन है ४२
५८—परिकरस्वरूप नन्द-यशोदा का पितृ-मातृत्व अभिमान-वशतः ही है, श्रीकृष्ण के जन्म-वशतः नहीं ४३
५९—द्वारका-मथुरा का वात्सल्य ४४
६०—ब्रज में शुद्ध माधुर्य है ४४
६१—ब्रज में ही ब्रह्मतत्व का पूर्णतम विकाश है ४५
६२—प्रकट-लीला में श्रीकृष्ण का जन्म-रहस्य ४६

सृष्टि-तत्व

६३—सृष्टि का मूल ब्रह्म है एवं सृष्टिलीला अनादि है ४८
६४—लीलावश सृष्टि-प्रक्रिया है ४८
६५—परब्रह्म की प्रत्येक लीला में करुणा है ४८
६६—पाँच वस्तुएं नित्य हैं तथा सृष्टिलीला में जीव के प्रति करुणा है ४९
६७—सृष्टि के विषय में सांख्य मत ५०
६८—जगत् का कारण ईश्वर है ५१
६९—माया और जीव ५१

७०—परिणामवाद तथा विवर्तवाद ५२
७१—सृष्टि-क्रम ५३

श्रीबलराम-तत्व

७२—श्रीबलराम क्रियाशक्ति हैं ५५
७३—श्रीबलराम मूल भक्तितत्व हैं ५५
७४—श्रीबलराम की श्रीकृष्ण-सेवा ५५

प्रेम-तत्व

७५—प्रेम ह्लादिनी-सम्वित् प्रधान शुद्धसत्व की वृत्ति-विशेष है ५६
७६—प्रेम को परिणति ५७
(क)—स्नेह ५७
(ख)—मान ५७
(ग)—प्रणय ५७
(घ)—राग ५८
(ङ)—अनुराग ५८
(च)—भाव ५८
(छ)—महाभाव ५८
७७—जीव में प्रेम का आविर्भाव ५९

श्रीराधा-तत्व

७८—स्वरूपतः श्रीराधा ह्लादिनी क्रो अधिष्ठात्री हैं ६०
७९—श्रीराधा सर्वशक्ति-गरोयसी एवं पूर्णशक्ति है ६०
८०—श्रीराधा मूल-कान्ताशक्ति हैं ६१
८१—श्रीराधा-प्रेम सर्वातिशायी है ६२

गोपी-तत्व

८२—गोपीगण श्रीराधा का कायव्यूहरूप हैं गोपी-शब्द का अर्थ ६५
८३—गोपी-प्रेम ६५
८४—गोपी-प्रेम कामक्रीड़ा नहीं है ६६
८५—काम तथा प्रेम ६६
८६—साधारणी-रति ६७
८७—समंजसा-रति ६७

८८—समर्था-रति ६८
८९—रमण ६९
९०—आत्मारामता ६९
९१—नित्यसिद्धा एवं साधनसिद्धा गोपी ७०
९२—सखी एवं मंजरी ७०
९३—श्रीराधा का श्रेष्ठत्व ७०

जीव-तत्व

९४—जीव का लक्षण ७१
९५—जीव भगवान् की शक्ति है ७२
९६—जीव भगवान् की चित्रूपा शक्ति है ७२
९७—जीवशक्ति को तटस्थाशक्ति भी कहते हैं ७३
९८—जीव भगवान् का अंश है ७३
९९—जीव श्रीकृष्ण का विभिन्नांश है ७५
१००—जीव का परिमाण तथा आयतन ७५
१०१—जीव का नित्यत्व ७६
१०२—जीव का नित्य पृथक् अस्तित्व ७६
१०३—जीव ज्ञानस्वरूप एवं ज्ञाता है ७७
१०४—जीव में कर्तृत्व है ७८
१०५—जीव का कर्तृत्व परमेश्वर के आधीन है ७८
१०६—जीव में अणु स्वतन्त्रता है ८०
१०७—जीव के अणु-स्वातन्त्र्य की प्रयोजनीयता ८१
१०८—जीव श्रीकृष्ण का भेदाभेद प्रकाश है ८२
१०९—जीव स्वरूपतः श्रीकृष्ण का नित्यदास है ८२
११०—नित्यमुक्त एवं बद्ध-जीव ८७
१११—संसार-बन्धन का हेतु ८८
११२—मायाबन्धन-निवृति-उपाय ९१

पुरुषार्थ

११३—काम ९२
११४—अर्थ ९३
११५—धर्म ९३

११६—मोक्ष ६४
११७—प्रेम ६६

सम्बन्ध—तत्व

११८—सम्बन्ध-तत्व ६७
११९—प्राकृत एवं अप्राकृत समस्त का ब्रह्म के साथ नित्य-अविच्छेद्य सम्बन्ध है ६७
१२०—समस्त शास्त्रों के प्रतिपाद्य परब्रह्म श्रीकृष्ण हैं अतः वे सम्बन्ध-तत्व हैं ६८
१२१—सायुज्यमुक्ति में सम्बन्ध की सार्थकता नहीं है ६९
१२२—श्रीकृष्ण-सेवा में ही सम्बन्ध की सार्थकता है ६९

अभिधेय-तत्व

१२३—सम्बन्ध तत्व की स्मृति ही अभिधेय है १००
१२४—कर्म निधेय नहीं है १०१
१२५—योग सर्वतोभावेन निर्भरयोग्य अभिधेय नहीं है १०२
१२६—ज्ञानमार्ग भी सर्वतोभावेन निर्भरयोग्य अभिधेय नहीं है १०३
१२७—भक्तिमार्ग ही सर्वतोभावेन प्रधान-अभिधेय है १०८

प्रयोजन-तत्व

१२८—उपासना का मुख्य उद्देश्य संसार-भय-निवृति नहीं है १११
१२९—श्रीकृष्ण-प्रेम ही मुख्य प्रयोजन-तत्व है ११२

साध्य

१३०—ब्रह्मानन्द वैचित्रीहीन स्वरूपानन्द है ११३
१३१—परमात्मा का अनुभवानन्द लीला की आनन्द-वैचित्री रहित है ११४
१३२—श्रीकृष्णानुभव में आनन्द की पराकाष्ठा है ११४
१३३—भगवत्-सान्निध्य ११४
१३४—सेवा ही आनन्दास्वादन का हेतु है ११५
१३५—जीव का साध्य ११५
१३६—गौड़ीय वैष्णवों का साध्य ११६
१३७—जीव की सेवा आनुगत्यमयी है ११६

साधन

१३८—धाम, लीला, परिकर मायातीत हैं। जीव चित्त माया-मलिन है ११७
१३९—भगवान् की करुणा तथा साधन ११८
१४०—ज्ञानमार्ग ११७
१४१—योगमार्ग ११९
१४२—भक्तिमार्ग ११९
१४३—साधन-भक्ति ११९
१४४—वैधी-भक्ति १२०
१४५—रागानुगा-भक्ति १२०
१४६—वैधी तथा रागानुगा-भक्ति का पार्थक्य १२१
१४७—वैधी-भक्ति के साधन १२१
१४८—रागानुगा-भक्ति के साधन १२५
१४९—सिद्ध-देह १२६

अपराध

१५०—अपराध-पाप १२७
१५१—सेवापराध १२७
१५२—नामापराध १२८
१५३—वैष्णवापराध १२८
१५४—नामापराध खण्डन का उपाय १२९

साधन-भक्ति का प्राण

१५५—श्रीकृष्ण-स्मृति १२९
१५६—श्रीकृष्ण-स्मृति में वैचित्री है १३०
१५७—अनासङ्ग भजन तथा सासङ्ग-भजन १३०

साधक का भक्ति-विकाश-क्रम

१५८—श्रद्धा १३२
१५९—अनर्थ १३३
१६०—अनर्थ-निवृति १३४
१६१—रति १३४
१६२—जातरति-भक्त के लक्षण १३५

१६३—प्रेम १३६

साधु-सङ्ग और महत्-कृपा

१६४—साधु या महत्पुरुषों के लक्षण १३६
१६५—महत्कृपा एवं भक्ति १३७
१६६—साधक-भक्त तथा सिद्ध-भक्त १३८

गुरु-तत्व

१६७—गुरु-तत्व १३९
१६८—श्रीगुरुदेव स्वरूपतः श्रीकृष्ण के प्रियतम भक्त हैं १३९
१६९—श्रीगुरुदेव श्रीकृष्णवत् पूज्य हैं १४०
१७०—श्रीगुरुदेव श्रीकृष्ण का आविर्भाव विशेष हैं १४०
१७१—गुरु-योग्यता। शुद्धसत्वोज्ज्वलचित्तता १४१
१७२—शिक्षागुरु १४१

साध्य-साधन तत्व

१७३—चतुर्वर्ग १४२
१७४—चतुर्वर्ग अज्ञानतम हैं १४३
१७५—मोक्षवाँछा कैतव-प्रधान है १४३
१७६—परमधर्म १४४
१७७—साध्य वस्तु १४५
१७८—स्वधर्म १४६
१७९—श्रीकृष्ण-कर्मार्पण १४६
१८०—स्वधर्म-त्याग १४६
१८१—ज्ञानमिश्रा-भक्ति १४७
१८२—ज्ञानशून्या-भक्ति १४८
१८३—प्रेम-भक्ति १४९
१८४—दास्य-प्रेम १५०
१८५—सख्य-प्रेम १५१
१८६—वात्सल्य-प्रेम १५२
१८७—कान्ता-प्रेम १५४
१८८—गोपी-प्रेम का वैशिष्ट्य १५६

१८९—श्रीराधा-प्रेम १६०
१६०—श्रीकृष्ण-तत्व १६२
१६१—रस-तत्व १६२
१६२—प्रेम-तत्व एवं राधातत्व १६३
१६३—साधन १६५

श्रीगौर-तत्व

१६४—श्रीकृष्ण रूपसे तथा श्रीगौरसुन्दररूपसे स्वयंभगवान् की लीला है१६७
१६५—वर्तमान कलि के उपास्य-अवतार श्रीगौरसुन्दर हैं १७०
१६६—श्रीश्रीगौरसुन्दर अवतार का बहिरङ्ग हेतु १७६
१६७—श्रीश्रीगौरसुन्दर-अवतार का अन्तरङ्ग हेतु १७८
१६८—श्रीश्रीगौरसुन्दरस्वरूप में आश्रय-स्वरूप की प्रधानता है १८३
१६९—श्रीगौर-करुणा का माधुर्य एवं उल्लास १८४
२००—रसराज-महाभाव-स्वरूप—श्रीगौरसुन्दर का सर्वातिशायी माधुर्य १८६

नाम-तत्व

२०१—नामाभास १६०
२०२—नाम तथा नामी अभिन्न हैं १६१
२०३—नाम स्वप्रकाश एवं परम स्वतन्त्र है १६१
२०४—नाम सर्व-शक्ति-सम्पन्न है १६३
२०५—नाम सर्व-साधन-श्रेष्ठ है एवं सर्वार्थद है १६४
२०६—श्रीकृष्ण-नाम का विशेषत्व १६६
२०७—नाम का मुख्य-फल—भगवत्-प्रेमदायकत्व, भगवद्-वशीकारित्व १६७
२०८—नाम की असाधारण कृपा १६६
२०९—नाम-अक्षर अप्राकृत चिन्मय है २०२
२१०—नाम पूर्णता-विधायक है २०३
२११—सर्व-वेदों से नाम का माहात्म्य अधिक है २०४
२१२—सर्व-तीर्थों से नाम का माहात्म्य अधिक है २०४
२१३—समस्त सत्कर्मों से नाम का माहात्म्य अधिक है २०५
२१४—नाम सर्व-महाप्रायश्चित है २०५
११५—नाम स्वतः ही परम-पुरुषार्थ है—परम-धर्म है २०६

२१६—नाम-सङ्कीर्त्तन एवं वागिन्द्रिय का वैशिष्ट्य २०७
२१७—"कलौ केशव-कीर्त्तनात्" २१०
२१८—"तृणादपिसुनीचेन" २१३

श्लोक-सूची

क्रम सं०	पृष्ठ
(अ)	
१—अतः कृष्णनामादि	२००
२—अनर्पितचरीं चिरात्	१७६
३—अन्तः कृष्णं बहिर्गौरं	१७४
४—अन्याभिलाषिता शून्यं	११६
५—अपरिकलित पूर्वः	१८८
६—अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं	७२
७—अपि चेत् सुदुराचारो	१०६
८—असंयतात्मनायोगो	१०२
९—अहमेव क्वचिद् ब्रह्मन्	१७५
(आ)	
१०—आत्मारामाश्च मुनयो	९६
११—आदौ श्रद्धा ततः साधुसङ्गः	१३३
१२—आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्याम्	१५७
१३—आसन् वर्णास्त्रयो ह्यस्य	१६८
(ई)	
१४—ईश्वरः परमः कृष्णः	१३
(ऋ)	
१५—ऋग्वेदो हि यजुर्वेदः	२०४

(ए)

१६—एतदालम्बनं श्रेष्ठम् १९९
१७—एतन्निर्विद्यमानानाम् १९५
१८—एभिर्भूतानि भूतात्मा ५०

(क)

१६—कथ्यते वर्णनामाभ्यां १६६
२०—कस्यानुभावोऽस्य ३८
२१—किं करिष्यति सांख्येन १९५
२२—किरातहूणान्ध्रपुलिन्दपुक्कसा १०९
२३—कुरुक्षेत्रेण किं तस्य २०४
२४—कृष्णवर्णं त्विषाकृष्णम् १७३
२५—कृषिर्भूवाचक शब्दो १२

(ग)

२६—गीत्वा च मम नामानि १९९
२७—गीत्वा च मम नामानि १९९
२८—गोकोटिदानं ग्रहणे खगस्य २०६

(च)

२९—चक्रायुधस्य नामानि १९२
३०—चेतोदर्पण मार्ज्जनं २०६

(ज)

३१—जाते नामापराधेऽपि २०२

(त)

३२—तदंशा सिन्धुकन्या च ६१
३३—तदंशा स्वर्गलक्ष्मीश्च ६१
३४—तपस्विनो दानपरा १०३
३५—तीर्थकोटिसहस्राणि २०४
३६—तृणादपि सुनीचेन १२९
३७—तुलसदलमात्रेण १०६

(द)

३८—दानव्रततपस्तीर्थ १९३

३९—द्विजात्मजा मे युवयोः ३८
४०—दैवी ह्येषा गुणमयी ९२

(न)

४१—न जायते म्रियते वा ७६
४२—न देशनियमस्तस्मिन् १९२
४३—न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां ६४
४४—नातिसान्द्रा हरेः प्रायः ६७
४५—नाथ जन्म सहस्त्रेषु १११
४६—नाम चिन्तामणिः कृष्ण १९१
४७—नाम्नामकारि बहुधा १९३
४८—नाम्नोऽस्ति यावती शक्तिः २०५
४९—नामापराधयुक्तानाम् २०२
५०—नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो १०६
५१—निजाँगमपि या गोप्यो १५९

(प)

५२—पारङ्गतोऽपि वेदानां १०८
५३—पत्नी-भावाभिमानात्मा ६७

(ब)

५४—बालाग्रशतभागस्य ७३
५५—ब्रह्मभूतो प्रसन्नात्मा १४७

(भ)

५६—भुक्तिमुक्ति स्पृहा यावत् १३१
५७—भूतशुद्धि बिना कर्त्तुः १३१

(म)

५८—मा ऋचो मा यजुस्तात २०४
५९—मत्तः परतरं नान्यत् १७
६०—मधुर मधुरमेतन्मङ्गलं २०६
६१—मधुरं मधुरं वपुरस्य विभो २०
६२—मन्त्रतस्तन्त्रतश्छिद्रं २०३

६३—मन्माहात्म्यं-मत्सपर्या १५८
६४—मन्मनाभव मद्भक्तो १०८

(य)

६५—यत्कर्मभिर्यत्तपसा १०८
६६—यत्ररागानवाप्तत्वात् १२०
६७—यथा यथा हरेर्नाम ११०
६८—या प्रीतिरविवेकीनाम् १११

(र)

६९—रसे सारश्चमत्कारो ७
७०—राधावामाँशसम्भूता ६१
७१—राधा संगे यदाभाति ६४
७२—राधा कृष्णप्रणयविकृतिः १७८
७३—राम रामेति रामेति १९६
७४—रासाधिष्ठात्री देवी च ६२

(व)

७५—वन्देऽहं श्रीगुरोः १
७६—वन्दे नन्द ब्रजस्त्रीणाम् १५७
७७—वर्तमानन्तु यत् पापं २०५
७८—विक्रीड़ितं ब्रजवधूभिः १५६
७९—विराजन्तीमभिव्यक्तं १२१
८०—विष्णुशक्तिः पराप्रोक्ता ७२

(श)

८१—शचीसूनुं नन्दीश्वर १३९
८२—श्रीमन्नाम्नाश्च सर्वेषां १९७
८३—श्रीराधायाः प्रणयमहिमा १८२
८४—श्रेयः सृतिं भक्तिमुदस्य १०३

(स)

८५—स जीयात् कृष्णचैतन्यः १८६
८६—सतां प्रसङ्गान्ममवीर्य्य संविदो १३२

८७—सततं स्मर्तव्यो विष्णु १२६
८८—सत् पुण्डीकनयनं १८
८९—सरस्वती भारतीच ६१
९०—सर्वेमद्भक्तियोगेन १०८
९१—सर्वार्थ शक्तियुक्तस्य १९३
९२—सर्वार्थ सिद्धिमाप्नोति १९३
९३—सहस्रनाम्नां पुण्यानां १९६
९४—सावित्री ब्रह्मणः पत्नी ६१
९५—सुवर्णवर्णः हेमाङ्गो १७५
९६—सृष्ट्यादिकं हरिमैव ४८
९७—स्मर्तव्यः सततं विष्णु ९१
९८—स्वरूपं ललनानिष्ठं ६८

(ह)

९९—हरेर्नाम हरेर्नाम २११

(क्ष)

१००—क्षान्तिरव्यर्थकालत्वं १३५

* श्रीगौराङ्गविधुर्जयति *

श्रीमद्वैष्णव-सिद्धान्त-रत्न संग्रह

मङ्गलाचरण

वन्देऽहं श्रीगुरोः श्रीयुतपदकमलं श्रीगुरून् वैष्णवांश्च
श्रीरूपं साग्रजातं सहगण-रघुनाथान्वितं तं सजीवम् ।
साद्वैतं सावधूतं परिजन सहितं श्रीकृष्णचैतन्यदेवं
श्रीराधाकृष्णपादान् सहगण ललिता श्रीविशाखान्वितांश्च ।।

श्रीकृष्ण-तत्व

ब्रह्म—

पृथ्वी-सूर्य-चन्द्र आदि परिदृश्यमान समस्त जगत् एवं इसके अतिरिक्त जो कुछ है या हो सकता है, उस सब का जो मूल है, अथवा जिससे यह समस्त अवस्थित है, उसके स्वरूप का अनुभव कर ऋषिगण ने उसे 'ब्रह्म' नाम से अभिहित किया है। ब्रह्म-शब्द उसका स्वरूपवाचक है। ब्रह्म का अर्थ है-वृहत्तम वस्तु; वह वस्तु कैसे एवं किस रूप में वृहत् है, ब्रह्म शब्द के अर्थ की आलोचना करने से वह स्पष्ट होगा।

ब्रह्म शब्द का अर्थ, ब्रह्म सशक्तिक है—

वृंह-धातु से ब्रह्म-शब्द निष्पन्न है "वृंहति वृंहयति च इति ब्रह्म"। जो बड़ा है एवं जो बड़ा करता है वह ब्रह्म है। जो बड़ा कर सकता है, निश्चय उसमें बड़ा करने की शक्ति है। श्रुति कहती है, एक नहीं उसमें

अनेक शक्तियां हैं एवं वे सब उसकी स्वाभाविकी शक्तियां हैं, अग्नि की दाहिका शक्ति की तरह। वे समस्त शक्तियां उसकी स्वरूपगत, नित्य-सम्बन्धविशिष्ट अर्थात् अविच्छेद्य हैं। श्रुति कहती है:—

"परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च।"

—श्वेताश्वतर ६-८

ब्रह्म सब की अपेक्षा बड़ा है। उसका स्वरूप बड़ा है, वह शक्ति में भी बड़ा है एवं शक्ति के कार्य में भी बड़ा है। स्वरूप में बड़ा होने से वह सर्वव्यापक, अनन्त, विभु है। शक्ति में बड़ा होने से शक्तियों की संख्या में, एवं प्रत्येक शक्ति के परिमाण में वह सर्वापेक्षा समधिकरूप से बड़ा है। शक्ति का अर्थ है—कार्यक्षमता। शक्ति रहने से उसमें क्रिया भी रहती है, कारण कि वस्तुतः कार्य द्वारा ही शक्ति का अस्तित्व सूचित होता है। पूर्वोल्लिखित श्रुति से भी स्पष्ट है "ज्ञानबलक्रिया च" अर्थात् उसमें ज्ञान की क्रिया, बल एवं इच्छा की क्रिया भी है। ब्रह्म जब सब विषय में सर्वापेक्षा समधिकरूप से बड़ा है, तब उसकी प्रत्येक शक्ति का कार्य भी सर्वापेक्षा समधिक रूप से बड़ा है। श्रुति कहती है **"अनन्तं ब्रह्म"** ब्रह्म का यह आनन्त्य सब विषयों में है, अर्थात् वह ब्रह्म स्वरूप में, शक्ति में, शक्ति के कार्य में, एवं शक्ति की प्रकाश-वैचित्री में अनन्त है।

शब्दार्थ प्रकाश करने के लिए मुक्तप्रग्रहा-वृत्ति * का सर्वोत्तम स्थल कुछ यदि रहे, तब वह शब्द परतत्व वाचक होता है। क्यों कि, परतत्त्व ही एक मात्र परम स्वतन्त्र अर्थात् सर्व प्रकार के बाधा-विघ्न से परे की वस्तु है। इसलिए परतत्त्व वाचक 'ब्रह्म'-शब्द का अर्थ मुक्तप्रग्रहा-वृत्ति से ही करना सङ्गत है। इस वृत्ति से अर्थ करते हुए हमें 'वृंहति' और 'वृहंयति'-

---

* मुक्तप्रग्रहा-वृत्ति नाम की एक रीति है शास्त्र में शब्द का अर्थ प्रकाश करने की। शब्द के धातु-प्रत्ययगत अर्थ का अबाध विकाश ही इसका तात्पर्य है। प्रग्रह कहते हैं घोड़े की लगाम को। लगाम हटा लेने पर घोड़ा मुक्त प्रग्रह हो जाता है। तब वह अपनी शक्ति-सामर्थ्य की शेष सीमा तक अपनी इच्छानुसार जा सकता है। किसी शब्द के धातु प्रत्ययगत अर्थ के विकाश में जब किसी प्रकार का बाधा-विघ्न नहीं रहता, तभी वह अपने विकाश की शेष सीमा तक पहुँच पाता है और तभी वह अत्यन्त व्यापक होता है। अतः जिस वृत्ति से अर्थ करने पर शब्दार्थ अबाध व्यापकता प्राप्त कर सके, उसे मुक्तप्रग्रहा वृत्ति कहते हैं।

इन दोनों अर्थों को ग्रहण करना होगा और इन दोनों के अर्थों की चरम-सीमा तक जाना होगा। तभी यह समझा जा सकेगा कि ब्रह्म का वृहतत्त्व आनन्त्य पर्यन्त व्यापक है एवं आनन्त्य केवल स्वरूप में ही नहीं परन्तु शक्ति में,शक्ति के कार्य तथा उसकी प्रकाश-वैचित्री में भी है।

ब्रह्म-शब्द का अर्थ करते हुए यदि 'वृंहति' और 'वृंहयति'—इन दोनों अशों में से किसी एक अंश को छोड़ दिया जाए तो वह अर्थ अधूरा होगा, ब्रह्म की अपूर्णता का और ब्रह्मत्व की हानि का ज्ञापक होगा। दोनों अंशों का अर्थ ग्रहण करने पर एवं दोनों अर्थों की सर्वोत्तम व्यापकता में ही ब्रह्म की परतत्वता सूचित हो सकती है। इसलिए विष्णु पुराण (१-१२-५७) कहता है–"**वृहत्त्वाद् वृंहणत्वाच्च तद्ब्रह्म परमं विदुः॥**" श्वेताश्वतर श्रुति (६-८) भी इसका समर्थन करती है "**न तत् समोऽभ्यधिकश्च दृश्यते।**—उस के समान और उस से अधिक कुछ भी नहीं है। इन उक्तियों में 'वृंहति' अंश के अर्थ को ग्रहण किया गया है, और '**परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च,** —इस श्रुति में 'वृंहयति' अंश के अर्थ को प्रकाशित किया गया है। जो लोग परतत्व ब्रह्म को निःशक्तिक कहते हैं, वे केवल 'वृंहति' अंश को ग्रहण करते हैं, 'वृंहयति'-अंश को ग्रहण नहीं करते। इस से ब्रह्म के परतत्व की हानि होती है। इस रूप में वे जिस तत्व का सन्धान करते हैं वह अवश्य एक तत्व है, किन्तु वह परम तत्व नहीं कहा जा सकता।

ब्रह्म-शब्द का प्रकृति-प्रत्ययलब्ध मुख्या-वृत्ति से अर्थ करने पर ब्रह्म की स्वाभाविकी शक्ति, उसका कार्य एवं उसकी प्रकाश-वैचित्री तथा इन सब का आनन्त्य भी प्रतिपादित होता है। ब्रह्म में शक्तिकत्व है, इस श्रुति द्वारा भी स्पष्ट है:—

यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्यैष महिमा भुवि दिवे ब्रह्मपुरेह्येष व्योम्न्यात्मा प्रतिष्ठितः।" (मण्डुकोपनिषत् २–२–७)

इस श्रुति में ब्रह्म को सर्वज्ञ, सर्ववित् कहा गया है और उसकी महिमा का भी वर्णन किया गया है।—

"**यमेवैष वृणुते तेन लभ्य स्तस्यैष आत्मा वृणुते तनुं स्वाम्।**"

(मण्डुक ३।२।३, कठोपनिषत् २।२३)

इस श्रुति वाक्य में भी ब्रह्म के वरण करने की शक्ति की बात कही गई है, जिससे ब्रह्म का सशक्तित्व एवं सविशेषत्व सिद्ध होता है। वेदान्त के प्रथम सूत्र के भाष्य में श्रीपाद शंकराचार्य ने भी ब्रह्मसूत्र का मुख्यार्थ करते हुए इस प्रकार लिखा है—

नित्य शुद्धबुद्धमुक्त स्वभावं सर्वज्ञं सर्वशक्तिसमन्वितं ब्रह्म-ब्रह्म शब्दस्य हि व्युत्पाद्यमानस्य नित्य शुद्धत्वादयोऽर्थाः प्रतीयन्ते। बृहतेर्धातोर—र्थानुगमात् ॥ (१-१-१ ब्रह्मसूत्र शंकरभाष्य) । इस भाष्य में श्रीपाद शंकराचार्य ने मुख्यार्थ में ब्रह्म को 'सर्वज्ञ' एवं सर्वशक्तिसमन्वित कह कर उल्लेख किया है।

परन्तु बाद में श्रीपाद शंकराचार्य ने इस विषय में श्रुतियों का अर्थ लक्षणावृत्ति का आश्रय लेकर स्वीकार किया है, जिससे उन्होंने ब्रह्म को निःशक्तिक एवं निर्विशेष कहा है। जीव ब्रह्म का अभेद स्थापन करना ही उनका लक्ष्य था। श्रुतियों में ब्रह्म-जीव की भेद-वाचक एवं अभे-दवाचक दोनों प्रकार की उक्तियां हैं, बल्कि एक श्रुति में ही दोनों भेद-वाचक और अभेद-वाचक उक्तियां देखने में आती हैं। ऐसे परस्पर विरोधी श्रुति-वाक्यों का समन्वय यथार्थ मीमांसा से सम्भव है। श्रीपाद शंकराचार्य ने अभेद–वाचक श्रुति-वाक्यों को तो तत्वनिर्णय करने वाली माना है, भेद-वाचक वाक्यों को नहीं। इस मत का पोषक सिवाय उनकी निजस्व युक्तियों के,दूसरा कोई भी श्रुति-प्रमाण नही है। परन्तु श्रीमहाप्रभु श्रीकृष्णचैतन्य ने दोनों प्रकार के श्रुति वाक्यों को समान प्रमाणित किया है। अतः अपना मत "**अचिन्त्य-भेदाभेद**" स्थापन किया है।

ब्रह्म सच्चिदानन्द, स्वप्रकाश एवं ज्ञानस्वरूप है—

पूर्वोक्त आलोचना से यह सिद्ध है कि ब्रह्म सर्ववृहत्तम वस्तु है। किन्तु ब्रह्म वस्तु क्या है? ब्रह्म का उपादान क्या है? इन प्रश्नों के उत्तर में श्रुति कहती है "**आनन्दं ब्रह्म**"। "**सत्-चित् आनन्द**"। बहुत श्रुतियों ने केवल "आनन्द" शब्द द्वारा ही परतत्व ब्रह्म को अभिहित किया है। अतः जाना जाता है, ब्रह्म का उपादान आनन्द है। "**आनन्दमयोऽभ्यासात्**"। सत् और चित् आनन्द के विशेषण स्थानीय हैं। सत्-शब्द सत्ता या अस्तित्व

बोधक है, अर्थात् जो आनन्द ब्रह्म का उपादान है, वह आनन्द सत् है—उसका भूत-भविष्यत्-वर्तमान तीनों कालों में अस्तित्व है। अतः वह आनन्द नित्य है। जगत् के आनन्द की तरह क्षणभंगुर— अनित्य नहीं। चित् शब्द चेतनता-अजड़ता का बोधक है,अर्थात् जो आनन्द ब्रह्म का उपादान है, वह आनन्द चेतन है। प्राकृत-आनन्द की तरह जड़ नहीं। चेतन अर्थात् वह आनन्द अपने आप को भी अनुभव कर सकता है एवं अपर को भी अनुभव करा सकता है। अतः वह स्वप्रकाश है। जो चेतन है और जिसमें अनुभव करने तथा कराने की शक्ति है, तथा जानने एवं ज्ञात कराने की शक्ति भी है, अतः वह आनन्दस्वरूप ब्रह्म ज्ञानस्वरूप भी सिद्ध होता है। वह आनन्दस्वरूप ब्रह्म स्वप्रकाश एवं ज्ञानस्वरूप है, जो एक मात्र नित्य वस्तु है। केवल सत् कहने से, केवल चित् कहने से, वही आनन्द स्वरूप ब्रह्म ही जाना जाता है। जो सत् है वही चित् वा आनन्द है। जो चित् है वही सत् व आनन्द है। और जो आनन्द है वही सत् व चित् है।

ब्रह्म के शक्तिविकाश में अनन्त-वैचित्री है। शक्ति-विकाश-वैचित्री का नित्यत्व है; एवं ब्रह्म विकारहीन है—

ब्रह्म की शक्तियों में जैसे अनन्त-वैचित्री है, वैसे शक्तियों के विकाश में भी अनन्त वैचित्री है। शक्ति विकाश-वैचित्री क्या है? विकाश की विभिन्न स्तरों का नाम विकाश-वैचित्री है। जैसे एक मनुष्य में कुल २० सेर बोझ उठाने की शक्ति हो, वह चार, पांच, एवं दस सेर बोझ भी उठा सकता है, यह सहज में जाना जा सकता है। परन्तु जितनी शक्ति २० सेर बोझ उठाने में लगती है, पांच सेर बोझ उठाने के लिये उससे कम अथवा शक्ति का कुछ अंश प्रयोग करना पड़ता है। दस सेर बोझ उठाने में पांच सेर के लिए प्रयोग की गई शक्ति की अपेक्षा कुछ अधिक शक्ति का, एवं २० सेर उठाने की कुल शक्ति की अपेक्षा कम शक्ति का प्रयोग करना होता है। अतएव यह जाना जाता है कि अंश एवं पूर्ण-शक्ति विकाश के पथ में एक न्यूनाधिक विभिन्न विकाश हैं। ब्रह्म की प्रत्येक शक्ति का परिमाण असीम है। उस असीमत्व पर्यन्त विकाश के पथ में प्रत्येक शक्ति के विभिन्न स्तर हैं, वही विभिन्न स्तर उस शक्ति की विभिन्न विकाश-वैचित्री है। परतत्व में उसकी प्रत्येक शक्ति का पूर्णतम विकाश है एवं वह विकाश नित्य

हैं। यदि ऐसा न हो तो ब्रह्म का परमत्व, पूर्णत्व, एवं नित्यत्व न रहेगा। प्रत्येक शक्ति का पूर्णतम-विकाश नित्य होने से विकाश की विभिन्न-स्तर एवं विकाश वैचित्री भी नित्य है, नहीं तो पूर्णतम विकाश का नित्यत्व न रहेगा। विशेषत: "नित्यत्व" ब्रह्म का स्वरूपगत धर्म है। इसलिए उसकी प्रत्येक शक्ति, प्रत्येक शक्ति का विकाश एवं विकाश की प्रत्येक वैचित्री तथा कार्य, ये समस्त नित्य ही हैं। स्वरूपगत धर्म स्वरूप के प्रत्येक अंश एवं प्रत्येक वैचित्री में विद्यमान रहता है, ब्रह्म की शक्ति, शक्ति–कार्य, एवं शक्ति–विकाश–वैचित्री नित्य होने से शक्ति के विकाशादि से ब्रह्म किसी भी रूप में विकृत नहीं होता। क्योंकि जो अवस्था पहले न हो, वह जब किसी वस्तु में आती है, तभी उस वस्तु में विकार आता है अन्यथा नहीं। एकाधिक शक्तियों की विभिन्न–विकाश–वैचित्री के मिलने से जो अशेषविध वैचित्री उद्भव होती है, वह भी नित्य है।

किसी शक्ति का विकाश, उस शक्ति के कार्य से सूचित होता है। ब्रह्म में शक्ति-विकाश की अनन्त-वैचित्री होने से उसके शक्ति-कार्य की वैचित्री भी अनन्त है एवं प्रत्येक कार्य–वैचित्री नित्य है। अत: शक्ति-कार्य द्वारा भी ब्रह्म विकृत नहीं होता।

शक्ति-क्रिया से ब्रह्म में सविशेषत्व है—

शक्ति की क्रिया से निर्विशेष वस्तु सविशेषत्व को प्राप्त होती है। जैसे कुम्हार की शक्ति से निर्विशेष मृत्तिका सविशेष घटादि में परिणत हो जाती है, ब्रह्मशक्ति की क्रिया-शीलता भी उसी तरह विशेषत्व उत्पन्न करती है। ब्रह्म की कोई एक शक्ति उसके स्वरूप पर भी प्रभाव विस्तार किये रखती है, उस शक्ति को **स्वरूपशक्ति** या **चित्‌शक्ति** अथवा **अन्तरङ्ग-शक्ति** भी कहते हैं। उस स्वरूपशक्ति की क्रिया से ब्रह्म का स्वरूप भी विशेषत्व को प्राप्त होता है। विशेष स्थल पर ब्रह्म आकार भी धारण करता है। इसलिए ब्रह्म की मूर्त व अमूर्त दो प्रकार की अभिव्यक्ति श्रुतियों में कही गई है।

ब्रह्म रसस्वरूप है—

ब्रह्म आनन्दस्वरूप है। स्वरूप शक्ति की क्रिया से वह जो समस्त विशेषत्व धारण करता है, वह समस्त आनन्द-वैचित्री है। ब्रह्म का आनन्द

चैतन्य है। ब्रह्म अपने आपका अनुभव कर सकने से अशेषविध आनन्द-वैचित्री की आस्वादन-वैचित्री भी अनुभव करता है। अतः ब्रह्म को श्रुति रस रूप कहती है। **"रसो वै सः"**। (तैत्ति २।७) रस शब्द के दो अर्थ हैं (१) **रस्यते** (आस्वाद्यते) **इति रसः** (२) एवं **रसयति** (आस्वादयति) **इति रसः**। जिसका आस्वादन किया जाता है, जैसे मधु, वह रस है और जो आस्वादन करता है जैसे भ्रमर, वह रस है, यह साधारण अर्थ है। किन्तु रसशास्त्र में विशेष उत्कर्षज्ञापक अर्थ में ही रस शब्द का प्रयोग हुआ है। रसशास्त्र में "चमत्कारित्व" ही रस का प्राण है। जिसमें चमत्कार नहीं, उसे रस नहीं कहा जा सकता। यथा:—

रसे सारश्चमत्कारो यं विनान रसो रसः।
तच्चमत्कारसारत्वे सर्वत्रैवद्भुतो रसः ॥१८॥

—अलंकार कौस्तुभ ५-७

अदृष्टपूर्व, अश्रुतपूर्व, एवं अननुभूतपूर्व किसी भी वस्तु के दर्शन से, सुनने से एवं अनुभव करने से मन में जो एक विस्मयात्मक-भाव का उत्पन्न होना है,उसे चमत्कारित्व (चमत्कृति)कहते हैं। वही चमत्कृति ही रस का सार है। किन्तु केवल उस चमत्कृति के रहने पर आस्वाद्य वस्तु को रस नहीं कहा जाता और भी एक वस्तु की आवश्यकता है; वह है-आस्वादन-चमत्कारित्व की अपूर्वता। आस्वादन-चमत्कारित्व का रूप यह है कि आस्वादन करने में बहिरिन्द्रिय एवं अन्तरिन्द्रिय दोनों ही का व्यापार उनके स्वाभाविक-कार्य में स्तम्भित हो जाये, समस्त इन्द्रियों की वृत्ति आस्वादन के चमत्कारित्व में केन्द्रीभूत होकर दूसरे विषय में ज्ञान-रहित हो जाये। आस्वाद्य-वस्तु जब ऐसा आस्वादन-चमत्कारित्व धारण करे, तब ही उसको रस कहा जाता है। अतः जिस वस्तु के आस्वादन में प्रतिक्षण चमत्कारित्व अर्थात् नित्य नव-नवायमानत्व अनुभव हो, जिसके आस्वादन में प्रतिक्षण यह प्रतीत हो कि ऐसा अपूर्व-माधुर्य पहले कभी अनुभव नहीं हुआ एवं जिसके आस्वादन में कभी वितृष्णा तो हो ही न, वरं प्रति महूर्त आस्वादन-पिपासा केवल वर्द्धित ही होती जाये तथा जिसके आस्वादन-चमत्कारित्व की अधिकता में अन्तरिन्द्रियों एवं बहिरिन्द्रियों का अन्य-समस्त व्यापार स्तम्भित हो जाये, उसे **"आस्वाद्य-रस"** कहते हैं। उक्त रूप आस्वाद्य-रस आस्वादन कर, जो प्रति महूर्त नव-नवायमान माधुर्य अनुभव कर सकता है, जिसकी आस्वादन-

स्पृहा स्तिमित न होकर प्रतिमहूर्त वर्द्धित हो होती जाये, उसे "रस--आस्वादक" या "रसिक" कहते हैं।

ब्रह्म रसस्वरूप में आस्वाद्य तथा आस्वादक है—

प्राकृत काव्यामृतरस में अथवा दूसरे प्राकृत-वस्तुजात रसों में रसत्व का पूर्ण विकाश नहीं है; कारण कि वहां अनर्गल-अबाध चमत्कृति का विकाश नहीं है। नित्य नव-नवायमानत्व नहीं है, महूर्त प्रति महूर्त वर्धन-शीला रसास्वादन-पिपासा भी नहीं है। उनका नित्यत्व भी नहीं है। ब्रह्म अप्राकृत-वस्तु है, नित्य वस्तु है। रसत्व का पूर्णत्व एवं नित्य विकाश ब्रह्म में ही सम्भव है। ब्रह्म ही रसरूप से आस्वाद्य एवं रसरूपसे आस्वादक-रसिक है। यह रसत्व ब्रह्म का एक स्वरूपगत गुण या धर्म होने से उसकी समस्त वैचित्री में विद्यमान है—अर्थात् उसकी समस्त वैचित्री आस्वाद्य रस है, एवं समस्त वैचित्री आस्वादक-रसिक है। शक्ति-विकाश के तारतम्य अनुसार आस्वाद्यत्व में तारतम्य रहना आवश्यक है।

यह पहले कहा जा चुका है कि ब्रह्म आनन्दस्वरूप है, एवं ब्रह्म में स्वाभाविकी-शक्ति है। अतः स्वाभाविकी-शक्ति युक्त आनन्द ही ब्रह्म है। आनन्द विशेष्य है और शक्ति उसका विशेषण है। विशेषण, विशेष्य को वैशिष्ट्य प्रदान करता है अर्थात् आनन्द की शक्ति आनन्दको वैशिष्ट्य देने वाली है। ब्रह्म का आनन्द चेतन-चिदानन्द है, और उसकी स्वाभाविकी स्व-रूपभूता शक्ति भी चेतनामयी—चित्-शक्ति है। अतः वह शक्ति आनन्द को भी वैशिष्ट्य दान कर सकती है एवं स्वयं भी वैशिष्ट्य धारण कर सकती है।

रसत्व के सम्बन्ध में उस स्वाभाविकी स्वरूपशक्ति की दो रूपों से वैशिष्ट्य-प्राप्ति है। एक रूप से वह आनन्द को आस्वाद्य करती है एवं दूसरे रूप से वह आनन्द को आस्वादक बनाती है। दोनों रूपों से आनन्द की एवं अपनी भी अनन्त वैचित्री सम्पादन करती रहती है। एक दृष्टान्त द्वारा इस विषय को परिस्फुट करते हैं।

(आस्वाद्यत्व-जनयित्री अभिव्यक्ति---)

मिष्टत्व मीठे द्रव्य का विशेषण या शक्ति है। मिष्टत्व की अनेक वैचित्री है। गुड़ का मिष्टत्व, चीनी का मिष्टत्व, मिश्री का मिष्टत्व और

इसीप्रकार फलमूलादि का अनेकप्रकार का मिष्टत्व है। किन्तु यह मिष्टत्व एक जैसा नहीं है। हर एक वस्तु का मिष्टत्व पृथक् पृथक् है, इसी का नाम मिष्टत्व-वैचित्री है। गुड़, चीनी आदि का विभिन्न-उपादान एक ही त्रिगुण-आत्मिका माया की परिणति है। श्रीभगवान् की चेतनामयी शक्ति के योग से गुणमयी माया इन समस्त विविध उपादानरूपों में परिणत होती है। अतः इन समस्त विभिन्न वस्तुओं के विभिन्न उपादानों को त्रिगुणात्मिका-माया की विभिन्न परिणाम-वैचित्री कहा जाता है। जैसे इन समस्त विभिन्न उपादानों के योग से एक ही मिष्टत्व विभिन्न-वैचित्री धारण कर विभिन्न मिष्ट पदार्थों को वैशिष्ट्य प्रदान करता है एवं आप भी विभिन्न वैचित्री धारण करता है। उसी प्रकार एक ही स्वरूपतःआस्वाद्य आनन्द स्वरूप ब्रह्म अपनी स्वरूपशक्ति की विभिन्न वैचित्री के योग से विभिन्न आस्वादन-चमत्कारित्व धारण कर रसरूप में परिणत होता है। विभिन्न आस्वादन-चमत्कारिता का नाम विभिन्न रस-वैचित्री है एवं समग्र रस-वैचित्री का समुदाय ही 'आस्वाद्य–रसतत्व' है।

आस्वादकत्व-जनयित्री अभिव्यक्ति—

आस्वादकत्व-जनयित्रीरूप से भी वह स्वरूप-शक्ति चेतन-आनन्द में आस्वाद्य-रस की आस्वादन-वासना जाग्रत कर उसको आस्वादक(रसिक) बनाये रखती है एवं अनन्तरस-वैचित्री के आस्वादन करने के लिये अनन्त वासना-वैचित्री उत्पन्न कर उस आनन्द स्वरूप ब्रह्म में अनन्त आस्वादकत्व वैचित्री का प्रकाश करती है। इस समस्त अनन्त आस्वादकत्व-वैचित्री के समुदाय को 'आस्वादक-रसतत्व' कहते हैं।

आस्वाद्य-रसतत्व एवं आस्वादक-रसतत्व का समवाय अर्थात् सम्मिलित समूह ही पूर्ण-रसतत्व है। अनादिकाल से ही ये दोनों रसतत्व ब्रह्म में विद्यमान हैं। क्यों कि शक्ति की क्रिया से ब्रह्म में रसत्व है। अनादिकाल से स्वरूपशक्ति अविच्छेद्यरूप से ब्रह्म में विराजती है; अतएव शक्ति की क्रियाशीलता, क्रियाशक्ति के फलस्वरूप अनन्त शक्तिविलास-वैचित्री एवं शक्ति विलास-वैचित्री के साथ आनन्द के एवं आनन्द-विलास-वैचित्री के संयोग में भी अविच्छेद्यरूप से ब्रह्म अनादिकाल से नित्य विराजित है। तत्व को बोधगम्य कराने के उद्देश्य से ही 'वैशिष्ट्य-प्राप्ति' 'अभिव्यक्ति'

आदि" शब्दों का प्रयोग किया गया है। वस्तुतः अभिव्यक्त, अनन्त वैचित्र्य इत्यादि के रूप से शक्ति और आनन्द नित्य विराजित हैं। अतः अनादिकाल से सशक्तिक आनन्द-स्वरूप ब्रह्म रसतत्वरूप से अर्थात् आस्वाद्य तथा आस्वादकरूप से नित्य विराजित है।

शक्तिविकाश से ब्रह्म में भगवत्ता, शिवत्व एवं सौन्दर्य है—

ब्रह्म की जिस समस्त वैचित्री में शक्ति का विकाश है, उस समस्त वैचित्री में ऐश्वर्य (स्वेतर-निखिलस्वामित्व), माधुर्य (सर्वावस्था में चारुता), कृपा (अहैतुकी भाव से परदुःख निवारणेच्छा), तेज (काल-माया आदि का अभिभवकारी प्रभाव), सर्वज्ञता, भक्तवात्सल्य एवं भक्तवश्यता आदि गुणों की भी अभिव्यक्ति है। इस सब वैचित्री को भगवान् कहा जा सकता है। जहाँ शक्ति या गुणों का विकाश जितना अधिक है वहां भगवत्ता का विकाश भी उतना अधिक है। ब्रह्म के इन अशेष कल्याण-गुणों के आकरत्व अथवा सौन्दर्य-माधुर्यादि को अनुभव कर ऋषिगणों ने उसको **"सत्यं शिवं सुन्दरम्"** कहा है। उसका यह शिवत्व, मंगलमयत्व एवं सौन्दर्य-माधुर्य नित्य ही है।

ब्रह्म भावनिधि है—

शक्ति-विकाश से ब्रह्म की अनन्त स्वरूप-वैचित्री है तथा अनन्त रस-वैचित्री, अनन्त भगवत्ता-वैचित्री, अनन्त कल्याणगुण-वैचित्री, अनन्त सौन्दर्य-माधुर्य-वैचित्री एवं अनन्त ऐश्वर्य-वैचित्री है, इनसे उसकी अनन्त भाव-वैचित्री का परिचय मिलता है। अतः ब्रह्म भाव-निधि है।

अनन्त भगवत्स्वरूप ब्रह्म की अनन्त रस-वैचित्री एवं अनन्त भाव-वैचित्री के मूर्तरूप हैं—

प्राकृत जगत् में हम देखते हैं कि निपुण मनुष्य अङ्ग-भङ्गी आदि के द्वारा अनेक भावों को बहुत कुछ प्रकाशित कर सकता है। किन्तु मनुष्य के अङ्गादि विभिन्न उपादानों से बने हुए होने के कारण तथा कोई कोई उपादान किसी भाव को प्रकाश करने की उपयुक्त भङ्गी को ग्रहण करने में असमर्थ या अननुकूल होने के कारण मनुष्य उस भाव को सम्यक्रूप से प्रकाशित नहीं भी कर सकता, अर्थात् मनुष्य प्रत्येक भाव का मूर्तरूप ग्रहण

नहीं कर सकता, किन्तु ब्रह्म आनन्दस्वरूप है, नित्य चैतन्य है। अत: वह अपने समस्त भावों को सम्यक् प्रकार प्रकाश करने में समर्थ है। स्वरूप-शक्ति के प्रभाव से आनन्द-स्वरूप ब्रह्म अनायास ही विभिन्न भाव-वैचित्री का, विभिन्न रस-वैचित्री का,भगवत्ता-वैचित्री का,अनन्त कल्याणगुण-वैचित्री का एवं माधुर्य-वैचित्री का मूर्तरूप ग्रहण कर सकता है। समस्त मूर्तरूप-वैचित्री ब्रह्म की अनन्त स्वरूप-वैचित्री ही कही जाती है। श्रीनारायण, श्रीराम, श्रीनृसिंह श्रीगिरिधारादि अनन्त भगवत्स्वरूप ब्रह्म की अनन्त मूर्तरूप-वैचित्री ही हैं।

ब्रह्म अव्यक्तशक्तिक है——

ब्रह्म के शक्ति-विकाश के तारतम्यानुसार उसके अनन्त स्वरूपों की अभिव्यक्ति है। इसलिये उन समस्त स्वरूपों में एक ऐसा स्वरूप है जिसमें शक्ति-समूह का न्यूनतम प्रकाश है, साथ ही और एक ऐसा स्वरूप भी है, जिसमें समस्त शक्तियों एवं समस्त शक्ति-वैचित्री आदि का पूर्णतम प्रकाश है। प्रथमोक्त स्वरूप को अर्थात् न्यूनतम शक्ति-अभिव्यक्त स्वरूप को साधारणत: "**ब्रह्म**" कहा जाता है। यह स्वरूप व्यापकता-सच्चिदानन्दत्व में वृहत्वस्तु भले है; किन्तु शक्ति में वृहत् नहीं है। स्वरूप में पूर्ण है; किन्तु शक्ति एवं शक्ति-विकाश में पूर्ण नहीं है। इस स्वरूप को निर्विशेष-निराकार कहते हैं। कारणकि इस स्वरूप में शक्ति होते हुए भी शक्ति का विकाश नहीं है; शक्ति-विकाश के बिना रूप-गुणादि का विशेषत्व भी असम्भव है। किन्तु इस स्वरूप को सर्वथा शक्ति रहित नहीं कहा जायगा, क्यों कि शक्ति ब्रह्म का स्वरूपगत-धर्म है। वह शक्ति ब्रह्म के सब स्वरूपों में विद्यमान रहती है। इस स्वरूप का भी अस्तित्व है, इसलिए अस्तित्व रक्षा करने की शक्ति भी इस में है। यह स्वरूप आनन्दमय है, इसलिए आनन्दमयत्व अनुभव कराने की शक्ति इस में है ही। किन्तु सत्तामात्र रक्षा करने के लिए एवं स्वरूपानन्द-मात्र अनुभव कराने एवं करने के लिये जितनी शक्ति का प्रयोजन है, उतनी ही शक्ति इस में है। उसके अतिरिक्त शक्ति का विकाश इसमें नहीं है। अत: ब्रह्म को नि:शक्तिक न कहकर "अव्यक्त-शक्तिक" कहना ही सङ्गत है। अनुभव-योग्य विशेषत्व का विकाश न होने से साधारणत: इसे निर्विशेष कहा गया है "**ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहं**" श्रीगीता-वाक्य में इसी अव्यक्त-शक्तिक ब्रह्म का वर्णन है।

श्रीकृष्ण परब्रह्म हैं—

जिस स्वरूप में शक्ति आदि की पूर्णतम अभिव्यक्ति है, उसमें ब्रह्म के ब्रह्मत्व का पूर्णतम विकाश है। वस्तुतः ब्रह्मत्व का पर्यावसान भी उसी स्वरूप में है, जिसमें शक्ति का, शक्तिकार्य का, कल्याणगुण-गणों का, सौन्दर्य का, माधुर्य का, भगवत्ता का एवं ऐश्वर्य का पूर्णतम विकाश है, उस स्वरूप को परब्रह्म कहा जाता है—वह पूर्णतम स्वरूप है। उसी में रसत्व का अर्थात् आस्वाद्यत्व एवं रसिकत्व का पूर्णतम विकाश है। उसी पूर्णतम स्वरूप को अर्थात् परब्रह्म को **श्रीकृष्ण** कहा जाता है। यथा—

कृषिर्भू वाचकशब्दो णश्च निर्वृतिवाचकः ।
तयोरैक्यं परं ब्रह्म कृष्ण इत्यभिधीयते ॥

सर्वाकर्षक परमानन्दस्वरूप परब्रह्म श्रीकृष्ण हैं। गोपालतापनी श्रुति (उ, ता, ९४) में श्रीकृष्ण-पूजा मन्त्र में श्रीकृष्ण को परब्रह्म कहा गया है :—"**ॐ योऽसौ परं ब्रह्म गोपालः ॐ**" श्रीकृष्ण परब्रह्म हैं,यह बात अनेक श्रुतियों द्वारा सिद्ध है।

परमात्मा एवं अन्यान्य भगवत्स्वरूप। ईश्वर एवं भगवान्। श्रीकृष्ण परमेश्वर, स्वयं भगवान् एवं परतत्व हैं—

निर्विशेष-ब्रह्म एवं परब्रह्म—श्रीकृष्ण, इनके मध्यवर्ती जितने स्वरूप हैं, वे सब श्रीकृष्ण की तरह सविशेष हैं, साकार हैं। उन सविशेष-स्वरूपों में जिस स्वरूप में सर्वापेक्षा न्यून शक्ति का विकाश है, वह योगियों का ध्येय "**परमात्मा**"है—वह साकार है; किन्तु लीला-विलासोपयोगिनी-शक्ति का विकाश उसमें नहीं है। अन्यान्य समस्त सविशेष साकार स्वरूपों में लीला-विलासोपयोगिनी-शक्ति का विकाश है। श्रीराम-नृसिंह-नारायण-संकर्षण आदि में परमात्मा की अपेक्षा अधिक एवं श्रीकृष्ण की अपेक्षा कम शक्ति का विकाश है। इनमें ईश्वरत्व एवं भगवत्ता का विकाश है। अतः ये सब "**ईश्वर एवं भगवान्**" हैं। शक्ति विकाश के तारतम्यानुसार इन में भी ईश्वरत्व एवं भगवत्ता का तारतम्य है। किन्तु श्रीकृष्ण में शक्ति आदि की पूर्णतम अभिव्यक्ति होने से उनमें ईश्वरत्व एवं भगवत्ता का पूर्णतम

विकाश है। इसलिए वे "**परम-ईश्वर एवं स्वयं भगवान्**" हैं। "**कृष्णस्तु भगवान् स्वयं**" श्रीमद्भागवत्, १-३-२८ ॥

और भी कहा है:—

ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्दविग्रहः।
अनादिरादिर्गोविन्दः सर्वकारण-कारणम् ॥

ब्रह्मसंहिता ५-१

श्रीकृष्ण परम ईश्वर हैं, सच्चिदानन्द विग्रह हैं, अनादि हैं अथच सब के आदि हैं। वे गोविन्द एवं समस्त कारणों के कारण हैं।

श्रीचैतन्यचरितामृत १-२-५ में भी कहा गया है:—

स्वयं-भगवान् कृष्ण, कृष्ण परतत्व।
पूर्णज्ञान, पूर्णानन्द, परममहत्व ॥

श्रीकृष्ण स्वयं भगवान्, परतत्व (मूलतत्ववस्तु) हैं। श्रीकृष्ण पूर्णतम ज्ञानतत्व, पूर्णानन्द स्वरूप एवं परमश्रेष्ठवस्तु—विभुवस्तु हैं।

परब्रह्म-श्रीकृष्ण निर्विशेष ब्रह्म की प्रतिष्ठा हैं—

निर्विशेष ब्रह्म परब्रह्म-श्रीकृष्ण का न्यूनतम शक्ति-विकाशमय एक वैचित्र्य है। श्रीकृष्ण भगवान् ने श्रीगीता में अर्जुन से कहा है—"**ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्**—मैं ब्रह्म की प्रतिष्ठा हूँ।" मण्डुकोपनिषद् में भी ईश्वर-पुरुष को ब्रह्मयोनि (ब्रह्म का हेतुभूत) कहा गया है:—"**यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनीम् ॥**" १-३-१

परब्रह्म श्रीकृष्ण एक रूप में ही बहु रूप हैं—

परब्रह्म श्रीकृष्ण अपने अचिन्त्य शक्ति-प्रभाव से एक स्वरूप से समस्त-वैचित्री को धारण करते हैं। अतः एक होने पर भी अनेक रूपों में प्रतिभात होते हैं। "**एकोऽपि सन् यो बहुधा विभाति।**" (गोपालतापनी श्रुति पूः २०)। एकरूप से जैसे वे बहुरूप-बहुमूर्ति हैं वैसे ही बहुरूप-बहुमूर्ति होते हुए वे एकरूप-एकमूर्ति हैं। पहले कहा जा चुका है कि ब्रह्म अनन्त-भावनिधि है। विभिन्न भगवत्-स्वरूप परब्रह्म श्रीकृष्ण के विभिन्न भावों के ही मूर्त्तरूप

हैं। विभिन्न भाव जैसे भावनिधि-श्रीकृष्ण के निज स्वरूप या विग्रह में विराजमान हैं, वैसे उन भावों के मूर्तरूप विभिन्न भगवत्-स्वरूप भी श्रीकृष्ण के विग्रह में विराजमान हैं। श्रीकृष्ण-विग्रह के बाहर कुछ भी नहीं है, न ही रह सकता है। क्योंकि ब्रह्म सर्वव्यापक है। जैसे मोर के शरीर के वर्ण-विशेष में अनेक वर्णों का समवाय है; तथा भिन्न भिन्न स्थानों पर उसके शरीर को देखने से भिन्न भिन्न वर्ण भी दीखने में आते हैं। किन्तु वे समस्त भिन्न भिन्न वर्ण उस मोर के शरीर के एक वर्ण-विशेष के ही अन्तर्गत हैं, उसी प्रकार परब्रह्म श्रीकृष्ण की विभिन्न-वैचित्री या विभिन्न-भगवत्-स्वरूप स्थल-विशेष में भिन्न भिन्न प्रतीत होते हुए भी उनके निजस्वरूप में अन्तर्भुक्त हैं। साधन के भेद से भगवत्-स्वरूपों की अनुभूति में भेद है। ब्रह्म (निर्विशेष), आत्मा (परमात्मा) और भगवान् ये तीनों एक श्रीकृष्ण के ही वैचित्री-स्वरूप हैं। एक ही तत्व ज्ञानमार्ग के उपासकों के निकट निर्विशेष ब्रह्मरूप से, योगमार्ग के उपासकों के निकट परमात्मारूप से एवं भक्तिमार्ग के उपासकों के निकट भगवान्-रूप से प्रतिभात होता है। श्रीकृष्ण ने अपने पार्थ-सारथी-विग्रह में अर्जुन को विश्व—रूप दिखाया, और इसी कलियुग में श्रीकृष्णचैतन्य-विग्रह में भिन्न भिन्न समय पर भक्तों ने विभिन्न भगवत्स्वरूपों का दर्शन किया है। अतः विभिन्न भगवत् स्वरूपों में स्वरूपतः भेद मानना तत्व का एवं सत्य का अपलाप है, जो अपराधजनक भी है:—

"ईश्वरत्वे भेद मानिले हय अपराध ॥"

श्रीचै० च० २-६-१४०

ब्रह्म का स्वरूप सत्-चित्-आनन्दमय, नित्य, शाश्वत एवं पूर्ण है, सर्वग, अनन्त, विभु है। इसलिए शक्ति-विकाश के तारतम्य होने पर भी परब्रह्म के अनन्त भगवत्-स्वरूप सब ही सर्वग, अनन्त, विभु, नित्य एवं शाश्वत हैं—जैसे क्षुद्र जलकण में भी जल का स्वरूप धर्म अग्निनिर्वापकत्व सदा रहता है उसी प्रकार परब्रह्म के अनन्त स्वरूपों में प्रत्येक स्वरूप ही परब्रह्म की तरह व्यापक, अनन्त एवं श्रीकृष्णतनु के समान विभु है।

श्रीकृष्ण अंशी हैं—

न्यून-शक्ति पूर्ण-शक्ति का अंश होती है। विभिन्न भगवत्-स्वरूपों में परब्रह्म श्रीकृष्ण की अपेक्षा न्यून-शक्ति का विकाश है तथा श्रीकृष्ण में

शक्ति का पूर्णतम विकाश है। अत: अन्य समस्त भगवत्-स्वरूप श्रीकृष्ण की तरह सर्वग, अनन्त विभु होते हुए भी शक्ति का आंशिक-विकाश होने के कारण अंश कहे गये हैं। श्रीकृष्ण में पूर्णतम शक्ति-विकाश होने से श्रीकृष्ण को उन समस्त का अंशी कहा गया है। स्वयं भगवान्-परब्रह्म यदृच्छाक्रम से नाना शक्तियों का प्रकाश कर सकते हैं, किन्तु अंशरूप ऐसा नहीं कर सकते—इतना पार्थक्य है।

श्रीकृष्ण सगुण एवं निर्गुण हैं--

प्रकृति के सत्व, रज:, तम से उत्पन्न हुए गुणों को प्राकृतगुण कहा जाता है। संसारासक्त जीवों में एकमात्र प्राकृतगुण ही रहते हैं। क्यों कि स्वरूप-शक्ति जीव में नहीं है। स्वरूप-शक्ति के विलासभूत समस्त अप्राकृत-गुण केवलमात्र श्रीभगवान् में ही रहते हैं। भगवान् के साथ प्राकृत गुणों का स्पर्श नहीं है, न ही वे उनमें रह सकते हैं। अत: भगवान् को निर्गुण कहा गया है। श्रुतियों में जहां भी निर्गुण शब्द का प्रयोग है वहां—**निर्गुणश्चेति अत्र गुणासत्वादय:**—सत्व-रज:-तम प्राकृतगुण-रहित होने से ही अभिप्राय है और सगुण कहने से स्वरूप-शक्ति के अप्राकृत गुणों सहित जानना ही अभिप्रेत है।

श्रीकृष्ण अद्वय-ज्ञानतत्व हैं--

"अद्वय ज्ञान-तत्ववस्तु कृष्णेर स्वरूप"

श्रीचै० च० १-२-५३

अद्वय अर्थ द्वितीय-हीन, अर्थात् जो एकमात्र स्वयंसिद्ध तत्व है, जिसके व्यतीत और कोई स्वयंसिद्ध तत्व नहीं है, उसे **अद्वय-तत्व**—अर्थात् भेदशून्य-तत्व कहते हैं। श्रीकृष्ण तीन प्रकार के (सजातीय, विजातीय, स्वगत) भेदों से रहित है।

समस्त भगवत्-स्वरूप परब्रह्म श्रीकृष्ण के सजातीय हैं, आम के, जामन के वृक्ष में, वृक्ष वृक्षका जो भेद है, वह सजातीय भेद है, किन्तु परब्रह्म श्रीकृष्ण एवं अन्यान्य भगवत्-स्वरूपों में इस प्रकार का भेद नहीं है। क्यों कि अन्य भगवत्-स्वरूप श्रीराम-नृसिंह-नारायणादि भी श्रीकृष्ण से पृथक् तत्व नहीं हैं। उनकी सत्ता श्रीकृष्ण की सत्ता की ही अपेक्षा रखती है। अत:

परब्रह्म श्रीकृष्ण में स्वयं-सिद्ध सजातीय भेद नहीं है।

विभिन्न जातीय वस्तुओं का जो परस्पर भेद है, उसे विजातीय-भेद कहते हैं। श्रीकृष्ण चित्—चैतन्य जातीय हैं और प्राकृत ब्रह्माण्ड जड़-जातीय हैं। किन्तु जड़-जातीय प्राकृत ब्रह्माण्ड तथा चित्-जातीय श्रीकृष्ण-परब्रह्म का परस्पर विजातीय-भेद नहीं है। कारण कि ब्रह्माण्ड की सत्ता भी श्रीकृष्ण सत्ता की अपेक्षा रखती है। विशेषतः ब्रह्माण्ड तो श्रीकृष्ण की मायाशक्ति की परिणति है, शक्ति एवं शक्तिमान का भेदाभेद सम्बन्ध होने से ब्रह्माण्ड तथा श्रीकृष्ण से स्वयं सिद्ध विजातीय-भेद नहीं हो सकता। अणुचैतन्य-जीव श्रीकृष्ण की अपेक्षा रखने से एवं श्रीकृष्ण की जीवशक्ति होने से स्वयंसिद्ध नहीं है। अतः श्रीकृष्ण विजातीय-भेद से रहित हैं।

स्वगत-भेद मुख्यतः देह-देही भेद को कहते हैं। जीव की देह है जड़ एवं देही जीव-आत्मा है चैतन्य। इसलिए जीव में देह और देही दो भिन्न वस्तुएं हैं। किन्तु श्रीकृष्ण एवं अन्यान्य भगवत्स्वरूप सच्चिदानन्द-स्वरूप हैं, चिदानन्दघन विग्रह हैं। इनमें देह और आत्मा पृथक्-पृथक् नहीं हैं—एक ही हैं। जैसे चीनी की पुतली सर्वत्र चीनी ही है, तद्रूप। भगवान् श्रीकृष्ण का सब कुछ आनन्द ही है। श्रीकृष्ण का विग्रह, यह जो कहा जाता है वह केवल भाषा का प्रयोग मात्र है, उपचार वशतः ऐसा कहा जाता है, वस्तुतः जो देह है वही देही है। श्रीकृष्ण में देह-देही भेद न रहने का एक अद्भुत प्रभाव यह है कि इनके विग्रह का हर एक अंश हर एक इन्द्रिय की शक्ति धारण करता है। जीव का शरीर पृथ्वी–अप–तेज वायु आदि पंचभूतों से निर्मित है और वे पंचभूत भी सर्वत्र समान परिमाण में नहीं रहते। आंख में तेज का परिमाण अधिक है, जिससे वह देखती है। कान में आकाश का परिमाण अधिक है जिससे वह सुनता है आंख सुन नहीं सकती , कान देख नहीं सकता। किन्तु श्रीकृष्ण तथा अन्यान्य भगवत्-स्वरूपों में आनन्द के विना कुछ है ही नहीं। इनके विग्रह में एक ही वस्तु—आनन्द एक ही परिमाण में अवस्थित है। और वह आनन्द–चेतन–ज्ञानस्वरूप है। अतः इनके विग्रह का हर एक अंश हर इन्द्रिय की शक्ति रखता है। श्रीकृष्ण-विग्रह में नेत्र, कानादि का जो भेद दीखता है, वस्तुतः वह भी नहीं है—उपचारिक मात्र है।

भगवान् के विभिन्न गुणादि भी इनमें स्वगत भेद नहीं है। क्योंकि

वे सशक्तिक आनन्द स्वरूप हैं। शक्ति आनन्द से पृथक् नहीं की जा सकती। अतएव परब्रह्म श्रीकृष्ण स्वयंसिद्ध—सजातीय-विजातीय स्वगतभेद-शून्य अद्वय-ज्ञानतत्व हैं।

श्रीकृष्ण सर्वकारण-कारण हैं —

सच्चिदानन्द-विग्रह श्रीकृष्ण अनादि हैं किन्तु अन्य समस्त के आदि हैं। सर्वकारण-कारण हैं। "ईश्वरः परमः कृष्णः।" श्रीमद्गीता (७-६) में श्रीकृष्ण ने अर्जुन से भी कहा है—"**अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा** अर्थात् मैं सम्पूर्ण जगत् का उत्पत्ति तथा प्रलयरूप—मूल कारण हूँ।

और भी कहा है। श्रीमद्गीता (७-७ वा १०)

मत्तः परतरं नान्यत्किञ्चिदस्ति धनञ्जय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव॥
"बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्।"

हे अर्जुन मेरे सिवाय किञ्चित्मात्र भी दूसरी वस्तु नहीं है। यह समस्त जगत् सूत्र में (सूत्र की) मणियों के सदृश मेरे में गुंथा हुआ है। "हे पार्थ! तू सम्पूर्ण भूतों का सनातन-कारण मुझे ही जान।" इन शास्त्र प्रमाणों से स्पष्ट है कि श्रीकृष्ण सर्वकारण-कारण हैं।

श्रीकृष्ण आश्रय-तत्व हैं—

श्रीकृष्ण आश्रय-तत्व हैं एवं अन्य-समस्त इनके आश्रित-तत्व हैं। यह बात श्रीगीता में स्वयं भगवान् ने कही है—"**मत्स्थानि सर्व भूतानि**" (९-४) गोपालतापनी श्रुति में "**सर्वभूताधिवासः**" (उ. भा. ९७) पद श्रीकृष्ण के सर्वाश्रयत्व का ही ज्ञापक है। श्रीकृष्ण ने अपने विश्वरूप में (श्रीगीता अ० ११) अर्जुन को यह दिखाया ही है कि वे सर्वाश्रय हैं।

परब्रह्म श्रीकृष्ण नराकृति हैं—

विष्णुपुराण में कहा गया है:—

यत्रावतीर्णं कृष्णाख्यं परब्रह्म नराकृतिम् (४-११-२)। —इस प्रमाण से ज्ञात होता है कि परब्रह्म श्रीकृष्ण नराकृति हैं अर्थात् द्विभुज, द्विपद, एक-मस्तक, द्विचक्षुः एवं द्विकर्ण हैं।

गोपालतापनी श्रुति (पू० २-१) कहती है—

सत्पुण्डरीकनयनं मेघाभं वैद्युताम्बरम् ।
द्विभुजं ज्ञानमुद्राढ्यं वनमालिनमीश्वरम् ॥

—वह परब्रह्म कमल-नयन, नवमेघवर्ण, पीतवसन, द्विभुज, ज्ञानमुद्रायुक्त वनमाली एवं ईश्वर है। इन प्रमाणों से परब्रह्म नराकृति सिद्ध होता है।

श्रीकृष्ण लीलामय हैं—

"लोकवत्तु लीला कैवल्यम्" इस वेदान्त सूत्र से ज्ञात होता है कि परब्रह्म श्रीकृष्ण लीलामय हैं—अर्थात् खेल-क्रीड़ा करते हैं। किसी कार्य-सिद्धि का संकल्प लेकर क्रीड़ा में उनकी प्रवृत्ति नहीं है। जैसे छोटा शिशु आनन्द के उच्छ्वास से खेल में प्रवृत्त होता है, वैसे केवल आनन्द भोग के लिये ही उनकी लीला है। आनन्द स्वरूप श्रीकृष्ण आनन्द की प्रेरणा से आनन्दास्वादन के लिये ही लीला करते हैं। रसिक-शेखर श्रीकृष्ण की रसास्वादन-स्पृहा ही लीला की प्रवर्तक है। रस आस्वादन के निमित्त परब्रह्म श्रीकृष्ण की लीला अपने स्वरूप में अनुष्ठित है एवं विभिन्न भगवत्स्वरूपों में अर्थात् अनन्त रस-वैचित्री के मूर्त्तरूप अनन्त भगवत्स्वरूपों में भी अनुष्ठित है।

श्रीकृष्ण लीलापुरुषोत्तम हैं—

गोपालतापनी श्रुति (पू०-३) में कहा गया है—**"कृष्णो वै परमं दैवतम् ।"** श्रीकृष्ण परम देवता हैं। दिव धातु से देवता या दैवत शब्द निष्पन्न है। दिव-धातु का अर्थ है क्रीड़ा या लीला, देवता का अर्थ है लीलाकारी या या लीला-परायण। परमदेवता शब्द का अर्थ है—श्रेष्ठ लीला-परायण—लीलापुरुषोत्तम अर्थात् लीलापरायण समस्त भगवत्-स्वरूपों से जिनकी लीला सर्वातिशायी है। श्वेताश्वर श्रुति में कहा गया है—**"तमीश्वराणां परमं तं देवतानां पवश्च दैवतम् ॥**—अर्थात् परब्रह्म श्रीकृष्ण लीलाकारियों में सर्वश्रेष्ठ लीलाकारी हैं। अतः श्रीकृष्ण लीलापुरुषोत्तम हैं। अर्थात् श्रीकृष्ण की लीला में जैसा असमोर्ध्व माधुर्य स्फुरित होता है, और

किसी भी भगवत्-स्वरूप की लीला में उस प्रकार का माधुर्य स्फुरित नहीं होता।

लीला एकाकी सिद्ध नहीं होती—साथी चाहिये। भगवान् की लील के साथियों को "परिकर" कहते हैं। लीला करने के लिए स्थान भी चाहिये—लीला-स्थान को कहते हैं "धाम"।

धाम—ब्रह्म के धाम की बात भी श्रुतियों में देखने को मिलती है। मुण्डकोपनिषद् (२-२-७) कहता है—"**भुवि दिवे ब्रह्मपुरे ह्येष व्योम्न्यात्मा प्रतिष्ठितः ॥**—ब्रह्म ब्रह्मपुर में (ब्रह्म धाम में) व्योम अर्थात् परव्योम में विराजता है। **स भगवः कस्मिन प्रतिष्ठितः इति। स्वे महिम्नीति।**—वे भगवान् कहां रहते हैं? अपनी महिमा में। अपनी महिमा से उनकी स्वरूप-शक्ति की महिमा का ही तात्पर्य है। उनकी स्वरूप-शक्ति की वृत्ति-विशेष ही उनका धाम है। श्रीमद्गीता (१५-६) में भी भगवद्-धाम का उल्लेख हैं—'**यद्गत्वा न निवर्त्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥** श्रीकृष्ण कहते हैं, जहाँ पहुँच कर फिर संसार में नहीं आना पड़ता है, वही मेरा परम धाम है।

गोपालतापनी श्रुति (यू० ता० ३५) में परब्रह्म श्रीकृष्ण के धाम श्रीवृन्दावन का भी स्पष्ट उल्लेख है— '**तमेकं गोविन्दं सच्चिदानन्द विग्रह पञ्चपदं वृन्दावनसुरभूरुहतलासीनं सततं समरुद्गणोऽहं परमया स्तत्या तोषयामि।**

ऋग्वेद (१५४-६) में भी श्रीवृन्दावन धाम का स्पष्ट उल्लेख है—**यत्रगावो भूरिश्रृङ्गा अयासः। अत्राह तदुरुगायस्य कृष्ण परमं पदमवभाति भुवि**" —इस वेद-वाक्य से दीर्घ सींगों वाली गौओं से युक्त उरुगाय श्रीकृष्ण के परम पद अर्थात् परम धाम—श्रीवृन्दावन का परिचय मिलता है।

परिकर—पुराणों में भगवत्-परिकरों के सम्बन्ध में अनेक उक्तियां हैं। गोपालतापनी में रुक्मिणी, व्रजाङ्गना आदि परिकरों का उल्लेख है। "**कृष्णात्मिका जगत्कर्त्री मूलप्रकृतिः रुक्मिणी। व्रजस्त्रीजनसम्भूतः श्रुतिभ्यो ब्रह्मसङ्गतः ॥** उ० ता० ५७ ॥

ऋक्-परिशिष्ट में श्रीराधा नाम का भी उल्लेख है, '**राधया माधवो देवो माधवेनैव राधिका ॥ विभ्राजन्ते जनेष्वा इति ॥**

श्रीकृष्ण का आकर्षकत्व—

श्रीकृष्ण के रूप-गुणादि का माधुर्य इतना अधिक है कि केवल त्रिभुवन को ही नहीं, समस्त भगवत्-स्वरूपों एवं लक्ष्मी आदि के चित्त को भी आकर्षण करता रहता है। श्रीकृष्ण के माधुर्य में एक ऐसी अद्भुत अनिर्वचनीय आकर्षण-शक्ति है कि जिससे दूसरे की क्या चले—स्वयं श्रीकृष्ण भी उसके आस्वादन-लोभ से चञ्चल हो उठते हैं।

कृष्ण माधुर्येर एक स्वाभाविक बल।
कृष्ण आदि नर-नारी करये चंचल॥

(श्रीचै० च० १-४-१२८)

आपन माधुर्ये हरे आपनार मन।
आपने आपना चाहे करिते आलिंगन॥

(श्रीचै० च० २-८-११४)

"श्रीकृष्ण-माधुर्य में एक स्वाभाविक बल है कि श्रीकृष्ण आदि नर-नारी सब को चञ्चल कर देता है। श्रीकृष्ण का अपना माधुर्य उनका अपना मन हर लेता है। वे अपने आप को आलिंगन करना चाहते हैं।" अखिल-रसामृतमूर्ति श्रीकृष्ण का माधुर्य इतना सर्वातिशायी है एवं ऐसा चमत्कारी है कि वह केवल अनुभववेद्य हो है. उसके वर्णन करने के लिए कोई भाषा ही नहीं है। जिन्होंने उस माधुर्य का परिचय देने का प्रयास किया भी, उपयुक्त शब्दों के अभाव से उन्होंने केवल "मधुर-मधुर" कहकर आकुलता-व्याकुलता द्वारा अपनी अतृप्ति एवं अक्षमता का ही प्रकाश किया है। श्रीबिल्वमङ्गल "श्रीकृष्णकर्णामृत" में श्रीकृष्ण-माधुर्य का वर्णन करते हुए कहते हैं:—

मधुरं मधुरं वपुरस्य विभो मधुरं मधुरं बदनं मधुरम्।
मधुगन्धि-मधुस्मितमेतदहो मधुरं मधुरं मधुरं मधुरम्॥१३॥

(श्लोक नं० ९२)

"इस विभु का (श्रीकृष्ण) विग्रह मधुर है, मधुर है। नहीं-नहीं, उसमें भी मुखारविन्द मधुर है, मधुर से भी मधुर है। (मुख-मण्डल में भी) अहो आश्चर्य! यह मृदु-मुस्कान ही मधुर, मधुर, मधुर से भी सुमधुर

है—कारण कि इसमें मधु एवं सौरभ का परिपूर्ण विकाश है।" इसमें रूप तो है ही, रस भी है, गन्ध भी है और शब्द भी है। अतएव इसके मधुरत्व का अनुभव एक इन्द्रिय को नहीं, चारों इन्द्रियों को है। इसलिए मधुर, मधुर, मधुर एवं मधुर है।

श्रीकृष्ण का ऐश्वर्य भी माधुर्य-मण्डित है–

स्वयंभगवान् श्रीकृष्ण में ऐश्वर्य-माधुर्यादि प्रत्येक का पूर्णतम विकाश रहने पर भी माधुर्य का प्राधान्य है। उनका ऐश्वर्य भी माधुर्य के अनुगत है। ऐश्वर्य का प्रति अणु-प्रमाणु माधुर्यरस से निषिक्त है। अतः श्रीकृष्ण का ऐश्वर्य भी मधुर है—अन्य स्थलों के ऐश्वर्य की तरह भीतिप्रद, सङ्कोचोत्पादक एवं गौरव-बुद्धिजनक नहीं है। अद्वय-ज्ञानतत्ववस्तु के माधुर्य का ऐसा अनिर्वचनीय प्राधान्य-सूचक सम्वाद परमकरुण महाप्रभु श्रीकृष्ण-चैतन्य ने ही सर्वप्रथम जन-समाज में प्रचार किया। लोक-साधारण ऐश्वर्य को ही भगवत्ता का सार समझते थे। किन्तु भगवान् के ऐश्वर्य-सन्त्रस्त-जीव के कान में श्रीमन्महाप्रभु ने मृदुमधुरहास्यनिषिक्त जलद-गम्भीर स्वर से एक अभय वाणी का उच्चारण करते हुए कहा कि ऐश्वर्य भगवत्ता का सार नहीं, **"माधुर्यइ भगवत्तार सार"** —माधुर्य ही भगवत्ता का सार है।

श्रीकृष्ण-नरवपु में विभुत्व है–

यह पहले कहा जा चुका है कि श्रीकृष्ण साकार-नरवपु हैं। विभुत्व ब्रह्म का स्वरूपानुबन्धि-धर्म होने से साकार-रूप में भी वह विभु है, सर्वग है एवं अनन्त है। परिदृश्यमान परिमित देह में रहते हुए भी श्रीकृष्ण विभु, सर्वव्यापक हैं, मृद-भक्षण लीला में उन्होंने यही दिखाया है। उनके छोटे से मुख में श्रीयशोदा माता को अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड अनन्त भगवद्धाम, ब्रज-मण्डल और तो क्या स्वयं श्रीकृष्ण पर्यन्त दिखाई दिये। ऐसी अनेक लीलाएँ हैं जिनमें उन्होंने दिखाया कि वे विभु एवं आश्रय-तत्व हैं। परब्रह्म श्रीकृष्ण परिच्छिन्नवत् प्रतीयमान होते हुए भी स्वरूपतः अपरिच्छिन्न हैं, विभु हैं, अपनी अचिन्त्य शक्ति से नरवपु में भी वे विभु हैं।

श्रीकृष्ण विरुद्ध-धर्माश्रय हैं–

श्रीकृष्ण परस्पर विरुद्ध-धर्मों के आश्रय हैं। जिस समय वे विभु-

सर्वव्यापक हैं, ठीक उसी समय ही वे अणु से भी क्षुद्र हैं। वे सर्वतोभावेन अस्थूल होने पर भी स्थूल हैं। अनणु होने पर भी अणु हैं। **"अणोरणीयान् महतोमहीयान्"** (श्वेताश्वतर ३-२०) ।

श्रीकृष्ण करुणामय हैं—

अव्यक्त-शक्तिक ब्रह्म निर्गुण होने से उसमें करुणा एवं भक्तवात्सल्यादि गुणों का विकाश नहीं है। परन्तु व्यक्त-शक्तिक भगवत्स्वरूप-समूह में करुणादि-गुण सुव्यक्त हैं। स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण में करुणा तथा भक्तवात्सल्यादि का पूर्णतम विकाश है। श्रीकृष्ण में करुणा इतनी अभिव्यक्त है कि मायाबद्ध जीव के उद्धार करने के लिये वे सर्वदा सचेष्ट रहते हैं; **"लोक निस्तारिव एइ ईश्वर-स्वभाव"** 'जीवों का उद्धार करना ईश्वर का स्वभाव (स्वरूप-धर्म) है।' उनमें भक्तवात्सल्य इतना अभिव्यक्त है कि वे परम-स्वतन्त्र पुरुष होकर भी अपने को भक्त-पराधीन कह कर घोषणा करते हैं—

"अहं भक्त पराधीनः" (श्रीमद्भागवत् ९-४-६३)

वास्तव में संसार के त्रिताप–तप्त जीवों के लिये भगवत्-करुणा का ही विशेष अवलम्ब है। करुणा ही जीव के साथ भगवान् का संयोग-सूत्र है। जहां उसका अभाव है वहां फिर जीव के उद्धार की आशा कहां? त्रिताप–दग्ध-जीव अपने उद्धार के लिये कातर-प्राण होकर भगवच्चरणों में स्वीय दीन-हीन प्रार्थना ज्ञापन कर सकता है, यदि भगवान् करुण न हों तो जीव के कातर-क्रन्दन को फिर वे क्यों कर सुनेंगे? किन्तु भगवान् करुण हैं, परम करुण हैं। व्याकुल–चित्त होकर उनका नाम लेकर पुकारना तो दूर, अन्य व्यपदेश (बहाने) से भी यदि उनका नाम उच्चारित हो जाये, तो फिर उनसे स्थिर नहीं रहा जाता। नामाभास-मात्र से ही जीव को संसार बन्धन से मुक्त कर देते हैं। इस बात के साक्षी अजामिलादि हैं।

शक्ति-तत्व

चित्-शक्ति, जीव-शक्ति तथा माया-शक्ति —

श्रीकृष्ण की अनन्त शक्तियों को तीन भागों में विभक्त किया गया है—चित्-शक्ति, जीव-शक्ति एवं माया-शक्ति । श्रीकृष्ण चित्-स्वरूप हैं उनकी उस चित्-स्वरूप सम्बन्धीय शक्ति को **चित्-शक्ति** या **स्वरूप-शक्ति** कहते हैं। श्रीकृष्ण सम्बन्ध में साक्षात् वह शक्ति क्रियाशील है, उस शक्ति की सहायता से लीलापुरुषोत्तम श्रीकृष्ण अन्तरङ्ग-लीला-विलास करते हैं, इसलिए उसे **अन्तरङ्गाशक्ति** भी कहते हैं। वह शक्ति स्वरूप में चिद्वस्तु है एवं स्वप्रकाश है।

अनन्त कोटि जीव श्रीकृष्ण की **जीवशक्ति** के अंश हैं। जीवशक्ति को **तटस्था-शक्ति** भी कहते हैं; कारण कि वह शक्ति अन्तरङ्गा चित्-शक्ति एवं बहिरङ्गा माया-शक्ति दोनों में किसी के अन्तर्भुक्त नहीं है। दोनों से एक पृथक् शक्ति है। **तत्तटस्थश्च उभयकोटाव प्रविष्टत्वात् ॥ सन्दर्भः ॥** किन्तु वह स्वरूपशक्ति एवं मायाशक्ति दोनों के नियन्त्रण में प्रवेश कर सकती है। जीव जब स्वीय-स्वरूप की स्मृति को भूल कर श्रीकृष्ण से बहिर्मुख हो जाता है तब बहिरङ्गा मायाशक्ति के कवल में जा पड़ता है। और जब अपने स्वरूप की स्मृति अक्षुण्ण रखते हुए श्रीकृष्णोन्मुख होता है तब अन्तरङ्गा चित्-शक्ति उसको अंगीकार करती है।

जिस शक्ति के कार्यक्षेत्र में यह प्राकृत ब्रह्माण्ड है, उसे **मायाशक्ति** कहते हैं। वह शक्ति श्रीकृष्ण के निकट कभी नहीं जा सकती, किंवा

श्रीकृष्ण की अन्तरङ्गा चित्-शक्ति के कार्यस्थल में भी उसका प्रवेश नहीं है। श्रीकृष्ण से एवं चित्-शक्ति के कार्यस्थल से सर्वदा बाहिर रहने से मायाशक्ति को **बहिरङ्गा-शक्ति** भी कहते हैं।

गुणमाया तथा जीव-माया—

मायाशक्ति की दो वृत्तियां हैं—गुणमाया और जीवमाया। सत्व, रजः एवं तम— इस त्रिगुणात्मिका प्रकृति को **गुणमाया** कहते हैं। ईश्वर की शक्ति से वह गुणमाया जगत् के गौण-उपादानरूप में परिणत होती है। **जीव-माया** वह शक्ति है जो ईश्वर की शक्ति से बहिर्मुख जीवों के स्वरूपज्ञान को आवृत करके मायिक वस्तुओं में मुग्ध किये रहती है। जीवमाया इस प्रकार ईश्वर की शक्ति से, सृष्टिकार्य में जगत् के मुख्य-निमित्तकारण ईश्वर की सहायता करने से गौण-निमित्तकारण कही जाती है। जीवमाया श्रीकृष्ण बहिर्मुख-जीवों को कभी संसार-सुख भोग कराती है और कभी दुःख देकर जर्ज्जरित करती है।

सन्धिनी, सम्वित् तथा ह्लादिनी—

भगवान् के स्वरूप में सत्-चित् एवं आनन्द—ये तीनों हैं। तदनुसार उनकी स्वरूपशक्ति की भी तीन वृत्तियां हैं—सन्धिनी, सम्वित्, एवं ह्लादिनी। उनकी सत्-अंश शक्ति को **सन्धिनी** कहते हैं। चित्-अंश शक्ति को **सम्वित्** एवं आनन्द-अंश शक्ति को **ह्लादिनी** कहते हैं। सन्धिनी सत्ता-सम्बन्धिनी शक्ति है; उसके द्वारा भगवान् अपने स्वयंरूप की सत्ता रक्षा करते है तथा अन्य की सत्ता की रक्षा करते हैं। सम्वित्—चित् (ज्ञान) सम्बन्धिनी शक्ति है। उसके द्वारा भगवान् अपने को जानते हैं एवं दूसरे को जानते हैं। और ह्लादिनी—आनन्द सम्बन्धिनी शक्ति है। उसके द्वारा भगवान् स्वयं आनन्द अनुभव करते हैं एवं दूसरे को आनन्द अनुभव कराते हैं। इन शक्तियों में हर एक शक्ति की अनन्त विलास-वैचित्री है। सत्, चित्, आनन्द को जैसे एक दूसरे से विच्छिन्न नहीं किया जा सकता; वैसे ही सन्धिनी, सम्वित् एवं ह्लादिनी को भी एक दूसरे से विच्छिन्न नहीं किया जा सकता। स्वरूप-शक्ति के जिस विलास में उनमें से एक शक्ति वर्तमान रहेगी उसी विलास में और दो शक्तियां भी विद्यमान रहेंगी, परिमाण में कुछ तारतम्य हो सकता है।

शुद्धसत्व व मूर्त्ति–

स्वरूप-शक्ति स्वप्रकाश है, अतः उसकी वृत्तियां भी स्वप्रकाश हैं। ह्लादिनी-सन्धिनी-सम्विदात्मिका स्वरूप-शक्ति की जिस स्वप्रकाश-लक्षण वृत्ति- विशेष के द्वारा स्वयं भगवान् अपने स्वरूप से एवं स्वरूपशक्ति की परिणति परिकरादि-विशेष के रूप से प्रकाशित या आविर्भूत होते हैं, उस वृत्ति-विशेष को **शुद्ध-सत्व** कहते हैं। माया से कोई संश्रव न रहने के कारण उसे **विशुद्ध-सत्व** भी कहा जाता है। वह विशुद्ध-सत्व जब सन्धिनी-शक्ति की अभिव्यक्ति की प्रधानता प्राप्त करता है, तव उसको **आधार-शक्ति** कहते हैं। जब सम्वित-शक्ति की अभिव्यक्ति की प्रधानता प्राप्त करता है, तब उस विशुद्ध सत्व को **आत्म-विद्या** कहते हैं। आत्म-विद्या की दो वृत्तियां हैं— **ज्ञान** तथा **ज्ञान की प्रवर्तक** उनके द्वारा उपासक का ज्ञान प्रकाशित होता है। विशुद्ध-सत्व जब ह्लादिनी-शक्ति की अभिव्यक्ति की प्रधानता को प्राप्त करता है, तब उसे **गुह्य-विद्या** कहते हैं। गुह्य-विद्या की भी दो वृत्तियां हैं— **भक्ति और भक्ति की प्रवर्तक**। उनके द्वारा उपासक को प्रीत्यात्मिका भक्ति प्रकाशित होती है। विशुद्ध-सत्व जब ह्लादिनी, सन्धिनी, सम्वित् इन तीनों शक्तियों के समान भाव की एक साथ ही अभिव्यक्ति प्राप्त करता है तब उसको **मूर्ति** कहते हैं। उस शक्तित्रय-प्रधान विशुद्ध सत्व द्वारा परतत्वात्मक श्रीविग्रह और परिकरादि के विग्रह प्रकाशित होते हैं।

मूर्ता एवं अमूर्ता शक्ति–

इस शक्ति-समूह की दो प्रकार की स्थिति है। प्रथमतः–शक्ति केवल-मात्र शक्तिरूप में अमूर्त अर्थात् भगवत्-विग्रहादि के साथ एकात्मता प्राप्त होकर रहती है। द्वितीयतः–शक्ति स्वयं अधिष्टात्रीरूप में मूर्त–अर्थात् भगवत्-परिकरों के रूप में अवस्थान करती है।

योगमाया—

स्वरूपशक्ति के और एक मूर्त-विग्रह का नाम **योगमाया** है। वह प्रकट लीला में सहायकारिणी है। प्रकटलीला में रसपुष्टि के लिए किसी किसी स्थान-विशेष पर श्रीकृष्ण और उनके परिकरगणों को मुग्ध कर उनके स्वरूप के ज्ञान को आच्छन्न करने का जब प्रयोजन होता है, तो वह योग-माया ऐसे मुग्धत्व को उत्पन्न कर देती है कि जिससे श्रीकृष्ण तथा उनके

परिकरवृन्द अनन्त रस-वैचित्री का आस्वादन करते हैं। उसी योगमाया को अघटन-घटन-पटीयसी कहा जाता है।

जीवमाया और योगमाया का पार्थक्य—

स्वरूपलक्षण में जीवमाया श्रीकृष्ण की बहिरङ्गा-शक्ति है। और योगमाया श्रीकृष्ण की अन्तरङ्गा स्वरूप-शक्ति है। तटस्थ-लक्षण में जीव-माया का कार्य प्रकाकृत ब्रह्माण्ड में है, और योगमाया का कार्य चिन्मय भगवद्धाम में। जीवमाया श्रीकृष्ण बहिर्मुख जीवों को मुग्ध करती है तथा जीव-स्वरूप की विरोधी है। वह हेय तथा नश्वर है एवं उसका परिणाम दुःखमय है। प्राकृत सुख-भोगों के लिये वह जीवमाया श्रीकृष्ण बहिर्मुखता को बढ़ाने वाली है। योगमाया श्रीकृष्ण को, उनके परिकरवर्ग को एवं श्रीकृष्णोन्मुख शुद्ध-सत्वोज्ज्वल-चित् भक्तगणों को मुग्ध करती है—किस लिये ? —लीलारस का पुष्टि साधन कर श्रीकृष्ण की आनन्द-चमत्कारिता के विधान के लिये एवं श्रीकृष्ण सुखैक-तात्पर्यमयी सेवा का अनिर्वचनीय-आनन्दरस भक्तगणों को भोग कराने के लिये।

धाम-तत्व एवं परिकर-तत्व

धाम और परिकर स्वरूपशक्ति की वृत्तियां हैं—

श्रीकृष्ण लीला-पुरुषोत्तम एवं रसिक-शेखर हैं, लीलारस-आस्वादन करने के निमित्त वे लीला या क्रीड़ा करते हैं। किन्तु लीला या क्रीड़ा करने के लिए लीला के सहायक परिकर एवं लीला के स्थान का होना आवश्यक हैं। वस्तुतः अनादि-काल से उनका स्वरूपशक्ति-वृत्तिभूत-शुद्धसत्व लीलार्थ धाम एवं परिकर के रूप में आत्मप्रकट कर श्रीकृष्ण को अनन्त लीलारस-वैचित्री का आस्वादन कराता है। अनन्त भगवत्-स्वरूपों के अपने अपने धाम और परिकरवर्ग हैं। वे समस्त धाम नित्यसिद्ध तथा चिन्मय हैं।

श्रीकृष्णलोक एवं परव्योम। सिद्धलोक। धाम सविशेष है। सिद्धलोक निर्विशेष है। कारण-समुद्र की स्थिति—-

सन्धिनीशक्ति-अंश-प्रधान शुद्धसत्वरूपा आधार-शक्ति ही धामरूप में प्रकट होकर विराजती है। श्रीकृष्णस्वरूप के धाम का नाम "**श्रीकृष्णलोक**" है उसकी त्रिविध अभिव्यक्ति है—**द्वारका, मथुरा** एवं **गोकुल**। द्वारका और मथुरा से गोकुल का वैशिष्ट्य है; गोकुल ही स्वयंभगवान् श्रीकृष्ण का निजस्व धाम है। गोकुल का दूसरा नाम ब्रज है। उसको **गोलोक, वृन्दाबन** एवं **श्वेतद्वीप** भी कहते हैं। अन्यान्य भगवत्स्वरूपों के धाम-समष्टी का साधारण नाम **परव्योम है**। विभिन्न भगवत्स्वरूपों के विभिन्न धाम उस परव्योम के अन्तर्भुक्त हैं। परव्योम श्रीकृष्णलोक से निम्नदेश में स्थित है। श्रीकृष्णलोक और परव्योमस्थ भगवत् -स्वरूपों के धाम-समूह सविशेष हैं; अर्थात् प्रत्येक धाम

में जल, स्थल, वृक्ष, लता, पक्षी, कीट आदि लीला के समस्त उपकरण विद्यमान हैं, किन्तु प्राकृत ब्रह्माण्ड के वृक्ष-लता आदि की तरह वहां प्राकृत वस्तुएँ नहीं हैं। वहाँ सारी वस्तुएँ चिन्मय हैं। सब कुछ स्वरूप-शक्ति का विलास है। परव्योम के बाहर **सिद्धलोक** नाम का एक निर्विशेष ज्योतिर्मय धाम है; वह अव्यक्त-शक्तिक ब्रह्म का धाम है। वहां स्वरूपशक्ति तो है, किन्तु उसका विलास नहीं है, कोई लीला नहीं है एवं लीला का उपकरण भी नहीं है। उसकी भी परव्योम में गणना है। उस सिद्धलोक के चारों ओर चिन्मय जलपूर्ण **कारण-समुद्र** है। जिसे **विरजा** भी कहते हैं। उस समुद्र के बाहर बहिरङ्गा शक्ति का विलास-स्थल प्राकृत ब्रह्माण्ड है। समस्त भगवद्धाम नित्य, चिन्मय, सर्वग, अनन्त एवं श्रीकृष्ण की तरह विभु हैं। अनन्त भगवत्स्वरूप जैसे स्वयंभगवान् श्रीकृष्ण का विलास-विशेष हैं उसी प्रकार उनके धाम भी श्रीकृष्ण के लीलाधाम श्रीवृन्दाबन का प्रकाश-विशेष हैं।

ब्रजरस एवं ब्रज-परिकर—

ब्रज में श्रीकृष्ण की नरलीला है; गोप अभिमान एवं गोपवेश है। ब्रज में वे चारों भावों के लीला-रस का आस्वादन करते हैं—दास्य, सख्य, वात्सल्य और मधुर। उनकी स्वरूप-शक्ति ही प्रत्येक भावानुकूल लीला-परिकर के रूप में आत्मप्रकट कर विराजती है। दास्यरस के परिकर के नाम—रक्तक,पत्रक इत्यादि हैं। ये श्रीकृष्ण में ममताबुद्धि पूर्वक दासोचित्त-सेवा द्वारा श्रीकृष्ण की प्रीति विधान करते हैं। सख्य परिकर के नाम—सुबल, मधुमंगल आदि हैं। दास्य परिकर की अपेक्षा श्रीकृष्ण में इनकी ममताबुद्धि अधिक है। ये श्रीकृष्ण के साथ सखाओं की भांति समान-समान भाव में व्यवहार करते हैं। एक सङ्ग खेलते हैं, कभी श्रीकृष्ण को कन्धे पर चढ़ाते हैं तो कभी आप श्रीकृष्ण के कन्धे पर चढ़ते हैं। श्रीकृष्ण के मुख में अपना झूँठा फल भी देते हैं। दास्यरस में गौरव-बुद्धिजात सङ्कोच है। सख्य में उस प्रकार का कोई सङ्कोच नहीं है, इसका कारण ममताबुद्धि का आधिक्य है। सख्य से वात्सल्य में अधिक ममता है; श्रीमन्नन्दमहाराज तथा माता यशोदा आदि वात्सल्य के परिकर हैं। ये सन्धिनी-अंश-प्रधान शुद्धसत्वरूपा आधार-शक्ति की चरम परिणति हैं। माता यशोदा मन में विचार करती हैं—श्रीकृष्ण उनकी गर्भजात सन्तान है। श्रीनन्द महाराज

भी श्रीकृष्ण को आत्मज मानते हैं। श्रीकृष्ण भी इन्हें अपना माता-पिता मानते हैं, किन्तु यह अनादि सिद्ध अभिमान मात्र है। कुछ भी हो ये श्रीकृष्ण को लाल्य एवं अपने को श्रीकृष्ण का लालक समझते हैं और इसी अभिमानानुकूल व्यवहार भी करते हैं। मधुर भाव में वात्सल्य से भी अधिक ममता है। श्रीराधा आदि ब्रज गोपीगण मधुर भाव के परिकर हैं। श्रीराधिका ह्लादिनी शक्ति की मूर्तविग्रह हैं। इनका अभिमान है कि श्रीकृष्ण उनके प्राणवल्लभ हैं. वह उनकी प्रेयसी हैं। श्रीकृष्ण भी तदनु-रूप मानते हैं। इस अभिमान-मूलक भावानुकूल ये निजाङ्ग द्वारा भी श्रीकृष्ण की सेवा करती हैं।

ममताबुद्धि के आधिक्य से श्रीकृष्ण-वश्यता का आधिक्य है—

जहां ममता बुद्धि जितनी अधिक होती है वहां घनिष्ठता भी उतनी अधिक होती है, वहां प्रीति का आस्वादन भी उतना अधिक होता है। श्रीकृष्ण स्वयं कहते हैं, "जो भक्त मुझमें ईश्वर-ज्ञान रखता है एवं अपने से मुझे बड़ा समझता है, उसके प्रेम के वशीभूत मैं नहीं हूँ। कारण कि उसका प्रेम ऐश्वर्य ज्ञान से शिथिल हो जाता है। किन्तु जो मुझे अपनी अपेक्षा छोटा, अन्ततः समान समझता है,मैं सर्वभाव से उसकी प्रेम-वश्यता स्वीकार करता हूँ।" समस्त रसों की अपेक्षा मधुररस में आस्वादन-चमत्कारिता का आधिक्य है।

ब्रज-प्रेम—

समस्त ब्रज-परिकर श्रीकृष्ण सुखैकतात्पर्यमय-प्रेम सहित श्रीकृष्ण की सेवा करते हैं। इनका प्रेम विशुद्ध-माधुर्यमय है, उस पर ऐश्वर्य का कोई भी प्रभाव नहीं है। श्रीकृष्ण के ऐश्वर्य का अनुसन्धान तक भी उनके प्रेम पर किसी भी रूप में प्रभाव विस्तार नहीं कर सकता। द्वारका-मथुरा में भी दास्यादि उक्त चारों भाव हैं। वहां ये भाव ऐश्वर्य मिश्रित हैं। परिकरों के भाव भी ऐश्वर्य द्वारा संकुचित हैं। द्वारका में रुक्मिणी आदि महिषीगण कान्ताभाव के तथा देवकी–वसुदेव वात्सल्य भाव के परिकर हैं। परव्योम के अधिपति भगवत् स्वरूप का नाम श्रीनारायण है। ये चतुर्भुज हैं, जो श्रीकृष्ण के विलासरूप हैं। श्रीनारायण की प्रेयसी लक्ष्मी हैं। परव्योम में वात्सल्यरस नहीं है। क्योंकि नर-लीला ही वात्सल्य का स्थान है। परव्योम

की लीला देवलीला है, नरलीला नहीं। भगवतस्वरूप-समूह के धाम-लीला तथा परिकरादि उन उन स्वरूपों के अनुरूप हैं। अन्यान्य भगवत्-स्वरूपों के धाम-लीला-परिकरों से श्रीनारायण के धाम-लीला-परिकर आदि श्रेष्ठ हैं। परव्योम से द्वारका-मथुरा का माहात्म्य, परिकर-लीलादि उत्कृष्ट हैं एवं द्वारका-मथुरा से ब्रज के अर्थात् गोकुल के महात्म्य का अपूर्व वैशिष्ट्य है। श्रीकृष्ण के ब्रज परिकरों में दास्य से सख्य, सख्य से वात्सल्य, वात्सल्य से मधुरभाव के परिकरवर्ग का वैशिष्ट्य है। प्रेयसीवर्ग में अखण्ड-रसवल्लभा श्रीराधिका के रूप-गुण-माधुर्य तथा रस-परिवेशन-परिपाटी सर्वातिशायी है।

भगवत्-स्वरूप

ब्रज एवं द्वारका के भाव की विशेषता—

श्रीकृष्ण ब्रज में स्वयंरूप से विराजते हैं। एक और स्वरूप से वे द्वारका-मथुरा में भी लीला करते हैं। ब्रज के भाव एवं वेशादि से द्वारका-मथुरा के भाव-वेशादि का थोड़ा भेद है। ब्रज में उनका गोप-वेश है, गोप-भाव एवं उसके अनुरूप लीला है। द्वारका-मथुरा में क्षत्रिय-भाव, क्षत्रिय-वेश एवं उसके अनुरूप ही लीला है। द्वारका-मथुरा में भी वे साधारणतः द्विभुज हैं, परन्तु समय समय पर चतुर्भुज भी हो जाते हैं। द्वारका-मथुरा में वे देवकी-वसुदेव के पुत्ररूप में परिचित हैं। इसलिए उनका वहां एक नाम वासुदेव है। देवकी देवी का अभिमान है—वह श्रीकृष्ण की माता है; श्रीवसुदेव का अभिमान है—वह श्रीकृष्ण के पिता हैं। किन्तु उनका वात्सल्य ऐश्वर्यज्ञान मिश्रित है। ब्रज के वात्सल्य की तरह ऐश्वर्यज्ञान हीन शुद्धवात्सल्य नहीं है। रुक्मिणी, सत्यभामा आदि द्वारका में श्रीकृष्ण की कान्ताएं हैं; वे श्रीकृष्ण-महिषी नाम से विख्यात हैं। इनका कान्ताप्रेम भी ऐश्वर्यज्ञान मिश्रित है।

श्रीबलराम–

श्रीकृष्ण का एक और स्वरूप है, जिसे बलराम कहते हैं। श्रीकृष्ण की भांति वह भी नरवपु हैं, किन्तु वह श्रीकृष्ण की तरह नवमेघ श्याम वर्ण नहीं है, उनका वर्ण चांदी की भांति धवल या सफेद है। उनका कोई भी स्वतन्त्र धाम नहीं है। वे श्रीकृष्ण के परिकर के अन्तर्भुक्त हैं। वह ब्रज में रहते हैं,द्वारका–मथुरा में भी विराजते हैं,ब्रज में उनका गोप-भाव,गोप-वेश है और द्वारका–मथुरा में उनका क्षत्रिय-भाव तथा क्षत्रिय-वेश है। वे भी वसुदेव-नन्दन कह कर पुकारे जाते हैं। श्रीवसुदेव की दूसरी पत्नी हैं— रोहिणी, जो श्रीबलराम की माता कहलाती हैं। द्वारका में श्रीबलराम का सङ्कर्षण नाम भी प्रसिद्ध है।

द्वारका-चतुर्व्यूह–

वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न एवं अनिरुद्ध—इन चार स्वरूपों को द्वारका का चतुर्व्यूह कहते हैं। द्वारका में वासुदेव और श्रीकृष्ण एक ही विग्रह हैं।

परव्योम-चतुर्व्यूह—

परव्योम में श्रीनारायण-नाम से श्रीकृष्ण का जो स्वरूप विराजमान है, वह भी नवजलधर श्याम वर्ण हैं, किन्तु वे चतुर्भुज हैं। वे समस्त परव्योम के अधिपति हैं एवं सालोक्यादि चार प्रकार की मुक्ति के देने वाले हैं। वासुदेव, सङ्कर्षण, प्रद्युम्न एवं अनिरुद्ध नाम से परव्योमाधिपति के भी चार व्यूह हैं। वे द्वारका–चतुर्व्यूह का ही स्वरूप-विशेष हैं एवं द्वारका-चतुर्व्यूह से किञ्चित् न्यून शक्ति रखते हैं। उनके श्रीनारायण के अतिरिक्त स्वतन्त्र चार विग्रह हैं जो श्रीनारायण के परिकर के अन्तर्गत हैं। परव्योम में श्रीलक्ष्मी देवी श्रीनारायण की कान्ता हैं। श्रीनारायण नर-लील नहीं हैं, देव-लील हैं। इसलिए उस धाम में उनका माता-पिता नहीं है, वात्सल्य भाव भी नहीं है। परव्योम की लीला में ऐश्वर्य की प्रधानता है। परिकर आदि सब ही षड़ैश्वर्यमय हैं।

परव्योम-स्वरूप—

श्रीराम, श्रीनृसिंहादि भगवत्-स्वरूपों का पृथक् पृथक् धाम भी उसी

परव्योम के अन्तर्गत है, श्रीराम,नृसिंहादि के परिकर आदि भी हैं। परव्योम-स्थित भगवद्-धामों के बाहरले भाग में जो ज्योतिर्मय सिद्ध-लोक है, वह अव्यक्त-शक्तिक ब्रह्म-स्वरूप का धाम है, जो साधक सायुज्य-मुक्ति प्राप्त करते हैं, वे उसी धाम में जाते हैं। परन्तु सालोक्य, सारूप्य, सामीप्य एवं सार्ष्टि इन चारों में से जो साधक किसी भी प्रकार की मुक्ति प्राप्त करते हैं, उनको परव्योम में ही सविशेष-स्थान प्राप्त होता है।

पुरुषत्रय—

सिद्ध-लोक के बाहर चिन्मय जल पूर्ण जो कारण-समुद्र या बिरजा नदी है। उसमें परव्योमस्थ संकर्षण का एक स्वरूप अवस्थान करता है। उसे 'कारणार्णवशायी-पुरुष' 'कारणार्णवशायी नारायण' वा 'प्रथम पुरुष' भी कहते हैं। वे सहस्रशीर्षा हैं; महाप्रलय में समस्त जीव उनमें जाकर समा जाते हैं। वे सृष्टि के साक्षात् कारण हैं एवं समष्टि जीव के और प्रकृति के अन्तर्यामी हैं। सृष्टि की उत्पत्ति के बाद वे ही एक और रूप से प्रत्येक ब्रह्माण्ड में प्रवेश कर अपने स्वेद-जल से आधे ब्रह्माण्ड को भर देते हैं और उसमें शयन करते हैं—उस स्वरूप का नाम है —'गर्भोदकशायी नारायण' वा 'द्वितीय पुरुष'। वे व्यष्टि ब्रह्माण्ड के अन्तर्यामी हैं। सहस्रशीर्षा के, युगावतारों के तथा मन्वन्तरादि के मूल कारण हैं। वे ही ब्रह्मा, विष्णु तथा शिव—इन तीनों रूपों में आत्म-प्रकट करते हैं। ब्रह्मा रूप से व्यष्टि जीव की सृष्टि करते हैं, फिर विष्णुरूप से प्रत्येक जीव में प्रवेश कर जीव के अन्तर्यामी रूप से वास करते हैं। वे एक रूप से क्षीरसमुद्र में भी जाकर शयन करते हैं। इसलिए इन्हें 'क्षीराब्धिशायी-नारायण' या 'तृतीय पुरुष' भी कहा जाता है। वे चतुर्भुज हैं एवं व्यष्टिजीव के अन्तर्यामी हैं। वे जगत् के पालन कर्त्ता हैं और शिव जगत् के संहार कर्त्ता हैं।

प्रथम पुरुष ही समय समय पर मत्स्य-कूर्मादि लीलावतारों के रूप में जगत् में अवतीर्ण होते हैं। मत्स्य-कूर्मादि लीलावतारों के तथा युगावतारों के धाम भी परव्योम में हैं। परव्योम से ही वे लीला करने के लिए जगत् में अवतीर्ण हुआ करते हैं।

———

श्रीकृष्ण का रसास्वादन

आत्मारामता—

परब्रह्म श्रीकृष्ण आत्माराम, आप्तकाम, स्वराट् अर्थात् समस्त विषयों में सर्वभाव से अन्यनिरपेक्ष हैं। किसी बात में भी वे किसी अन्य की अपेक्षा नहीं रखते; किसी की सहायता ग्रहण करने का उन्हें कुछ प्रयोजन नहीं है। उनकी शक्ति उनके साथ अविच्छेद रूप से नित्य रहने से उनकी स्वरूपभूता है। इसलिए वह उनसे भिन्न नहीं है। अतः यथायथ भाव से अपनी शक्ति की सहायता ग्रहण करने से उनकी आत्मारामता, आप्तकामता स्वतन्त्रता में कुछ हानि नहीं होती। स्वराट्–शब्द से ही उनकी स्वशक्त्यैक सहायता जानी जाती है अर्थात् वे केवल अपने आपही सहायका हैं। अन्य किसी की शक्ति की वे सहायता ग्रहण नहीं करते।

यह पहले कहा जा चुका है कि उनकी स्वरूप–शक्ति उनके स्वरूप में ही नित्य अवस्थित है। जीव-शक्ति और माया–शक्ति उनके स्वरूप में नहीं हैं। स्वरूप-शक्ति के प्रभाव से ही उनका रसत्व है—रसरूप से आस्वाद्यत्व तथा रसिकरूप से आस्वादकत्व है। उनका यह रसत्व उनका स्वरूपभूत होने से उसमें उनकी स्वरूप-शक्ति के 'सिवा और किसी भी शक्ति का स्थान नहीं है। उनका धाम, परिकर, लीला आदि उनके रसत्व-विकाश के लिए अति आवश्यक है, जो उनकी स्वरूप–शक्ति का ही विलास-विशेष है। रसिक रूप में वे रसास्वादन करते हैं तो स्वरूप-शक्ति की सहायता से और जो वे आस्वादन करते हैं, वह भी उनकी स्वरूप-शक्ति का ही विलास है, क्योंकि वे आत्माराम हैं एवं स्वशक्त्यैक सहाय या अन्यनिरपेक्ष हैं।

स्वरूपानन्द व शक्त्यानन्द--

श्रीकृष्ण-रसिक-शेखर हैं; वे रस का ही आस्वादन करते हैं, रस–आस्वादन कर वे जो आनन्द प्राप्त करते हैं, वह आनन्द दो प्रकार का है–'स्वरूपानन्द' और 'स्वरूप-शक्त्यानन्द'। स्वरूप-शक्त्यानन्द फिर दो प्रकार का है। 'ऐश्वर्यानन्द' तथा 'मानसानन्द'। स्वरूप से भी वे रस स्वरूप—आस्वाद्यरस-स्वरूप हैं। स्वरूप-शक्ति की सहायता से अपने स्वरूप का आस्वादन कर वे जो आनन्द प्राप्त करते हैं—उनका नाम है 'स्वरूपानन्द'। ह्लादिनी—अर्थात् ह्लादिनी-प्रधान शुद्ध सत्व ही आनन्द की अधिष्ठात्री शक्ति है। वह ह्लादिनी स्वयं ही आनन्दरूपा है,परम आस्वाद्य है। ह्लादिनी जहां जितनी अधिक वैचित्री धारण करती है, वहां उसकी आस्वादन—चमत्कारिता भी उतनी अधिक होती है। किन्तु यह ह्लादिनी जब तक श्रीकृष्ण में अवस्थान करती है, तब तक श्रीकृष्ण के लिए उस प्रकार की आस्वादन–चमत्कारिता धारण नहीं करती। श्रीकृष्ण-सेवा के लिए भक्तों के हृदय की बलवती उत्कण्ठा के साथ मिलकर ही यह उस प्रकार की आस्वादन–चमत्कारिता धारण कर सकती है। किन्तु ह्लादिनी स्वरूप–शक्ति होने के कारण सदा श्रीकृष्ण के स्वरूप में ही अवस्थित रहती है। भक्तों के हृदय की उत्कण्ठा के साथ ह्लादिनी के मिलने की सम्भावना कैसे हो सकती है ? —सम्भावना हो सकती है, यदि श्रीकृष्ण ह्लादिनी को भक्तों के हृदय में संचारित करें। वास्तविक रसिक शेखर श्रीकृष्ण ऐसा करते ही हैं। रसास्वादन करने के लिए परम कौतुकी श्रीकृष्ण नित्य ही ह्लादिनी शक्ति की सर्वानन्दातिशायिनी किसी एक वृत्ति को भक्तों के हृदय में संचारित करते रहते हैं। इस प्रकार संचारित ह्लादिनी–शक्ति की वृत्ति ही भक्त-हृदय में कृष्ण-प्रीति के रूप में वैचित्री धारण कर परम आस्वादन-चमत्कारिता को प्राप्त करती है। –"**तस्या ह्लादिन्या एव कापि सर्वानन्दातिशायिनी वृत्ति नित्यं भक्तवृन्देषु एव निक्षिप्यमाना भगवत् प्रीत्याख्या वर्त्तते। अतस्तदनुभवेन श्रीभगवानापि श्रीमद्भक्तेषु प्रीत्यतिशयं भजत इति॥ प्रीति सन्दर्भ॥ ६५॥**

श्रीभगवान् के स्वरूप में ह्लादिनी जिस वैचित्री को धारण करती है, उसकी अपेक्षा भक्त-हृदय की वैचित्री अति अधिक आस्वादनीय होती है। इस बात को एक दृष्टान्त द्वारा समझाने की चेष्टा करते हैं—

वायु का गुण है शब्द। मुख की वायु अनेक प्रकार की भङ्गीयुक्त होकर मुख से बाहर निकलने पर अनेक शब्दों में अभिव्यक्त होती है। उन शब्दों का एक माधुर्य है। किन्तु मुख की वही वायु वंशी के रन्ध्रों में प्रवेश करती है, तब एक ऐसा अनिर्वचनीय शब्द प्रकट होता है कि उस के द्वारा सुनने वाला तथा वंशी बजाने वाला स्वयं भी मुग्ध होजाता है। उसी प्रकार भगवान् के स्वरूप में ह्लादिनी जो वैचित्री धारण करती है, उस की अपेक्षा भक्त-हृदय में निक्षिप्त ह्लादिनी की वैचित्री अनेक अधिक आस्वादन की चमत्कारिता युक्त होती है। श्रीभगवान् के स्वरूप की अपेक्षा, सेवा-वासना एवं उस से पैदाहुई उत्कण्ठादि के कारण भक्त-हृदय में ही ह्लादिनी के वैचित्री-विकाश का अधिक सुयोग एवं अवकाश है। भक्त-हृदय में वह ह्लादिनी सर्वविध वैचित्री धारण कर सकती है एवं उस समस्त वैचित्री को आस्वादन करने में श्रीभगवान् का समधिक कौतूहल है। भक्त-हृदय की सेवा-वासना से सम्मिलित होने पर भगवान् द्वारा निक्षिप्त ह्लादिनी प्रीतिरूप में परिणत होती है और फिर अशेष वैचित्री धारण कर अनन्त भागवती-प्रीति की वैचित्रीरूप में अभिव्यक्त होती है। भक्तों के साथ भगवान् की लीला के माध्यम से भक्तहृदय की वह प्रीतिरस-वैचित्री प्रकट होकर भगवान् के आस्वादन का विषय बनती है। उस आस्वादन में जिस आनन्द को श्रीभगवान् प्राप्त करते हैं, उसे 'स्वरूप-शक्त्यानन्द कहते हैं, क्योंकि वह आनन्द उनकी स्वरूप-शक्ति से ही उत्पन्न होता है।

ऐश्वर्यानन्द--

उसी स्वरूप-शक्त्यानन्द को कभी 'ऐश्वर्यानन्द' और कभी 'मानसानन्द' भी कहा जाता है। भक्तों की भावानानुसार ही वह शक्त्यानन्द दो रूप धारण करता है। भगवान् के भक्तों की दो श्रेणियां हैं। एक श्रेणी में भगवान् के ऐश्वर्य ज्ञान की प्रधानता रहती है और दूसरी में ऐश्वर्य ज्ञान सम्पूर्ण रूप से प्रच्छन्न रहता है, जिनमें ऐश्वर्य ज्ञान की प्रधानता रहती है, भगवान् द्वारा निक्षिप्त ह्लादिनी की वृत्तिविशेष उनके चित्त में प्रीतिरूप में परिणत होकर भी प्रधानता लाभ नहीं करती है। ऐश्वर्य ज्ञान प्रीति को संकुचित किए रहता है, नीबू के मीठे अचार में चीनी अम्ल (तुरशो) को कुछ मिठास देकर जैसे उसके आस्वादन में कुछ चमत्कारिता बढ़ा देती है, किन्तु स्वयं प्रधानता लाभ नहीं करती, उसी प्रकार ऐश्वर्यज्ञान प्रधान भक्त-

हृदय की प्रीति भी ऐश्वर्यज्ञान को कुछ माधुर्य देकर ऐश्वर्यज्ञान की आस्वादन-चमत्कारिता को अवश्य बढ़ा देती है, किन्तु स्वयं प्रधानता लाभ नहीं कर पाती, प्रधानता रहती है ऐश्वर्यज्ञान की। तथापि प्रीति के प्रभाव से ऐश्वर्यज्ञान माधुर्य के साथ मिलकर लीला के माध्यम से प्रकट होकर भगवान् के आस्थापन का विषय बनता है। उसके आस्वादन से भगवान् जिस आनन्द को प्राप्त करते हैं—उसे **'ऐश्वर्यानन्द'** कहते हैं। वह आनन्द भी स्वरूप-शक्ति की वृत्ति है। भगवान् का ऐश्वर्य तथा ऐश्वर्यज्ञान भी स्वरूप-शक्ति की वृत्ति है। इसलिए वह आनन्द भी शक्त्यानन्द के अन्तर्भुक्त है।

मानसानन्द—

जहां भगवान् का ऐश्वर्य तथा माधुर्य दोनों ही पूर्णतम रूप से अभिव्यक्त हैं, किन्तु आनन्द-स्वरूप एवं रसस्वरूप होने से भगवान् की भगवत्ता के पूर्णतम विकाश में माधुर्य की सर्वातिशायिनी प्रधानता ही रहती है और वह सर्वातिशायी माधुर्य ऐश्वर्य को सम्यक्रूप से परिनिषिक्त, परिसिंचित कर माधुर्यमण्डित करते हुए परम आस्वादनीय कर देता है और उसे अपने अन्तराल में प्रच्छन्न किये रहता है, वहां भक्तों के चित्त में भी भगवान् का ऐश्वर्य किञ्चित् मात्र भी स्फुरित नहीं हो सकता, स्फुरित होने का वहां अवकाश भी नहीं रहता। इसलिए भगवान् द्वारा निक्षिप्त ह्लादिनी की वृत्तिविशेष उन भक्तों के चित्त में प्रीति के रूप में परिणत होकर अबाधरूप से अन्तन-वैचित्री धारण करती है, क्योंकि वहां वैचित्री-विकाश में प्रीति को किसी बाधा-विघ्न का सामना नहीं करना पड़ता। ऐश्वर्य-ज्ञान हीन भक्तों की प्रीति किसी के द्वारा भी प्रतिहत नहीं होती। इसलिए वह उत्तरोत्तर बढ़कर अनन्त-वैचित्री एवं अनन्त आस्वादन-चमत्कारिता धारण करती है। लीला के माध्यम से प्रकट हुई उस आस्वादन-चमत्कारिता के आस्वादन से भगवान् जो आनन्द अनुभव करते हैं उसका नाम है—**'मानसानन्द'**। स्वरूप-शक्ति से ही उत्पन्न होने के कारण वह भी शक्त्यानन्द के अन्तर्भुक्त है।

सब प्रकार का आनन्द मन में ही अनुभूत होता है, इसलिए सब प्रकार के आनन्द को साधारण भाव से मानसानन्द कहा जा सकता है, किन्तु जिस आनन्द के अनुभव में आस्वादन जनित मनः प्रसाद की चरम-पराकाष्ठा हो, उस में ही मानसानन्द का चरम पर्यवसान होता है। इसलिए

ऐश्वर्य-ज्ञान हीन भक्तों के हृदयस्थित शुद्ध प्रीतिरस के आस्वादन-जनित आनन्द को ही विशेष रूप से मानसानन्द कहा गया है, क्योंकि स्वरूपानन्द से ऐश्वर्यानन्द के आस्वादन में अधिक आस्वादन-चमत्कारिता है और उस की अपेक्षा ऐश्वर्यज्ञान हीन भक्तों की प्रीतिरस के आस्वादन में अति अधिकता है।

परव्योमस्थित भगवत्-स्वरूप के परिकरों का भाव ऐश्वर्यज्ञान-प्रधान है। क्योंकि परव्योम ऐश्वर्य प्रधान धाम है। इसलिये परव्योम में ही ऐश्वर्यानन्द का आस्वादन है और गोलोक, ब्रज—श्रीवृन्दावन के परिकरों का भाव है ऐश्वर्य ज्ञान हीन; इसलिए ब्रज में मानसानन्द का आस्वादन है। स्वरूपानन्द का आस्वादन तो सर्वत्र है ही।

भगवत्-स्वरूप-रूप से श्रीकृष्ण का रसास्वादन—

श्रीकृष्ण-तत्व प्रबन्ध में पहले ही कहा जा चुका है कि रसस्वरूप परब्रह्म श्रीकृष्ण में अनन्त रस-वैचित्री है, वे अखिल-रसामृत मूर्त्ति हैं। उनकी अनन्त रस वैचित्री के मूर्त्तरूप ही हैं अनन्त भगवत्-स्वरूप। एक एक भगवत्स्वरूप एक एक रस-वैचित्री का मूर्त्तरूप है। प्रत्येक स्वरूप ही रसरूप से आस्वाद्य एवं रसिकरूप से आस्वादक है। प्रत्येक स्वरूप ही स्वरूपानन्द एवं शक्त्यानन्द आस्वादन करता है। प्रत्येक का परिकर है। जिस स्वरूप में रस की जो वैचित्री अभिव्यक्त है, उसी स्वरूप के परिकरों में भी उसी रस-वैचित्री के अनुरूप भगवत्-प्रीति अभिव्यक्त है। उनके साथ लीला में उसी प्रीति रस का आस्वादन करके ही वह भगवत्-स्वरूप शक्त्यानन्द अनुभव करता है एवं निज स्वरूपानन्द का भी अनुभव करता है। इस से स्पष्ट है कि रस-स्वरूप श्रीकृष्ण अनन्त-भगवत् स्वरूपों के रूप में स्वीय स्वरूपानन्द एवं शक्त्यानन्द की अनन्त-वैचित्री ही मानों पृथक् पृथक् रूप से आस्वादन कर रहे हैं। और स्वयं रूप में भी सम्मिलित आनन्द-वैचित्री का आस्वादन कर रहे हैं। और फिर प्रत्येक भगवत्-स्वरूप रूप से भी वे अपने स्वयंरूप के माधुर्यादि का यथा सम्भव आस्वादन कर रहे हैं। परव्योमाधिपति श्रीनारायण एवं उनके उपलक्षण में परव्योमस्थित अनन्त भगवत्-स्वरूप भी स्वयं रूप श्रीकृष्ण के माधुर्य आस्वादन करने के लिए लालायित रहते हैं—यह बात श्रीमद्भागवत (१०-८९-५८) के निम्नलिखित श्लोक से प्रमाणित होती है—

द्विजात्मजा मे युवयोर्दिदृक्षुणा मयोपनीता भुवि धर्मगुप्तये ।
कलावतीर्णाववनेर्भरासुरान् हत्वेह भूयस्त्वरयेतमन्ति मे ॥

(श्री भा० १०-८९-५९)

—"धर्म की रक्षा के लिए सर्वशक्तियुक्त पूर्णरूप से अवतार ग्रहण करने वाले हे श्रीकृष्ण–अर्जुन ! आप दोनों के दर्शनों के लिए मैं उस ब्राह्मण के बालकों को अपनी पुरी में ले आया हूँ । पृथ्वी के भार-रूप असुरों का संहार कर आप उन्हें मेरे पास शीघ्र भेजें (वे यहां आकर मुक्त हो जाएँगे)

यह वचन भौमापुरुष के हैं,जो कारण समुद्रशायी हैं । यह परव्योमाधिपति श्रीनारायण का ही स्वरूप हैं । इन्होंने श्रीकृष्ण एवं अर्जुन को सम्बोधित करते हुए स्पष्ट शब्दों में कहा है कि उस ब्राह्मण के सब पुत्रों को मैं ही यहां लाया हूँ । केवल इसलिए कि उनकी खोज करते हुए श्रीअर्जुन के साथ आप यहां पधारेंगे और में आपके दर्शन कर कृतार्थ होजाऊँगा ।"—इन वचनों से प्रमाणित होता है कि श्रीनारायण भी श्रीकृष्ण के दर्शनों के लिए लालायित रहते हैं । जब परव्योमाधिपति श्रीनारायण ही श्रीकृष्ण-दर्शनों के लिए लालायित रहते हैं, तब परव्योमस्थित अन्यान्य भगवत्–स्वरूप उनके दर्शनों के लिए लालायित रहते होंगे, इसमें कहना ही क्या ?

परव्योमाधिपति श्रीनारायण की वक्षोविलासिनी लक्ष्मीदेवी एवं तदुपलक्षण में परव्योमस्थित समस्त भगवत् स्वरूपों की लक्ष्मीगण या कान्तागण श्रीकृष्ण के माधुर्य-आस्वादन के लिए लालायित रहती हैं—यह बात भी श्रीमद्भागवत् (१०-१६-३६) के निम्नलिखित श्लोक से सिद्ध होती है—

कस्यानुभावोऽस्य न देव विद्महे तवाङ्घ्रिरेणुस्पर्शाधिकारः ।
यद्वांच्छया श्रीर्ललनाचरत्तपो विहाय कामान् सुचिर धृतव्रता ॥

कालियनाग की पत्नियों ने श्रीकृष्ण से कहा है—"हे देव ! आपकी जिस चरण-रज को प्राप्त करने के लिए श्रीलक्ष्मी ने अनेक काल तक समस्त कामनाओं को त्याग कर व्रत धारण करते हुए तपस्या की थी, वह

रज इस कालिय को किन पुण्यों के फल से प्राप्त हो गयी है—यह हम नहीं जान पा रही हैं।

कालियनाग की पत्नियों के इन वचनों से स्पष्ट है कि श्रीलक्ष्मीजी ने श्रीकृष्ण की चरण-प्राप्ति के लिए व्रत धारण करते हुए समस्त कामनाओं को त्याग कर अनेक काल तक तपस्या की थी। भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र के सौन्दर्य-माधुर्य के लिए लालायित होकर ही श्रीलक्ष्मी जी ने बहुत समय तक घोर तपस्या की। जब श्रीकृष्ण ने प्रकट होकर उनसे तपस्या का कारण पूछा तो श्रीलक्ष्मी जी ने कहा—"मैं श्रीवृन्दावन में आपके साथ विहार करना चाहती हूँ। "श्रीभगवान् ने कहा—"यह तुम्हारे लिए दुर्लभ है।" तब श्रीलक्ष्मी जी ने कहा —'तो क्या आपके वक्षस्थल में मुझे स्थान मिल सकेगा?" श्री भगवान् ने 'तथास्तु' कह दिया। तब से श्रीलक्ष्मीजी श्रीकृष्ण के वक्षस्थल में स्वर्ण–रेखा के रूप में अवस्थान करती हैं। इस से स्पष्ट है कि परव्योमाधिपति श्रीनारायण की प्रेयसी श्रीलक्ष्मी जी श्रीकृष्ण के रूप-गुण-माधुर्य के लिए लालायित रहती हैं अन्यान्य भगवत्-स्वरूपों की प्रेयसीगण के विषय में क्या कहना?

और एक अपूर्व विशेषता यह है कि श्रीकृष्ण अपने माधुर्य को आस्वादन करने के लिए स्वयं भी लालायित रहते हैं। किन्तु भक्त-भाव के बिना उस माधुर्य का आस्वादन करना सम्भव ही नहीं है। इसलिए वे भी श्रीकृष्णचैतन्य रूप में भक्तभाव अङ्गीकार कर निज माधुर्य का आस्वादन करते हैं। समस्त भगवत्-स्वरूप भी स्वयंरूप श्रीकृष्ण के माधुर्यास्वादन के लिए उनके भक्तभाव को ही अङ्गीकार कर रहे हैं। वह भक्तभाव उनका स्वाभाविक या स्वरूपगत ही है। क्यों कि समस्त भगवत् स्वरूप अंश हैं स्वयंरूप श्रीकृष्ण अंशी के। अंशी की सेवा ही अंश का स्वरूपगत धर्म है, जहां सेवा है, वहां भक्तभाव अनिवार्य है।

प्रत्येक भगवत्-स्वरूप ही स्वरूपतः रसास्वादक है। इसलिए उसमें माधुर्य-आस्वादन की लालसा का होना अपरिहार्य है। जिस स्वरूप में रसिकत्व की जिस वैचित्री का विकाश है, उसका भक्तभाव भी तदनुरूप है एवं उसके लिए श्रीकृष्ण-माधुर्य का आस्वादन भी तदनुरूप ही हुआ करता है।

रसास्वादन के उद्देश्य से ही अनन्त भगवत्स्वरूपों में श्रीकृष्ण का आत्म-प्रकटन—

उपर्युक्त आलोचना से यह विदित होता है कि स्वीय अनन्त रस-वैचित्री को आस्वादन करने के उद्देश्य से ही रसिक-शेखर आत्मारम श्रीकृष्ण अनादि काल से अनन्त भगवत् स्वरूपों के रूप में विराजमान हैं। अनन्त भगवत्-स्वरूप रूपों से आत्म-प्रकटन करने का मुख्य उद्देश्य ही है अपनी रस-वैचित्री की आस्वादन लालसा की परितृप्ति। उन समस्त भगवत्-स्वरूपों के रूप से वे आनुषङ्गिक भाव से अनेक प्रकार के भावों के साधकों को कृतार्थ करते रहते हैं। वह इस तरह कि:—

वे अखिल रसामृत वारिधि हैं, तो भी भिन्न भिन्न लोगों की रुचि एवं प्रकृति भिन्न भिन्न होने से समस्त रस-वैचित्री में सब का चित्त आकृष्ट नहीं होता। जिस का चित्त जिस वैचित्री में आकृष्ट होता है, वह उसी वैचित्री के आस्वादन-प्राप्ति के उपयुक्त साधन-पथ का अवलम्बन करता है एवं भगवत्-कृपा से साधन में सिद्धि प्राप्त करने पर परम करुण श्रीकृष्ण निज विग्रह से उसी वैचित्री के मूर्त्तरूप से उसे दर्शन देते हैं और उस वैचित्र का आस्वादन प्रदान कर उसे कृतार्थ करते हैं। श्रीमन्महाप्रभु ने कहा है—

एकइ ईश्वर भक्तेर ध्यान अनुरूप।
एकई विग्रह धरे नानाकार रूप॥
(श्रीचै० च० २-६-१४१)

नारदपञ्चरात्र में भी यही बात कही गई है:—

मणिर्यथाविभागेन नीलपीतादिभिर्युतः।
रूपभेदमवाप्नोति ध्यानभेदात्तथाच्युतः॥

—वैदूर्य्यमणि जैसे विभाग-भेद से नीले पीले आदि रंगों से युक्त होकर दीखती है, उसी प्रकार अच्युत श्रीकृष्ण भी भक्तों के ध्यान-भेद से भिन्न भिन्न भगवत्-स्वरूपों में प्रीतिभात होते हैं।

परिकर रूप से भी श्रीकृष्ण का रसास्वादन—

परिकर रूप से भी श्रीकृष्ण रस-वैचित्री का आस्वादन कर रहे हैं, प्रत्येक भगवत्-स्वरूप के परिकरवृन्द अपने चित्त में विकशित, भगवत्-

प्रेम द्वारा सेवा करते हुए उस भगवत्-स्वरूप को जैसे रस-आस्वादन कराते हैं, उसी प्रकार वे स्वयं भी उस भगवत्-स्वरूप के माधुर्य का आस्वादन करते हैं। वे अपनी विकशित प्रीति के अनुरूप भाव से स्वयंरूप श्रीकृष्ण के माधुर्यादि का भी आस्वादन करते हैं। इस प्रकार अनन्त भगवत्-स्वरूपों के परिकरवृन्द भी परब्रह्म श्रीकृष्ण की अनन्त रस वैचित्री का ही आस्वादन कर रहे हैं। नित्य परिकरवृन्द श्रीकृष्ण की स्वरूप शक्ति के या श्रीकृष्ण के ही आविर्भाव-विशेष है। इसलिए श्रीकृष्ण ही अनन्त भगवत् स्वरूपों के रूप में एवं स्वयं रूप के परिकरवृन्द के रूप में भी स्वीम अनन्त रस-वैचित्री का ही आस्वादन कर रहे हैं।

रसास्वादन में श्रीकृष्ण जीव-शक्ति की अपेक्षा नहीं रखते—

उपर्युक्त आलोचना में केवलमात्र स्वरूप शक्ति के मूर्त्तरूप नित्य परिकर की बात कही गई है क्योंकि लीलारस आस्वादन के लिए आत्माराम श्रीकृष्ण एकमात्र अपनी स्वरूप शक्ति की ही अपेक्षा रखते हैं। नित्य परिकरों में नित्य-मुक्त जीव भी हैं। वे स्वरूप-शक्ति की कृपा प्राप्त हैं। किन्तु तत्त्वतः स्वरूप-शक्ति न होकर जीव-शक्ति ही हैं, इसलिए लीलारस आस्वादन करने के लिए केवल निज स्वरूप शक्ति की सहायता ग्रहण करने वाले आत्माराम श्रीकृष्ण उनकी अपेक्षा नहीं रखते। उनके ऊपर वे निर्भर नहीं रहते। लीला में सेवा देकर एवं सेवा ग्रहण कर श्रीकृष्ण उन्हें अवश्य कृतार्थ करते हैं,

ब्रज के सुबल–मधुमङ्गलादि, नन्द-यशोदादि, श्रीराधा-ललितादि परिकरों की रागात्मिका भक्ति है, जो स्वातन्त्र्यमयी है। इस रागात्मिका–भक्ति में जीव का अधिकार नहीं है। अतः रागात्मिका भक्ति के परिकरों में मुक्त जीव नहीं रह सकते। इसलिए रागात्मिका भक्ति रस के आस्वादन के लिए भी श्रीकृष्ण को जीव-शक्ति की अपेक्षा नहीं है।

जीव स्वरूपतः कृष्ण-दास है,आनुगत्यमयी सेवा में ही दास का अधिकार है। इसलिए रागात्मिका की अनुगत रागानुगा भक्ति में ही जीव का अधिकार है। ब्रज में श्रीकृष्ण के निज नित्यपरिकरों में रागानुगा भक्ति है, उनमें भी स्वरूप शक्ति के विलासभूत परिकर हैं—जैसे श्रीरूप मञ्जरी आदि रागानुगा भक्ति की सेवा में वे ही मुख्य परिकर हैं। रसास्वादन के लिए

श्रीकृष्ण इनकी अपेक्षा रखते हैं, किन्तु जीव-शक्ति या मुक्त-जीवों की अपेक्षा नहीं रहती। उनकी सेवा ग्रहण कर श्रीकृष्ण उन्हें कृतार्थ ही करते हैं।

श्रीब्रजेन्द्रनन्दन

यह पहले कहा जा चुका है कि श्रीकृष्ण परब्रह्म, आत्माराम नित्य एवं अनादि हैं। अतः वे अज–जन्मरहित हैं। तथापि उन्हें नन्दनन्द, नन्दात्मज ब्रजेन्द्रनन्दन, यशोदा–तनय आदि नामों से अभिहित किया जाता है, क्यों? वे यदि किसी की सन्तान हैं—उनके मातपिता यदि हैं, तो फिर वे अज, अनादि, नित्य क्योंकर हो सकते हैं? परब्रह्म, स्वयंभगवान् उन्हें कैसे कहा जा सकता है? प्रकटलीला में यह देखा भी जाता है कि नन्द-यशोदा से उनका जन्म हुआ है, इस सम्बन्ध में कुछ आलोचना करते हैं।

वात्सल्य-रसास्वादन-निमित्त पिता-माता का प्रयोजन है—

श्रीकृष्ण रसस्वरूप–रसिकशेखर हैं। वे अशेष-रस-वैचित्री का आस्वादन करते हैं। रसों में एक रस है—वात्सल्य रस। सन्तान के प्रति पिता-माता की जो स्नेह-ममता है, उसे 'वात्सल्य' कहते हैं। वह वात्सल्य किसी अवस्था–विशेष में परमास्वाद्य रसरूप में परिणत होता है। पिता–माता ही उस वात्सल्य के आधार हैं। अतः पिता-माता के बिना किसी के लिये भी वात्सल्य रस का आस्वादन सम्भव नहीं—श्रीकृष्ण के लिए भी नहीं। अतएव वात्सल्य-रसास्वादन करने के लिये अज–श्रीकृष्ण के लिये भी पिता-माता की प्रयोजनीयता है। किन्तु उनका कोई सचमुच पिता-माता नहीं है, हो भी नहीं सकता; कारणकि वे अज, नित्य हैं। ऐसा होने पर भी वे वात्सल्य रस का आस्वादन करते हैं—परिकर की सहयोगता से।

परिकरस्वरूप श्रीनन्द-यशोदा का पितृ-मातृत्व अभिमान-वशतः ही है, श्रीकृष्ण के जन्म-वशतः नहीं—

श्रीकृष्ण के असंख्य परिकर हैं। उनमें एक व्यक्ति का नाम श्रीनन्द एवं एक व्यक्ति का नाम श्रीयशोदा है। श्रीकृष्ण के साथ एक सम्बन्ध का उन्हें अभिमान है—श्रीनन्द मानते हैं कि श्रीकृष्ण उनकी सन्तान, आत्मज हैं एवं वे श्रीकृष्ण के पिता हैं; और श्रीयशोदा मन में समझती हैं कि श्रीकृष्ण उसकी गर्भजात सन्तान हैं, एवं वह उनकी जननी हैं। इस प्रकार उनकी दृढ़ प्रतीति है;यहां इस प्रकार की दृढ़ प्रतीति को ही'अभिमान' कहा गया है। दूसरी ओर श्रीकृष्ण को भी तदनुरूप अभिमान है; वे मनमें मानते हैं कि नन्द-यशोदा उनके पिता-माता हैं, वे उनकी सन्तान हैं। दोनों तरफ यदि इस प्रकार की दृढ़ प्रतीति न रहे तो वात्सल्य का अस्वादन नहीं हो सकता। अतएव श्रीकृष्ण का नन्दनन्दनत्व और यशोदातनयत्व एवं नन्द-यशोदा का कृष्ण-जनक-जननीत्व है केवल अभिमानजात सम्बन्ध वास्तव जन्ममूलक सम्बन्ध नहीं। स्वयंभगवान् श्रीकृष्ण के लीलाधाम का नाम गोलोक या ब्रज है, श्रीनन्दमहाराज को श्रीकृष्ण के पिता होने से ब्रज-अधिपति या ब्रजेन्द्र कहा जाता है एवं माता यशोदा को ब्रजेश्वरी कहते हैं। इसलिए श्रीकृष्ण हुए—ब्रजेन्द्रनन्दन। श्रीकृष्ण सर्वज्ञ–ज्ञानस्वरूप हैं, फिर भी लीलारस आस्वादन कराने के उद्देश्य से उनकी लीलाशक्ति ही उनके सर्वज्ञत्व को प्रच्छन्न कर उनके चित्त में नन्दनन्दनत्वअभिमान उत्पन्न कर देती है। वस्तुतः लीलाशक्ति नन्दयशोदा के प्रेम को ऐसे अद्भुत उत्कर्ष तक ले जाती है, कि उसके प्रभाव से ही श्रीकृष्ण को इस प्रकार का अभिमान उत्पन्न हो जाता है।

परव्योम ऐश्वर्यप्रधान-धाम है। उसमें श्रीनारायण-राम-नृसिंहादि जो समस्त भगवत्स्वरूप हैं, श्रीराम के सिवाय उनमें हरएक को यह अनुभूति है कि वह भगवान् है, अतः अज हैं; उनके परिकरों में भी प्रेम का इतना उत्कर्ष नहीं है कि जिसके प्रभाव से उनका भगवत्ता-ज्ञान प्रच्छन्न हो सके। इसीलिए उनके चित्त में किसी की सन्तान होने का अभिमान स्थान नहीं पा सकता; वात्सल्यरस का आस्वादन भी उनके लिये सम्भव नहीं। परव्योम में वात्सल्यरस नहीं है।

द्वारका-मथुरा का वात्सल्य—

द्वारका–मथुरा का भाव है ऐश्वर्य-मिश्रित माधुर्य। माधुर्य की प्रधानता अवश्य है। परव्योम में भी ऐश्वर्य के साथ माधुर्य मिश्रित है, किन्तु वहां ऐश्वर्य का प्राधान्य है। द्वारका–मथुरा में माधुर्य प्रधान होते हुए भी ऐसा नहीं कि वहां का ऐश्वर्य माधुर्यमण्डित हो। द्वारका–मथुरा का ऐश्वर्य स्वतन्त्र है; अतः वह बीच बीच में माधुर्य को प्रच्छन्न कर देता है। माधुर्य की प्रधानता होने से द्वारका–मथुरा में वात्सल्य रस की अभिव्यक्ति है। इन दोनों धामों में श्रीकृष्ण के पिता-माता (अर्थात् पितृ-मातृ अभिमान-युक्त परिकर) हैं—श्रीवसुदेव-देवकी। किन्तु 'श्रीकृष्ण ईश्वर हैं, भगवान् हैं' यह अनुभूति समय समय पर उनके चित्त में जाग्रत होती रहती है; और उनका वात्सल्य संकुचित हो जाता है एवं आस्वाद्यत्व भी फीका पड़ जाता है।

ब्रज में शुद्धमाधुर्य है—

ब्रज में शुद्धमाधुर्य का प्राधान्य है। ब्रज में माधुर्य एवं ऐश्वर्य की पूर्णतम अभिव्यक्ति होते हुए भी, माधुर्य का ही सर्वातिशायित्व है। ऐश्वर्य माधुर्य द्वारा कवलित एवं माधुर्यमण्डित है। यहां ऐश्वर्य का स्वातन्त्र्य नहीं; ब्रज का ऐश्वर्य माधुर्य के अनुगत है। अतः केवल माधुर्यपुष्टि, लीलारस–पुष्टि के लिए ही यहां ऐश्वर्य का विकाश है, वह भी माधुर्य की ओट में। यहां तक कि कोई लीलाकारी भी ऐश्वर्य को पहचानता नहीं, अर्थात् 'ऐश्वर्य के प्रभाव से अमुक लीलारस की पुष्टि हो रही है' ऐसी अनुभूति में उनमें किसी को नहीं है। यह ब्रज परिकरों के प्रेम के सर्वातिशायी उत्कर्ष का फल है। इसी उत्कर्ष का ही फल नन्द-यशोदा का अभिमान है, कि वे श्रीकृष्ण के जनक-जननी हैं एवं श्रीकृष्ण उनकी सन्तान हैं। वसुदेव-देवकी के अभिमान की तरह नन्द-यशोदा का यह अभिमान कभी संकुचित नहीं होता; यह नित्य एकभाव में विराजता है; उनके प्रेम की प्रबलता के प्रभाव से श्रीकृष्ण का नन्द-यशोदा-तनयत्वाभिमान भी तदनुरूप अक्षुण्ण रहता है। इसलिये ब्रज का वात्सल्य कभी भी संकुचित नहीं होता, वरं प्रेम के स्वरूपगतधर्म–वशतः उत्तरोत्तर–वर्द्धित–माधुर्य का विकाश करते हुए अपूर्व एवं अनिर्वचनीय आस्वादन–चमत्कारिता को धारण करता है। इस तरह का निर्मल विशुद्ध वात्सल्यरस आस्वादन कर श्रीकृष्ण भी अपरिसीम-आनन्द

(मानसानन्द) प्राप्त करते हैं। द्वारका-मथुरा का वात्सल्य समय-समय पर संकुचित होजाता है, अतः वहां के वात्सल्य रस की अपेक्षा व्रज के वात्सल्य रस का उत्कर्ष अनेकाधिक है। केवल वात्सल्य ही नहीं, द्वारका-मथुरा के दास्य, सख्य, मधुररस भी समय-समय पर ऐश्वर्य द्वारा संकुचित होकर आस्वाद्यत्व का लोप कर देते हैं। व्रज में इस प्रकार के सङ्कोच की सम्भावना नहीं है, क्यों कि व्रज में ऐश्वर्य का स्वातन्त्र्य नहीं है। अतएव व्रज में समस्त रसों की आस्वादन-चमत्कारिता का ही उत्कर्ष सर्वातिशायी है।

व्रज में ही ब्रह्मत्व का पूर्णतम विकाश है—

व्रज में रसास्वादन-चमत्कारिता के सर्वातिशायी उत्कर्ष का कारण यह है कि व्रज में आनन्दस्वरूप-रसस्वरूप परब्रह्म श्रीकृष्ण के आनन्द-स्वरूपत्व-रसस्वरूपत्व अर्थात् उनके माधुर्य का पूर्णतम विकाश है। माधुर्य के उस पूर्णतम विकाश ने श्रीकृष्ण को अपने स्वरूपज्ञान-सम्बन्ध में उन्हें मुग्ध कर रखा है, उनके परिकरों को भी उनके स्वरूपज्ञान-सम्बन्ध में उन्हें मुग्ध कर रखा है, एवं दोनों के स्वरूपज्ञान-सम्बन्ध में दोनों को ही मुग्ध कर रखा है। तात्पर्य यह है कि माधुर्य के इस पूर्ण विकाश में श्रीकृष्ण एवं उनके परिकरवर्ग अपने अपने तथा पारस्परिक स्वरूपज्ञान को भूले हुए हैं। इस आस्वादन के लिये इस प्रकार का मुग्धत्व अत्यावश्यक है—अपरिहार्य है। रस-आस्वादन के लिये इन तीन वस्तुओं की विशेष आवश्यकता रहती है—

(१) रस-आस्वादन के लिये क्रमशः-वर्धनशील उत्कण्ठामयी बलवती लालसा, (२) रस-पात्र के बिना अन्यत्र उस परम लोभनीय रस की सुदुर्लभता का ज्ञान तथा (३) रस-पात्र के निकट रस-आस्वादक श्रीकृष्ण की अकपटता-पूर्वक वश्यता। इन तीनों में एक वस्तु के भी अभाव होने पर विशुद्ध-रस का निरवच्छिन्न आस्वादन सम्भव नहीं है। श्रीकृष्ण का ईश्वरत्वज्ञान यदि श्रीकृष्ण के चित्त में विकसित रहे (जैसा कि परव्योम में रहता है)तो उक्त तीनों वस्तुओं में एक वस्तु के भी अस्तित्व की सम्भावना नहीं रहती। क्यों कि जो ईश्वर—कर्त्तुमकर्त्तुमन्यथा कर्त्तुम समर्थ है, उसके लिये अभाव किसका ? वह फिर किसके वशीभूत होगा ? और उसे प्रयोजन ही क्या ? और श्रीकृष्ण की भगवत्ता का ज्ञान यदि परिकरवर्ग में विद्यमान रहे (जैसा कि परव्योम में रहता है) तो उनके मन में प्रीतिपूर्वक सेवा-

वासना का उत्थान नहीं हो सकता ऐश्वर्य के ज्ञान से वह वासना एवं प्रीति संकुचित—शिथिल हो जाती हैं; जो श्रीकृष्ण के लिए भी लोभनीय नहीं है, यथा—

"ऐश्वर्य-शिथिल प्रेमे नहे मोर प्रीत ॥"

(श्रीचै० च० १-३-१४)

—"ऐश्वर्य से संकुचित हो जाने वाले प्रेम में मेरी प्रीति नहीं है—मैं उसके आधीन नहीं हूँ ।" किन्तु ब्रज में माधुर्य के सर्वातिशायी उत्कर्षमय विकाश ने ऐश्वर्य को कवलित-सर्वतोभावेन परिनिषिक्त, परिसिञ्चित एवं माधुर्यमण्डित कर अपने अनुगत कर रखा है और श्रीकृष्ण के एवं उनके परिकरों के चित्त से उनकी भगवत्ता के ज्ञान को दूर कर श्रीकृष्ण के चित्त को रस-आस्वादन की योग्यता एवं परिकरवर्ग के चित्त को रस-परिवेशन की योग्यता दे रखी है, तथा श्रीकृष्ण को मुग्ध कर उनके चित्त में नन्द-नन्दनत्व का दृढ़ अभिमान जाग्रत कर दिया है। श्रीकृष्ण की रस-परमलोभ-नीयता जैसी ब्रज में है, वैसी और किसी भी धाम में नहीं है। रसस्वरूप परब्रह्म के रसत्व का अर्थात् रसरूप से आस्वाद्यत्व का एवं रसिकरूप से आस्वादकत्व का चरमतम विकाश ब्रज में ही है। माधुर्य का पूर्णतम विकाश होने से अर्थात् ऐश्वर्य को वशीभूत करने में समर्थ होने से ब्रह्म के आनन्दस्वरूपत्व का भी पूर्णतम विकाश ब्रज में ही है। अतएव ब्रजविलासी श्रीकृष्ण—ब्रजेन्द्रनन्दन में ही ब्रह्मत्व का पूर्णतम विकाश है—वे परब्रह्म हैं। उनकी ब्रजलीला भी सर्वोत्तम है।

प्रकट-लीला में श्रीकृष्ण का जन्म-रहस्य—

इस ब्रह्माण्ड में प्रकट-लीला करने के लिए द्वापर में जब वे अवतीर्ण हुए, तब उनका जन्म हुआ—ऐसा कहा-सुना जाता है। किन्तु उनका यह जन्म वास्तव जन्म नहीं है। नर-लीला की सिद्धि के लिए जन्म का अभिनय मात्र ही है। नर-लीला करने के लिए श्रीनृसिंह की तरह हठात् आविर्भूत हो जाने से काम नहीं चल सकता। मनुष्य की तरह पिता-माता के योग से ही उत्पन्न हुए हैं —ऐसा ज्ञान जन-साधारण में पैदा करना होता है। इसलिए वे जन्म का अभिनय करते हैं। प्रकट-लीला में भी श्रीकृष्ण उनकी अप्रकट-लीला के परिकरों के साथ लीला करते हैं। उनको साथ

लेकर ही आविर्भूत होते हैं। उन से पहले श्रीनन्द-यशोदा आविर्भूत होते हैं। लौकिक रीति से उनका विवाहादि होता है। उसके बाद यथासमय श्रीकृष्ण आविर्भूत होते हैं। पहले वे तेज रूप से श्रीनन्दमहाराज के हृदय में प्रवेश करते हैं, फिर वहां से श्रीयशोदा के हृदय में आते हैं। फिर लौकिक दृष्टि से श्रीयशोदा के शरीर में गर्भ के लक्षण प्रकाशित होते हैं, यथा समय फिर वे नवजात नर-शिशु के रूप से आविर्भूत होते हैं—यह है जन्म-लीला का अभिनय। पिता-माता के शुक्र-शोणित से उनका जन्म नहीं होता। प्रकट–लीला में भी उनका शरीर रक्त-मांसादि से गठित नहीं होता। वे यहां भी सच्चिदानन्द-विग्रह एवं आनन्द विग्रह से विराजमान रहते हैं। अप्रकट–लीला में वे नित्य-किशोर अवस्थायुक्त रहते हैं। प्रकट लीला में बाल्य एवं पौगण्ड अवस्थाओं को भी वे किशोर अवस्था के धर्म रूप में ग्रहण करते हैं। पौगण्ड के वाद वे नित्य किशोर ही रहते हैं। प्रकट-लीला में मथुरा में कंस के कारागार में भी वे इस प्रकार जन्म-लीला का अभिनय मात्र करते है। वहां वे नर-शिशु के रूप में आविर्भूत नहीं होते। वहां वे ऐश्वर्यात्मक शंख-चक्र-गदा-पद्म धारी चतुर्भुजरूप से ही प्रकट होते हैं। क्योंकि मथुरा में माधुर्य-ऐश्वर्य मिश्रित भाव होते हुए भी ऐश्वर्य की प्रधानता एवं स्वतन्त्रता है। उस रूप को केवल उनके माता-पिता ही देखते हैं। उनकी प्रार्थना पर ही वे फिर उस चतुर्भुज को छिपा लेते हैं और नर-शिशु द्विभुज रूप में प्रकटित होते हैं। —इस प्रकार वे जन्मलीला का अभिनय मात्र ही करते हैं। वास्तव में उनका जन्म नहीं होता।

सृष्टि-तत्व

सृष्टि का मूल ब्रह्म है एवं सृष्टि-लीला अनादि है—

ब्रह्म सृष्टि का कर्त्ता है **"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते"**—इत्यादि श्रुति-वाक्य एवं **"जन्माद्यस्य यतोऽन्वयात्"** इत्यादि श्रीमद्भागवतोक्ति इसके प्रमाण हैं। सृष्टिलीला का आदि नहीं है, अनादिकाल से सृष्टि-प्रवाह चला आता है। ब्रह्माण्ड की सृष्टि होती है, और महा प्रलय में इसका ध्वंस हो जाता है—इसी तरह बार बार सृष्टि होती है और ध्वंस होती है।

लीलावश सृष्टि-प्रक्रिया है—

"लोकवत्तु लीला कैवल्यम्" (वेदान्त सूत्र २-१-३३)

केवल लीलावश ही सृष्टि-कार्य में भगवान् की प्रवृत्ति है, किसी भी कार्य-सिद्धि या प्रयोजन के लिए नहीं। वे आप्तकाम हैं, परिपूर्ण-स्वरूप हैं; उनके लिए कोई भी अभाव या प्रयोजन नहीं है और रह भी नहीं सकता। सुखोन्मत-पुरुष जैसे सुख के उद्रेक से नृत्यादि करने लगता है, उसी प्रकार स्वरूपानन्द-स्वभाव से भगवान् अन्यान्य लीलाओं की तरह सृष्टि-लीला भी करते हैं—

"सृष्ट्यादिकं हरिर्नैव प्रयोजनमपेक्ष्यतु कुरुते,
केवलानन्दाद् यथा मत्तस्य नर्त्तनम् ॥"

गोविन्दभाष्य २-१-३३

परब्रह्म की प्रत्येक लीला में करुणा है—

भगवान् का स्वभाव लीला करना है। क्यों? —लीलारस रसिक है न! और परमकरुण होने से जीवादि के प्रति करुणा प्रकाश करना भी उनका स्वभाव है। उनकी समस्त लीलाओं से आनुषङ्गिकरूप में उनकी

करुणा ही प्रकाशित होती है, करुणा-प्रकाश विषय में उनका अनुसन्धान न होने पर भी। करुणा उनकी स्वरूप-शक्ति का विलास-विशेष है। लीला की स्वरूप-शक्ति की वृत्ति है। जहां लीला है वहां स्वरूप-शक्ति है और जहां स्वरूप-शक्ति है वहां करुणा है ही। जैसे जहां अग्नि है वहां प्रकाश भी रहता है—वैसे जहां उनकी स्वरूप-शक्ति का विलास है, वहां करुणा भी रहती है। प्रश्न उठता है—सृष्टिलीला में किसके प्रति करुणा है? उत्तर मिलता है—बहिर्मुख जीवों के प्रति।

पाञ्च वस्तुएं नित्य हैं। सृष्टिलीला में जीव के प्रति करुणा है—

काल, कर्म; माया, जीव और ईश्वर—ये पाञ्च वस्तुएं हैं एवं अनादि हैं। इनको स्वीकार न करने से सब विषयों में अनवस्था-दोष उत्पन्न होता है। श्रीव्यासदेव ने ध्यान-नेत्रों से इन्हीं पाञ्च अनादि तत्वों का दर्शन किया था। इन पाञ्च नित्य वस्तुओं में काल, कर्म और माया ये तीन जड़ वस्तुएं हैं और ईश्वर चित्वस्तु—विभु-चित् तथा जीव अणुचित् अर्थात् चित्कण है। अनादि कर्म या अदृष्ट-वश कितने ही जीव श्रीकृष्ण से बहिर्मुख होकर भगवत्सेवा-सुख के लिये लालायित न होकर मायिक जगत् के सुखों के भोग निमित्त अनादि काल से भटक रहे हैं। उनके उन अदृष्टों की निवृत्ति जब तक न हो तब तक उनके लिये कृष्णोन्मुखता असम्भव है। उनके लिये श्रीकृष्ण-सेवा सुख लाभ करना भी असम्भव है। किन्तु साधारणतः भोगे बिना अदृष्टों की निवृत्ति भी सम्भव नहीं और फिर भोगायतन-देह के बिना अदृष्टों का भोग भी असम्भव है। अदृष्ट-जनित मायिका सुख-दुःख भोगने के लिए मायकि-प्राकृत भोगायतन शरीर की आवश्यकता है। प्राकृत ब्रह्माण्ड की सृष्टि के बिना मायिक भोगायतन शरीर की प्राप्ति असम्भव है। भगवान् लीलावश जब मायिक ब्रह्माण्ड की सृष्टि करते हैं, तभी वे समस्त जीव मायिक ब्रह्माण्ड में—अपने अपने अदृष्टानुरूप भोगायतन-शरीर को प्राप्त कर कर्मफल भोगने का अवसर पाते हैं तथः मायिक ब्रह्माण्ड की दुःख-यन्त्रणा से पीड़त होकर उसे कृष्ण-बहिर्मुखता का फल अनुभव कर कृष्णोन्मुखता को प्राप्त करते हैं एवं श्रीकृष्ण-सेवा प्राप्ति के उपयोगी साधन-भजन का सुयोग पाकर वे जीव धन्य हो सकते हैं, अन्यथा नहीं। सृष्टि-ब्रह्माण्ड में यह समस्त सुयोग ही जीवों के प्रति भगवान् की करुणा का परिचायक है।

प्रश्न हो सकता है कि क्या जीवों को अदृष्ट भोग कराने का सङ्कल्प लेकर भगवान् सृष्टि करते हैं ? —नहीं, यह भी उनका सङ्कल्पित-उद्देश्य नहीं है। किन्तु उनकी स्वरूपानुबन्धि-करुणा के विकाश से यह उद्देश्य स्वतः सिद्ध होता है; —हम बहिर्मुख जीव हैं, अतः हमें तो यही निश्चय करना है कि हमारी अदृष्ट-निवृत्ति के लिए ही परमश्रीकृपालु भगवान् वैचित्रीमय सृष्टि करते हैं। श्रीमद्भागवत् (११-३-३) में नवयोगेन्द्रों ने श्रीनिमि महाराज से भी यही कहा है—

एभि र्भूतानि भूतात्मा महाभूतैर्महाभुज।
ससर्जोच्चवचान्याद्यः स्वमात्रात्म प्रसिद्धये॥

"हे महाभुज ! सर्वभूतात्मा आद्यपुरुष ने इन समस्त महाभूतों द्वारा, अपने अंशभूत जीवों के विषयभोग के निमित्त एवं मुक्ति के लिये देवतिर्यगादि भूतसमूह की सृष्टि की है।

सृष्टि के विषय में सांख्यमत—

यहां यह कहा गया है कि ईश्वर जगत् की सृष्टि करने वाला है, किन्तु सांख्यदर्शन कहता है—प्रकृति सृष्टि का कारण है। उपर्युक्त पांच नित्य वस्तुओं में जो माया है, उसका नाम प्रकृति है। जगत् का उपादान कारण तथा निमित्त कारण या कर्त्ता भी प्रकृति है। सत्व, रजः एवं तमः—इन तीन गुणों का समवाय ही प्रकृति या माया है। इस जगत् में हम अनेक प्रकार की वस्तुएं देखते हैं और उनके उपादान भी अनेक प्रकार के देखते हैं। किन्तु एक ही प्रकृति कैसे अनेक प्रकार की वस्तुओं के अनेक प्रकार के उपादान में परिणत होती है ? —इस का उत्तर सांख्याचार्यगण देते हैं कि—प्रकृति स्वतः परिणाम-शीला है। प्रकृति अचेतन जड़वस्तु होते हुए भी इसका यही वस्तुगत या स्वरूपगत धर्म है कि यह अपने आप ही विभिन्न वस्तुओं के विभिन्न उपादान रूप में परिणत हो सकती है। विभिन्न वस्तुओं के विभिन्न आकारादि में भी परिणत हो सकती है। इसलिए विभिन्न आकारादि बनाने के लिए और किसी निमित्त कारण या कर्त्ता का प्रयोजन नहीं है। स्वतः परिणाम शीला होने से प्रकृति जैसे उपादान कारण बन सकती है, उसी प्रकार निमित्त कारण भी।

जगत् का कारण ईश्वर है—

सांख्यदर्शन कहता है, "प्रकृति ही जगत् की सृष्टि का कारण है।" किन्तु वैष्णवाचार्यों का सिद्धान्त यह है कि जड़ प्रकृति जगत् का उपादान कारण नहीं हो सकती और न ही निमित्त-कारण हो सकती है। क्यों कि वस्तुतः प्रकृति स्वतः परिणाम शीला ही नहीं है। यदि परिणाम शीलता इसका स्वरूपगत धर्म होता तो महाप्रलय के बाद साम्यावस्था में कैसे स्थिर हो जाती है? तब उसकी साम्यावस्था भी किसी दूसरी अवस्था में परिणत हो जाती। परन्तु शास्त्र कहता है कि पुनः सृष्टि के आरम्भ होने तक सुदीर्घकाल तक प्रकृतिसाम्यावस्था में अवस्थित रहती है। अतः प्रकृति स्वतः परिणाम-शीला नहीं हो सकती। अकेली प्रकृति अपने आप जगत् की परिदृश्यमान असंख्य वस्तुओं के असंख्य उपादानों में परिणत नहीं हो सकती है और न ही अपने आप परिदृश्यमान वस्तुओं के विभिन्न आकारदि में परिणत हो सकती है। विशेषतः जगत् जिस वैचित्री से परिपूर्ण है, वह वैचित्री बुद्धि एवं विचार के बिना सम्भव नहीं हो सकती। अचेतन वस्तु प्रकृति में विचार बुद्धि नहीं है। अतः अचेतन प्रकृति इस वैचित्रीमय जगत् की कर्त्ता भी नहीं हो सकती, न ही निमत्त कारण। ईश्वर ही जगत् के कारण हैं। ईश्वर की शक्ति से ही प्रकृति कारणरूप में परिणत होती है। ईश्वर की शक्ति ही सृष्टि का मुख्य उपादान-कारण है एवं गुणमाया गौण उपादान-कारण है। तथा ईश्वर की शक्ति ही मुख्य निमित्त-कारण है और जीवमाया गौण निमित्त- कारण है।

माया और जीव—

बहिर्मुख-जीव अनादि-बहिमुखता के कारण अनादिकाल से श्रीकृष्ण-बहिर्मुख हो गया है। अतः वह यह नहीं जानता कि श्रीकृष्ण ही सुख स्वरूप हैं। उसने मायिक-जगत् के सुख की ओर मुख कर रखा है, और मनमें वह सोचता है कि मायिक-जगत् में ही उसकी चिरकालीन सुखवासना की तृप्ति होगी। इसी भ्रांतिवश उसने मायिक-जगत् की अधिष्टात्रीदेवी माया के चरणों में आत्मसमर्पण कर दिया है। तथा माया भी—ईर्षाभाव से ("सुखस्वरूप श्रीकृष्ण को भूलकर मायिक सुख भोगना चाहता है। अच्छा आ! मायिक सुख का मजा कैसा है? एकबार चाख के देख" —इस प्रकार के भाव से) बहिर्मुख जीव को अङ्गीकार कर

उसकी बुद्धि को मुग्ध करती हुई उसके स्वरूप की स्मृति को आच्छन्न कर देती है एवं शरीर में ही आत्मबुद्धि उत्पन्न कर देती है। जिससे जीव अनन्य-चित होकर कुछ काल मायिक-सुख भोगकर उस मायिक-सुख के स्वरूप की अकिञ्चितकरता (तुच्छता) अनित्यता (क्षणभंगुरता) एवं दुःखसंकुलता को अनुभव करता है। वस्तुतः अनुभव किये बिना मायिक सुख-दुःख की तीक्ष्णता जानी भी नहीं जा सकती। फिर वह जीव अनासक्त अवस्था तथा भगवदुन्मुखता को प्राप्त करता है। वस्तुतः अनादि-बहिर्मुख जीव की विषय-भोग-लालसा की तीव्रता को प्रशमित करने के लिये भगवद्दासी माया उसको विषय भोग कराती है, बीच-बीच में अशेष यन्त्रणा देती है, जिससे कि दुःखसंकुल संसारसुख के प्रति उस भ्रान्त-जीव को वितृष्णा उत्पन्न हो और वह नित्यसुख-स्वरूप श्रीभगवान् के सन्मुख हो सके।

परिणामवाद तथा विवर्तवाद—

छान्द्योगोपनिषत् (३-१४) में कहा गया है—"**सर्वं खल्विदं ब्रह्म**" —जो कुछ दीखने में आता है, वह समस्त ब्रह्म है। यह पहले कहा जा चुका है कि ब्रह्म सशक्तिक मूल-तत्व है एवं त्रिभेद-शून्य आश्रय-तत्व है। अतएव ब्रह्मातिरिक्त किसी वस्तु की भी कहीं स्थिति सम्भव नहीं हो सकती, सब कुछ स्वरूपतः ब्रह्म ही है। विशेषतः, ब्रह्म या ईश्वर की शक्ति एवं प्रकृति ही जब जगत् के कारण हैं, और प्रकृति भी जब ब्रह्म की बहिरङ्गा-शक्ति है, तब यह सहज में जाना जा सकता है कि ब्रह्म की शक्ति ही जगत्-रूप में परिणत हो रही है। वस्तुतः शक्ति और शक्तिमान परस्पर अनुप्रविष्ट हैं। मायाशक्ति से अनुप्रविष्ट ब्रह्म ही अपनी अचिन्त्यशक्ति के प्रभाव से जगत्-रूप में परिणत हुआ है। इसे **परिणामवाद** कहते हैं और इसी मत का समस्त वैष्णवाचार्यों ने अनुमोदन किया है। परन्तु जिन्होंने ब्रह्म को निःशक्तिक स्वीकार किया है, वे उसके द्वारा सृष्टि-कार्य भी असम्भव मानते हैं। उनका मत है "वस्तुतः जगत् का अस्तित्व ही नहीं है। भ्रांति मात्र है। जो कुछ दीखता है, सब कुछ मिथ्या है, इन्द्रजाल की तरह वह दिखाई देता है" इस मत को **विवर्तवाद** कहते हैं। ब्रह्म को निराकार मानने से वे जगत् को ब्रह्म की परिणति भी नहीं मानते। इस विषय की विषद्-आलोचना का यहां स्थानाभाव जानकर वैष्णवाचार्य-

मतानुकूल इतना ही वक्तव्य है कि 'जगत् भ्रांति नहीं, इसका अस्तित्व है एवं यह ब्रह्म की परिणति है।'

सृष्टि–क्रम

प्रकृति, काल, कर्म एवं जीव को लेकर भगवान् सृष्टि-लीला का निर्वाह करते हैं। सृष्टि के प्रारम्भ में **कारणार्णवशायी-पुरुष** (ईश्वर) दूर से प्रकृति के प्रति दृष्टिपात करते हुए उसमें (परिणति-दायिनी) शक्ति सञ्चार करते हैं. जिससे प्रकृति विक्षुभित हो जाती है, उस विक्षोभित प्रकृति में ईश्वर स्व-स्वकर्म-फल सहित समस्त जीवों को(जो महाप्रलय में सूक्ष्मरूप से ईश्वर के आश्रित होकर अवस्थान करते हैं) निक्षेप करते हैं। फिर ईश्वर-प्रेरित काल, कर्म एवं प्रकृति के स्वभाव से उनकी परिणति होने लगती है। इस तरह जीव के अदृष्ट के अनुकूल जो प्रकृति का पहला विकार है,उसे **महत्तत्व** कहते हैं। उस महत्तत्व में प्रकृति के सत्व, रज: एवं तम: तीनों गुण रहते हैं, काल-कर्म-स्वभाव के प्रभाव से महत्तत्व में सत्व एवं रजोगुण की प्रधानता रहती है। सत्व का धर्म ज्ञान-शक्ति एवं रज: का धर्म क्रिया-शक्ति महत्तत्व में रहने से महत्तत्व को क्रिया-ज्ञान-शक्तिमय उपादान-विशेष कहा गया है। उस महत्तत्व से **त्रिगुण-अहङ्कार** की उत्पत्ति है।

फिर **तामस-अहङ्कार** के विकार से क्रमश: पञ्च-तन्मात्रा (शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध) एवं पञ्चतन्मात्रा के स्थूलरूप या आश्रय **पञ्च-महाभूत** (आकाश, वायु, तेज, जल एवं पृथ्वी) यथाक्रम उत्पन्न होते हैं। यहां जो आकाशादि पञ्च-महाभूत कहे हैं उनसे परिदृश्यमान आकाशादि के सूक्ष्म-उपादान से तात्पर्य है।

सात्विक-अहङ्कार के विकार से **मन** (मन का उपादान) एवं मन का अधिष्ठाता **चन्द्र** (ईश्वराधीन शक्ति-विशेष) उत्पन्न होते हैं; तथा पञ्च-ज्ञान-इन्द्रियों के एवं पञ्च-कर्म-इन्द्रियों के अधिष्ठाता दसों देवता (सूर्य, दिशा, अश्विनीकुमार, वर्ण, वायु, अग्नि, इन्द्र, वामन, यम एवं प्रजापति) उत्पन्न होते हैं, जो ईश्वराधीन शक्ति-विशेष हैं। ये उन इन्द्रियों को कार्य करने की शक्ति प्रदान करते हैं।

राजस-अहङ्कार के विकार से पञ्च-ज्ञान-इन्द्रिय (चक्षु, कर्ण, नासिका जिह्वा एवं त्वक्) पञ्च-कर्म-इन्द्रिय (वाक, पाणि, पाद, पायु एवं उपस्थ) उत्पन्न होते हैं। पञ्च-तन्मात्रा, पञ्च-महाभूत, दस-अधिष्ठाता देवता एवं दस-इन्द्रियगण, ये समस्त पहले पृथक्-पृथक् अवस्थान करते हैं। उनको सम्मिलित करने के लिए ईश्वर फिर संहनन-शक्ति का सञ्चार करते हैं, जिससे **भौतिक-हेम-अण्ड** की (ज्योतिर्मय-अण्ड की) उत्पत्ति होती है, जो बहुत काल तक जल सागर में वेष्टित रहता है। इस जल-सागर का तात्पर्य परिदृश्यमान जल-सागर से नहीं है, किन्तु यहां तुषारवत् कोई एक सूक्ष्म वाष्पीय पदार्थ से तात्पर्य है जो समग्र अण्ड को वेष्ठन किये रहता है। कालक्रमानुसार संहनन-शक्ति की क्रिया से वहहे म-अण्ड परिघूर्णवश तरलता एवं फिर कठिनता को प्राप्त हो जाता है। उसके कुछ अंश मूल–अण्ड से घूर्णनवश विच्छिन्न होकर परिणतिदायिनी-शक्ति एवं संहनन-शक्ति की क्रिया रखते हुए असंख्य अण्डों के रूपों में परिणत हो जाते हैं। प्रत्येक अण्ड में ईश्वर की शक्ति केन्द्राभिमुखिनी-शक्ति रूप से क्रिया करने लगती है। उस केन्द्राभिमुखिनी-शक्ति के अधिष्ठाता को **गर्भोदशायी-पुरुष** कहते हैं, जो कारणार्णवशायी-पुरुष का ही एक स्वरूप हैं एवं वे प्रत्येक अण्ड में अवस्थान करते हैं। सहस्राधिक वर्ष पीछे सर्वप्रथम ब्रह्मा की सृष्टि होती हैं। गर्भोदशायी-पुरुष ब्रह्मा में शक्ति-सञ्चार कर उसके द्वारा पूर्वसृष्ट–उपादानादि की सहायता से जीवों के अदृष्टानुकूल भोगायतन–शरीरों एवं भोग्यवस्तुओं की सृष्टि करते हैं। संहनन-शक्ति की क्रिया से महाभूतादि भी ईश्वराधिष्ठित काल-कर्म के प्रभाव से तत्तदरूपों में परिणत हो जाते हैं। इसके पश्चात् जीवमाया के प्रभाव से जीव अपने-अपने अदृष्टानुरूप भोगायतन-देहों में प्रवेश कर सृष्ट–ब्रह्माण्ड में रूप–रसादि को उपभोग करने लगते हैं। गर्भोदशायी, जीवान्तर्यामी–परमात्मा रूप से प्रत्येक जीव में अवस्थान कर जीव को कर्म-फल देते रहते हैं। यहां सृष्टि–क्रम संक्षिप्त रूप से वर्णन किया गया है, श्रीमद्भागवत् के तृतीय-स्कन्ध में इसका विषद-वर्णन जिज्ञासू–सज्जनों के लिए द्रष्टव्य है।

श्रीबलराम-तत्व

श्रीबलराम क्रियाशक्ति हैं—

श्रीबलराम स्वयं-भगवान् श्रीकृष्ण का द्वितीय स्वरूप हैं। इनमें श्रीकृष्ण की क्रिया-शक्ति की ही प्रधानता है। स्वयंरूप में श्रीकृष्ण लीलामय हैं अर्थात् लीलाशक्ति की सहायता से अन्तरङ्ग-लीलारस-आस्वादन में ही वे निमग्न हैं, क्रियाशक्तिमूलक अन्यान्य लीला-कार्य श्रीबलराम-स्वरूप से ही वे निर्वाह करते हैं।

श्रीबलराम मूल भक्तितत्व हैं—

भगवान् की चित्-शक्ति (स्वरूप शक्ति) की परिणति-विशेष ही भक्ति है— जो सेवा का प्राण है। अतः भक्ति या सेवा का मूल चित्-शक्ति है अर्थात् चित्-शक्ति ही मूल भक्ति-तत्व है। वह चित्-शक्ति ही धाम—परिकरादि के रूप से श्रीकृष्ण की अन्तरङ्ग सेवा करती है। श्रीबलराम-रूप से वह चित्-शक्ति श्रीकृष्ण की नानाविधि सेवा करती है। जब चित्-शक्ति ही मूल भक्तितत्व है और वह श्रीकृष्ण ही में अवस्थित है तब यह जाना जाता है कि सेव्यतत्व एवं सेवकतत्व भी श्रीकृष्ण के ही अन्तर्भत हैं श्रीकृष्ण के उस सेवक-तत्व का आविर्भाव ही श्रीबलराम हैं यथा—

"भक्त-अभिमान मूल श्रीबलरामे" (चै० च० १-६-७५)

श्रीबलराम की श्रीकृष्ण-सेवा—

श्रीबलराम नाना-रूपों से श्रीकृष्ण की सेवा करते हैं। वे स्वयंरूप से—ब्रज में, एवं द्वारका-मथुरा में (सङ्कर्षरूप से] श्रीकृष्ण की सदा साक्षात् सेवा करते हैं, परव्योम में चतुर्व्यूहान्तर्गत सङ्कर्षणरूप से वे श्रीकृष्ण के नारायण-स्वरूप की साक्षात् सेवा करते हैं; तथा सङ्कर्षण-

अंशांश कारणार्णवशायी, गर्भोदशायी एवं क्षीराब्धिशायी रूप से श्रीकृष्ण की इच्छा-शक्ति से प्रेरित होकर ब्रह्माण्ड का सृष्टि-आदि कार्य निर्वाह कर आज्ञापालनरूप सेवा करते हैं। शेषरूप से वे अपने मस्तक पर ब्रह्माण्ड को धारण कर सृष्टिरक्षारूप सेवा करते हैं। आसन, वसन, भूषण, माल्य, चन्दन, पादुका, छत्र, चांमर आदि श्रीकृष्ण-सेवा के जो कुछ भी उपकरण हैं— वे समस्त श्रीबलराम ही हैं। समस्त लीला के उपकरण एवं लीला के धामादिरूप से भी श्रीबलराम सर्वदा श्रीकृष्ण की सेवा कर रहे हैं।

प्रेम–तत्व

प्रेम ह्लादिनी-सम्वित्-प्रधान शुद्धसत्व की वृत्ति-विशेष है—

श्रीकृष्ण-इन्द्रियों की प्रीति की इच्छा का नाम **प्रेम है**। वह प्राकृत मन की प्राकृत वृत्ति नहीं है। वह ह्लादिनी-सम्विदंश-प्रधान शुद्धसत्व की वृत्ति-विशेष है। अतः प्रेम स्वरूपतः चित्-वस्तु है, और प्राकृत जीवों के प्राकृत मन में उसकी स्थिति असम्भव है। भगवत्कृपा से साधन-प्रभाव के फलस्वरूप जब जीव के चित्त से भुक्ति-मुक्ति की वाञ्छा आदि समस्त मलिनता निःशेषरूप से दूर हो जाये, तब उसके चित्त में शुद्धसत्व आविर्भूत होकर भक्ति या प्रेमरूप में परिणत हो सकता है अन्यथा नहीं। नित्यसिद्ध भगवत्-परिकरवर्ग के चित्त में अनादिकाल से वह प्रेम विद्यमान है।

चित्त में जब प्रेम उदय होता है, तब श्रीकृष्ण में अत्यन्त ममता उत्पन्न हो जाती है। उस ममताबुद्धि के फल से श्रीकृष्ण की भगवत्ता का ज्ञान प्रच्छन्न हो जाता है। उनके ऐश्वर्य का अनुसन्धान विलुप्त हो जाता है। भक्त फिर श्रीकृष्ण को परम-आत्मीय (जानने) लगता है। लौकिक जगत् में सखा-पुत्र-प्राणपति आदि के जीवों का जो घनिष्ट सम्बन्ध है, उससे अधिक घनिष्ठ सम्बन्ध श्रीकृष्ण के साथ उनके परिकरवर्ग का है।

इसलिए वे श्रीकृष्ण को सुखी करने के निमित्त सर्वदा लालायित रहते हैं, श्रीकृष्ण के अनिष्ट की आशङ्का में वे अत्यन्त व्याकुल हो उठते हैं; श्रीकृष्ण या श्रीकृष्ण सम्बन्धीय विषय के बिना अन्य किसी भी कार्य में उनका अनुसन्धान नहीं रहता। ध्वंस का कारण उपस्थित होने पर भी उनका प्रेम-बन्धन टूटता नहीं। प्रेम जितनी ही गाढ़ता प्राप्त करता है उतनी ही अधिक ममताबुद्धि उनकी श्रीकृष्ण के प्रति होती जाती है। श्रीकृष्ण के प्रति प्रेम की गाढ़तम अवस्था में वेदधर्म, स्वजन-आर्यपथादि एवं सर्वविध सम्बन्धों की अपेक्षा नहीं रहती।

प्रेम की परिणति—

प्रेम क्रमशः घनीभूत होते होते स्नेह, मान, प्रणय, राग, अनुराग, भाव और महाभाव नामों को प्राप्त करता है। ये समस्त प्रेम-विकाश के विभिन्न स्तर हैं, महाभाव सब से ऊँचा स्तर है। अब इन सबका संक्षिप्त लक्षण कहते हैं—

स्नेह—प्रेम जब उत्कर्ष को प्राप्त कर प्रेम के विषय (श्रीकृष्ण) की विशेष उपलब्धि करता है एवं चित्त को द्रवीभूत कर देता है—तब उसे 'स्नेह' कहते हैं। प्रेम में भी उपलब्धि है, किन्तु जैसे तेल आदि के प्राचुर्य से दीपक की ऊष्णता एवं उज्ज्वलता में अधिकता रहती है, वैसे ही प्रेम की अपेक्षा स्नेह में श्रीकृष्णोपलब्धि तथा चित्तद्रवता की अधिकता है। स्नेह के उदय होने पर श्रीकृष्ण के दर्शनादि से दर्शनादि की लालसा परितृप्त नहीं होती।

मान—जब स्नेह वृद्धि को प्राप्त होकर प्रेम के विषय का अननुभूतपूर्व नूतन-माधुर्य अनुभव करता है एवं स्वयं भी अपने भाव को गोपन करने के लिए कुटिलता धारण करता है, तब उसको 'मान' कहते हैं। स्नेह की अपेक्षा मान में ममताबुद्धि अधिक है। यह स्वार्थमूलक घृणित कुटिलता नहीं, किन्तु प्रीति की ही एक वैचित्री है। इसमें प्रेम के विषय की अर्थात् श्रीकृष्ण की तुष्टि की पुष्टि होती है।

प्रणय—जब ममताबुद्धि की अधिकता से मान और अधिक उत्कर्ष को प्राप्त करता है तो एक ऐसी अवस्था उत्पन्न होती है, जिसमें अपने प्राण मन, बुद्धि, देह एवं वेष-भूषादि के साथ प्रेम-विषय के (श्रीकृष्ण के)

प्राण, मन, बुद्धि, देह एवं वेष-भूषादि अभिन्न प्रतीत होते हैं; उसका नाम 'प्रणय' है।

राग—प्रणय की उस उत्कृष्ट अवस्था का नाम 'राग' है, जिसमें प्रेम-विषय की (श्रीकृष्ण की) प्राप्ति की सम्भावना में अत्यन्त दुःख भी सुख, एवं उनकी अप्राप्ति में अत्यन्त सुख भी अत्यन्त दुःख के रूप में प्रतीत होता है।

अनुराग—राग की जिस उत्कृष्ट दशा में सर्वदा अनुभूत प्रेम-विषय (श्रीकृष्ण) प्रतिमुहूर्त्त नवनवायमानरूप में प्रतीत होते हैं; उसे 'अनुराग' कहते हैं।

भाव—अनुराग की चरम-परिणति का नाम 'भाव' है। इसमें प्रेम-विषय की (श्रीकृष्ण की) प्राप्ति के निमित्त स्वजन-आर्यपथादि त्याग का एवं प्राण-विसर्जन का दुःख भी तुच्छ तथा परमसुखमय प्रतीत होता है।

महाभाव—भाव की ऊर्ध्वतर स्तर का नाम 'महाभाव' है। प्रेम-विकाश की इन समस्त स्तरों में अनेक वैचित्री है। महाभाव की दो स्तर हैं—'**मोदन**' और '**मादन**'। श्रीकृष्ण-मिलन में जितने प्रकार की आनन्द-वैचित्री उत्पन्न हो सकती है, उस समस्त का एकसाथ ही जहां अनुभव होता है, उस अवस्था का नाम "**मादनाख्य महाभाव**" है। इस मादनाख्य-महाभाव में अपूर्व विशेषता है। श्रीकृष्ण-कान्ता-शिरोमणि श्रीराधा के बिना यह मादनाख्य-महाभाव और किसी में भी अभिव्यक्त नहीं है, और तो क्या, लीला में स्वयं श्रीकृष्ण में भी उस मादनाख्य-महाभाव की अभिव्यक्ति नहीं है।

जीव के यथावस्थित देह में—साधन मार्ग में वह चाहे कितना ही उन्नत क्यों न हो—प्रेम तक ही आविर्भाव हो सकता है। स्नेह,मान, प्रणय-आदि का आविर्भाव यथावस्थित देह में सम्भव नहीं है। प्रेम-प्राप्त साधक-जीव के देह-पात होने के पश्चात् जब भगवत् लीला स्थल में उसका प्रवेश होता है,तब उस में नित्यसिद्ध परिकर के सङ्ग-प्रभाव से स्नेह,मान,प्रणयादि स्फुरित हो सकते हैं।

जीव में प्रेम का आविर्भाव—

श्रीगौराङ्ग प्रभु ने कहा है कि—

"नित्य सिद्ध कृष्णप्रेम, साध्य कभु नय।
श्रवणादि-शुद्ध-चित्ते करये उदय॥"

श्रीचै० च० २-२२-५७

अर्थात् श्रीकृष्ण-प्रेम अनादि काल से नित्य विद्यमान है। साधनादि द्वारा उत्पन्न होने वाला (जन्य-पदार्थ) नहीं है। श्रवण-कीर्तनादि साधन-भक्ति के अनुष्ठान फल से जब चित् निर्मल हो जाता है, तब उस निर्मल चित्त में प्रेम का उदय होता है। अथवा जातप्रेम-भक्त की कृपा के फल-स्वरूप प्रेम का आविर्भाव होता है। नित्यसिद्ध श्रीकृष्ण-प्रेम, ह्लादिनी की वृत्ति-विशेष होने के कारण सर्वदा श्रीकृष्ण में ही अवस्थान करता है। परमकरुण श्रीकृष्ण सर्वदा उसे भक्तवृन्दों में निक्षिप्त करते रहते हैं। जीव के मलिन चित्त में वह गृहीत नहीं हो सकता। जब श्रवण-कीर्तनादि द्वारा चित्त शुद्ध हो जाता है तभी उस निर्मल चित्त में वह गृहीत हो सकता है। अतः श्रीकृष्ण द्वारा निक्षिप्त ह्लादिनी की वृत्ति-विशेष ही भक्तहृदय में आविर्भूत होकर प्रेम नाम को धारण करती है, एवं उस से न केवल भक्त ही अपितु सारा संसार कृतार्थ हो जाता है।

श्रीराधा-तत्व

स्वरूपतः श्रीराधा ह्लादिनी की अधिष्ठात्री हैं—

श्रीराधा स्वरूपलक्षण से श्रीकृष्ण-प्रेम की विकृति अर्थात् घनीभूत अवस्थास्वरूपा हैं। ह्लादिनी का सार है प्रेम, और प्रेम का परमसार है मादनाख्य-महाभाव। श्रीराधा मादनाख्य-महाभाव-स्वरूपिणी हैं। ये मूर्तिमती ह्लादिनी शक्ति हैं। प्रेम की अधिष्ठात्री देवी हैं। श्रीकृष्ण सुखैक-तात्पर्यमयी-सेवा द्वारा श्रीकृष्ण की प्रीति विधान करना ही इनका कार्य है। ये श्रीकृष्ण कान्ता-शिरोमणि हैं।

"गोविन्दानन्दिनी राधा गोविन्द-मोहिनी।
गोविन्द सर्वस्व सर्वकान्ता-शिरोमणि॥
कृष्णावाञ्छा-पूर्तिरूप करे आराधने।
अतएव राधिकानाम पुराणे बाखाने॥"

श्रीचै० च० १-४-७१,७५

"श्रीकृष्ण के सर्वविधि आनन्द की सम्पादिका होने से श्रीराधा गोविन्दानन्दिनी हैं। रूप-गुण से, सौन्दर्य-माधुर्य से एवं विलास वैदग्ध्यादि से श्रीकृष्ण को सर्वभाव से मोहित करने से श्रीराधा, गोविन्द-मोहिनी हैं। श्रीकृष्ण की कान्ताओं में सर्व-श्रेष्ठा हैं। श्रीकृष्ण-वाञ्छापूर्ति करना ही इन की आराधना है। अतएव पुराणों में इनका नाम राधिका कहा गया है।"

श्रीराधा सर्वशक्ति-गरीयसी एवं पूर्णशक्ति हैं—

श्रीराधा षड्विध ऐश्वर्य की अधिष्ठात्री शक्ति हैं, वे सर्वशक्ति-गरीयसी हैं—समस्त सौन्दर्य की, समस्त माधुर्य की एवं समस्त कान्तिकी मूल आधार

हैं। श्रीराधा पूर्णशक्ति हैं और श्रीकृष्ण पूर्ण शक्तिमान् हैं। शक्ति और शक्तिमान् का अभेद और भेद दोनों ही स्वीकृत हैं। अभेदरूप से श्रीराधा और श्रीकृष्ण एक ही स्वरूप हैं, केवल लीलारस आस्वादन के निमित्त वे अनादिकाल से दो स्वरूपों में विराजते हैं। ह्लादिनी के मूर्तविग्रहरूप में पृथक् स्वरूप से श्रीराधा श्रीकृष्ण को लीलारस-आस्वादन कराती हैं।

श्रीराधा मूल-कान्ताशक्ति हैं—

श्रीराधा और श्रीकृष्ण एकस्वरूप होते हुए भी, लीलारस पुष्टि के निमित्त श्रीराधा में ही प्रेम की सर्वातिशायिनी अभिव्यक्ति है। श्रीराधा का प्रेम मादनाख्य-महाभाव तक उन्नत है, परन्तु श्रीकृष्ण के स्वरूप में मादनाख्य-महाभाव की अभिव्यक्ति नहीं है। जैसा श्रीकृष्ण अखण्ड रस-स्वरूप हैं, श्रीराधा भी उसी तरह अखण्ड रसवल्लभा हैं। श्रीकृष्ण जैसे स्वयं भगवान् हैं, वैसे श्रीराधा भी स्वयं मूल-कान्ताशक्ति हैं। द्वारका की महिषीगण, वैकुण्ठ की लक्ष्मीगण एवं अन्यान्य भगवत्स्वरूपों की कान्तागण इन की अंशरूपा है। श्रीकृष्ण के साथ और और भगवत्स्वरूपों का जो सम्बन्ध हैं, वही सम्बन्ध उनकी कान्ताओं का श्रीराधा के साथ है। वे श्रीकृष्ण के विलास-मूर्ति हैं, उनकी कान्तागण भी श्रीराधा की विलास-मूर्तियाँ हैं। श्रीराधा मूल कान्ताशक्ति, सर्व-शक्ति-अंशिनी एवं सर्वशक्ति-गरीयसी हैं, इसका यथेष्ठ प्रमाण भी शास्त्रों में पाया जाता है। नारद-पञ्चरात्र में श्रीमहादेव जी कहते हैं:—

"राधावामांशसम्भूता महालक्ष्मी प्रकीर्त्तिता।
ऐश्वर्याधिष्ठात्री देवीश्वरस्यैव हि नारद॥
तदंशा सिन्धुकन्या च क्षीरोदमन्थनोद्‌भुता।
मर्त्यलक्ष्मीश्च सा देवी पत्नी क्षोरोदशायिनः॥
तवंशा स्वर्गलक्ष्मीश्च शक्रादिनां गृहे गृहे।
स्वयं देवी महालक्ष्मी पत्नी वैकुण्ठशायिनः॥
सावित्री ब्रह्मणः पत्नी ब्रह्मलोके निरामये।
सरस्वतो द्विधा भूता पुरैव साज्ञया हरेः॥
सरस्वतो भारती च योगेन सिद्धयोगिनी।
भारती ब्रह्मणः पत्नी विष्णोः पत्नी सरस्वती॥

रासाधिष्ठात्री देवी च स्वयं रासेश्वरी परा ।
वृन्दावने च सा देवी परिपूर्णतमा सती ॥

नारद पञ्चरात्र २-३-६०-६५

"हे नारद—जो ईश्वर की अधिष्ठात्री देवी **महालक्ष्मी** हैं, वह श्रीराधा के वामाङ्ग से उत्पन्न हुई है । क्षीर-समुद्र मन्थन से उत्पन्न हुई सिन्धुकन्या **मर्त्यलक्ष्मी** है—जो क्षीरोदशायी की पत्नी है, वह महालक्ष्मी की अंशभूता है । इन्द्रादि देवगणों के घर घर में **स्वर्गलक्ष्मी** नाम से परिचिता हैं, वे मर्त्यलक्ष्मी की अंशभूता हैं । स्वयं महालक्ष्मी वैकुण्ठेश्वर की पत्नी है । उस ने निरामय ब्रह्मलोक में ब्रह्मा की पत्नीरूप से **सावित्री** नाम ग्रहण किया है । अनादिकाल से हरि की आज्ञा से सरस्वती देवी ने द्विविध मूर्ति ग्रहण की है—**सरस्वती** और **भारती** । भारती ब्रह्मा की पत्नी है और सरस्वती विष्णु-पत्नी है । परादेवी स्वयं रासेश्वरी रासाधिष्ठात्री श्रीराधा परिपूर्णतमा देवीरूप से श्रीवृन्दावन में विराजती हैं ।"

श्रीराधा-प्रेम सर्वातिशायी है—

भगवत्-प्रेयसीवृन्द भगवान् की अनपायिनी महाशक्ति हैं अर्थात् उनका श्रीकृष्ण से कभी भी व्यवधान नहीं होता है । श्रीभगवान् की प्रेयसी-रूपा पराशक्ति मायातीत भगवद्धाम में अवस्थान करती है । श्रीभगवान् जब जिस लीला को प्रकट करते हैं, तब वह भी अपने स्वामी की अभिलषित-लीलादि के विस्तार के लिए उनकी अनुगामिनी होती है। श्रीराधा श्रीकृष्ण-गतजीवना हैं । श्रीकृष्ण के बिना इन्हें और कुछ भी अनुसन्धान नहीं है । इन के मुख में श्रीकृष्ण कथा, नयनों में श्रीकृष्णरूप, नासिका में श्रीकृष्णाङ्ग गन्ध, तथा श्रवणों में श्रीकृष्ण वंशी ध्वनि ही सर्वदा स्फुरित होती रहती है । यथच—

कृष्ण-नाम-गुण-यश अवतंश काने ।
कृष्ण-नाम-गुण-यश प्रवाह वचने ॥
कृष्ण के कराय श्यामरस-मधुपान ।
निरन्तर पूर्ण करे कृष्णेर सर्व काम ॥
कृष्णेर विशुद्ध प्रेम-रत्नेर-आकर ।
अनुपम-गुणगण - पूर्ण कलेवर ॥

—श्रीचै० च० २-८, १४०-१२

कृष्णमयी कृष्ण यार भीतरे बाहिरे।
यांहा यांहा नेत्र पड़े तांहा कृष्ण स्फुरे॥

—श्रीचै० च० १-४-७३

जगत्-मोहन कृष्ण ताहार मोहिनी।
अतएव समस्तेर परा-ठाकुराणी॥

—श्रीचै० च० १-४-८२

श्रीकृष्ण समस्त शक्ति के, समस्त ऐश्वर्य के एवं समस्त माधुर्य के आधार हैं। वे पूर्णतम-तत्व हैं, तथापि श्रीराधिका-प्रेम सदा उन को भी नचाता रहता है यह बात श्रीकृष्ण स्वयं कहते हैं—

"पूर्णानन्दमय आमि, चिन्मय पूर्णतत्त्व।
राधिकार प्रेमे आमाय कराय उन्मत्त॥
ना जानी राधार प्रेमे आछे कत बल।
ये बले आमारे करे सर्वदा विह्वल॥
राधिकारप्रेम गुरु, आमि-शिष्य-नट।
सदा आमा नाना नृत्ये नाचाय उद्भट॥

श्रीचै० च० १-४,१०६-८

श्रीकृष्ण परम स्वतन्त्र पुरुष होते हुए भी प्रेम के वशीभूत हैं। जिस भक्त में प्रेम का विकाश जितना अधिक है, उसके निकट श्रीकृष्ण की वश्यता भी उतनी अधिक है। श्रीराधा में प्रेम का विकाश सर्वाधिक है। अतएव श्रीराधा के निकट श्रीकृष्ण की वश्यता भी सर्वाधिक है।

"कृष्णेर प्रतिज्ञा दृढ़ सर्वकाल आछे।
ये यैछे भजे, कृष्ण तारे भजे तैछे॥
एई प्रेमेर अनुरूप न पारे भजिते।
अतएव ऋणि हय कहे भागवते॥

—चै० च० २-८-१०,११

श्रीकृष्ण की सदा यह दृढ़ प्रतिज्ञा है जो उनको जिस प्रकार भजते हैं श्रीकृष्ण भी उन को उसी प्रकार भजते हैं। परन्तु गोपी-प्रेम के अनुरूप श्रीकृष्ण गोपियों को नहीं भज सकते। कारण कि वेद-धर्म कुलधर्म स्वजन-

आर्य्यपथादि सब कुछ का त्याग कर श्रीराधिकादि गोपियां जिस भाव से श्रीकृष्ण की सेवा करती हैं, तदनुरूप श्रीकृष्ण के द्वारा गोपियों का सेवन असम्भव है। इसलिये उन के निकट श्रीकृष्ण ने अपने चिर-ऋणत्व को स्वीकार करते हुए कहा है—

न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां स्वसाधुकृत्यं विबुधायुषापि वः।
या माभजन् दुर्जरगेहशृङ्खलाः संवृश्च्य तद् वः प्रतियातु साधुना॥

श्रीमद्भागवत् १०-३३-२२

अर्थात्—"हे गोपियो! दुश्छेद्य गृहशृङ्खलाओं को निशेषरूप से तोड़ कर तुम ने मेरा भजन किया है। तुम अनिन्द्य भजन-पारायण हो। देवताओं की आयु पाकर भी मैं तुम्हारे साधुकृत्य का प्रत्युपकार सम्पादन करने को समर्थ नहीं हूँ। अतएव तुम्हारे अपने साधुकृत्य से ही तुम्हारे किये हुए साधुकृत्य का प्रत्युपकार हो।" इससे गोपी प्रेम का माहात्म्य एवं सर्वश्रेष्ठा श्रीराधा का सर्वातिशायी प्रेम-माहात्म्य सूचित होता है। श्रीराधा का प्रेम श्रीकृष्ण-माधुर्य का विकाशक है। महाभावस्वरूपिणी श्रीराधिका जब श्रीकृष्ण के वामपार्श्व में विराजती हैं तब श्रीकृष्ण का माधुर्य इतना विकसित होता है कि उन के दर्शन से स्वयं मदन भी मुग्ध हो जाता है। तभी तो कहा है—

राधासङ्गे यथा भाति तदा मदनमोहनः।
अन्यथा विश्वमोहोऽपि स्वयं मदनमोहितः॥

गोविन्दलीलामृत ८-३२

गोपी-तत्व

गोपीगण श्रीराधा का कायव्यूह-रूप हैं । गोपी-शब्द का अर्थ—

कान्ता-रस-वैचित्री का उल्लास अनेक कान्ताओं के बिना नहीं होता है । इसी कारण ह्लादिनी-शक्ति ही असंख्य गोपियों के रूप में प्रकट होती है । श्रीकृष्ण की कान्तारूपा समस्त गोपीगण श्रीराधा की ही कायव्यूहरूपा हैं; अर्थात् जैसे लता के पत्र-पुष्प आदि लतारूप ही हैं, वैसे श्रीराधिका प्रेम-कल्पलता सदृश हैं और अन्य ब्रजगोपियां उनकी पत्र-पुष्प तुल्या हैं । श्रीकृष्ण का जैसे गोप-अभिमान है । वैसे श्रीकृष्णकान्तागण का भी गोपी-अभिमान है । गुप्-धातु से गोपी शब्द निष्पन्न है । गुप-धातु रक्षण अर्थ में आता है । जो श्रीकृष्ण वशीकरण–योग्य प्रेम (महाभाव) की रक्षा करती है उसे **गोपी** कहते हैं । गोपी–शब्द का साधारणतः महाभाववती श्रीकृष्णप्रेयसी-गण से ही तात्पर्य है ।

गोपी-प्रेम—

श्रीकृष्ण–सुख के बिना गोपीगण और कुछ भी कामना नहीं करती हैं । अपने सुख के प्रति उनका लेश मात्र भी अनुसन्धान नहीं है । वे जो अपने शरीर का मार्जन तथा वेष-भूषा करती हैं,उसका तात्पर्य भी श्रीकृष्ण-सुख से ही है । उन के शरीर श्रीकृष्ण-सुख के साधन हैं, उन को सुसज्जित देख कर श्रीकृष्ण सुखी होते हैं, इसलिये ही उनका साज-शृङ्गार है । वे श्रीकृष्ण सेवा परायणा हैं । प्रत्येक महाभाववती गोपी अपने को श्रीराधा की सखी मानती है । श्रीराधा की इन से एवं इनकी श्रीराधा से कुछ भी बात छिपी नहीं है । इन सखियों के द्वारा श्रीराधा-गोविन्दलीला की पुष्टि होती है ।

गोपी-प्रेम काम क्रीड़ा नहीं है—

गोपियों के साथ श्रीकृष्ण की जो कान्ताभावमयी लीला है, वह काम-क्रीड़ा नहीं है—वह ह्लादिनी-शक्ति की विलास-वैचित्री-विशेष है। उस में दर्शनालिङ्गन-चुम्बनादि जो कई एक क्रियाएं काम-क्रीड़ा के अनुरूप दीखती हैं, उन में पशुवत् सम्मिलन नहीं है। परस्पर प्रीति के आस्वादन एवं उसे प्रकाश करने के निमित्त ही उनका मिलन है। चुम्बनालिङ्गनादि उन की प्रीति-प्रकाश के द्वार मात्र हैं। जगत् में आलिङ्गन-चुम्बनादि के द्वारा पिता-माता अपने छोटे शिशुओं के प्रति प्रीति प्रकाश करते हैं और शिशु भी पिता-माता के प्रति प्रीति प्रकाश करते हैं आलिङ्गन चुम्बनादि के द्वारा। प्रीति का स्वभाव ही शिशुओं को पिता-माता के चुम्बनादि में प्रवर्तित करता है। जैसे उन के मिलन को पशुवत कामाचार नहीं कहा जा सकता उन के चुम्बनादि में कामगन्ध नहीं है। उसी प्रकार श्रीकृष्ण एवं ब्रज-गोपिकाओं के चुम्बनादि में लेश मात्र भी कामगन्ध नहीं है वह केवल प्रीति-प्रकाश है। शिशुओं के प्रति माता-पिता के उस प्रीति-प्रकाश में शिशुओं के बड़े होने पर लोकाचार देशाचार अपेक्षाजनित कुछ सङ्कोच उत्पन्न होकर उस प्रकार की प्रीति में बाधा-विघ्न उपस्थित कर देता है, परन्तु श्रीकृष्ण तथा ब्रजसुन्दरियों की प्रीति देश एवं लोकाचारादि-जनित सङ्कोच से कभी भी बाधित नहीं होती।

काम तथा प्रेम—

—काम और प्रेम में बहुत अन्तर है। काम प्राकृत मनकी वृत्ति है। काम का तात्पर्य अपनी इन्द्रियों की तृप्ति से है। जहां आत्म-इन्द्रिय-तृप्ति में किसी विघ्न की आशंका हो, काम उस उपाय को कभी अवलम्बन नहीं करता। प्रेम ह्लादिनीशक्ति की वृत्ति है। प्रेम का तात्पर्य अपनी इन्द्रियों की तृप्ति से नहीं है। उसका उद्देश्य प्रेमास्पद की प्रीति उत्पादन करना है, अर्थात् श्रीकृष्णेन्द्रियों की तृप्ति सम्पादन करना है। जैसे अग्नि अपनी दाहिकाशक्ति के द्वारा समस्त वस्तुओं को उत्तप्त करदेता है, वैसे ही प्रेम (ह्लादिनी का सार) अपनी आनन्दात्मिकाशक्ति से प्रत्येक उपाय को आनन्दात्मक बना लेता है। उसे अपने प्रकाश करने में किसी भी उपाय की अपेक्षा नहीं है।

श्रीकृष्ण-कान्ताओं के श्रीकृष्ण-विषयक-प्रेम को "**कान्तारति**" या "**मधुर-रति**" कहते हैं। मधुरा-रति तीन प्रकार की है। साधारणी, समञ्जसा, तथा समर्था। कुब्जा में साधारणी-रति है, श्रीरुक्मिणी-आदि महिषीवर्ग में समञ्जसा-रति है एवं श्रीव्रजसुन्दरियों में समर्था-रति की अभिव्यक्ति है।

साधारणी रति—

नातिसान्द्रा हरेः प्रायः साक्षाद्दर्शन-सम्भवा।
सम्भोगेच्छानिदानेयं रतिः साधारणी मता॥

उज्ज्वलनीलमणि स्था० ३०

अर्थात् जो रति अतिशय गाढ़ न हो, जो प्रायः श्रीकृष्ण-दर्शन करने से ही उत्पन्न हो एवं सम्भोगेच्छा ही जिसका निदान हो उसे 'साधारणी–रति' कहते हैं। श्रीकृष्ण-सुख-इच्छा को ही रति कहते हैं। यदि केवल अपने सुख के लिये सम्भोग-इच्छा हो उसे रति नहीं कहा जा सकता। इस साधारणी-रति में स्वसुख-वासना के साथ-साथ श्रीकृष्ण-सुखवासना भी विद्यमान रहती है। अतः इसे रति कहा गया है। स्वसुख-वासना के रहने से श्रीकृष्ण-सुखवासना में गाढ़ता नहीं आ सकती। श्लोक में "प्रायः" शब्द से यह सूचित होता है कि यह रति प्रायः श्रीकृष्ण-दर्शन से उत्पन्न होती है, किन्तु कभी कभी रूप-गुणादि सुनने से भी इसकी उत्पत्ति हो सकती है। स्वसुख-वासनामूलक सम्भोगेच्छा साधारणी-रति का हेतु होने के कारण अपनी सम्भोग-सुखेच्छा क्षीण होने पर यह रति (श्रीकृष्ण-सुख इच्छा) भी क्षीण हो जाती है। साधारणी-रति की वृद्धि प्रेम पर्यन्त है।

समञ्जसा-रति—

पत्नी–भावाभिमानात्मा गुणादि-श्रवणादिजा।
क्वचिद्भेदित-सम्भोगतृष्णा सान्द्रा समञ्जसा॥

—उज्ज्वलनीलमणि स्था ३३

—जो रति श्रीकृष्ण-गुणादि के श्रवण से उत्पन्न हो, जिस में पत्नीत्व के अभिमान की बुद्धि हो एवं जिसमें कभी कभी सम्भोग-तृष्णा भी उत्पन्न हो, उस गाढ़ रति को 'समञ्जसा-रति' कहते हैं। इस रति में केवल श्रीकृष्ण-सुखतृष्णा ही कान्तागण के पत्नीत्व का निदान है। यहां

स्वसुख-सम्भोगेच्छा गौण है। कभी जभी वयस-धर्मवश सम्भोग-तृष्णा उदय होने पर भी श्रीकृष्ण-सुखतृष्णा बलवती रहती है। निज सम्भोगेच्छा-दशामें अपने हावभावादि द्वारा श्रीकृष्ण-वश्यता का यहाँ पर अभाव है। समञ्जसा-रति की वृद्धि अनुराग की शेष सीमा पर्यन्त है।

समर्था-रति—

स्वरूपं ललनानिष्ठं स्वयमुद्बुद्धतां ब्रजेत्।
अदृष्टेऽप्यश्रुतेऽप्युच्चैः कृष्णे कुर्याद्द्रुतं रतिम् ॥

उज्ज्वलनीलमणि स्था० २६

—स्वरूपधर्मवशतः अपने आप ही जिस रतिका उदय हो, एवं बिना दर्शन तथा बिना गुणादि के सुने ही श्रीकृष्ण में जो रति द्रुतगति से गाढ़ता प्राप्त करती है उसे 'समर्था-रति' कहते हैं। तात्पर्य यह है कि जो रति श्रीकृष्ण-सुखैकतात्पर्यमयी है, जिस में स्वसुख की गन्धमात्र भी नहीं, उसे समर्थारति कहते हैं। साधारणी एवं समञ्जसा-रति से समर्था-रति में कई एक अनिर्वचनीय विशेषताएं हैं।

प्रथमतः—साधारणी-रति का उदय श्रीकृष्ण साक्षात् दर्शन से होता है। उस का निदान आत्मसुख-वासना है एवं श्रीकृष्ण से सुख प्राप्त करने के पश्चात् उसके प्रतिदानरूप में श्रीकृष्ण को सुखी करने की इच्छा विद्यमान है। अतः वह रति निर्हेतुक नहीं है। समञ्जसा-रति स्वाभाविकी होने पर भी उसमें श्रीकृष्ण-गुणादि के श्रवण की अपेक्षा है। परन्तु समर्था-रति श्रीकृष्णदर्शन एवं उनके गुण-श्रवणादि किसी की भी अपेक्षा नहीं रखती। वह स्वरूप धर्म वशतः अपने आप ही उन्मेषित होती है।

द्वितीयतः—साधारणी-रति में स्वसुखवासनामयी सम्भोगेच्छा बलवती है। समञ्जसा में भी समय समय स्वसुख-वासनामयी सम्भोगेच्छा उत्पन्न होती है। किन्तु समर्था-रतिमती ब्रजगोपियों में कभी भी स्वसुख-वासनामयी सम्भोगेच्छा उत्पन्न नहीं होती। एक मात्र श्रीकृष्ण को ही सुखी करने की वासना उन में बलवती है।

तृतीयतः—समञ्जसा-रतिमती श्रीरुक्मिणि-आदि महिषियों में भी श्रीकृष्ण-सुख-लालसा यद्यपि विद्यमान है फिर भी वे धर्म को

तिलाञ्जलि नहीं दे सकती, अर्थात् उनकी श्रीकृष्ण-सेवावासना धर्म की अपेक्षा रखती है। किन्तु समर्था-रतिमती श्रीव्रजगोपियों की श्रीकृष्ण-सेवावासना इतनी बलवती है कि लोकधर्म-वेदधर्म आदि कोई भी धर्म उनकी श्रीकृष्ण-सेवा में बाधा नहीं डाल सकता। श्रीकृष्णसुख के बिना श्रीव्रजगोपियों का अन्य कोई लक्ष्य ही नहीं है। श्रीव्रजगोपियों को दुस्त्यज स्वजन-आर्यपथादि समस्त त्याग करने की सामर्थ्य देने से एवं परम-स्वतन्त्र स्वयंभगवान् श्रीकृष्ण को सम्यक् रूप से वशीभूत करने में समर्थ होने से इस रति को समर्था-रति कहा गया है।

चतुर्थतः —साधारणी-रति सदा स्वसुखवासनामयी सम्भोगेच्छा द्वारा भेदित है। समञ्जसा-रति भी कभी कभी उस प्रकार की वासना उत्पन्न होने के कारण भेदित है। किन्तु समर्था-रति कभी भी स्वसुख–वासनामयी सम्भोगेच्छा अथवा अन्य किसी प्रकार की इच्छा के द्वारा भेदित नहीं है। तात्पर्य यह है कि जैसे कठिन पत्थर में अति सूक्ष्म सुई का अग्रभाग भी प्रविष्ट नहीं हो सकता, वैसे ही समर्था-रति में श्रीकृष्ण-सुखवासना को छोड़ कर अन्य किसी वासना के लेशमात्र का भी प्रवेश नहीं है। इसलिये समर्था-रति को गाढ़तम कहा गया है। समर्था-रति महाभाव की अन्तिम सीमा तक वर्द्धित होती है। अतएव समर्था-रतिमती श्रीव्रजगोपियों का श्रीकृष्णसुखैक-तात्पर्यमय प्रेम सर्वापेक्षा सर्वतोभावेन श्रेष्ठ है। उन में भी श्रीराधा का प्रेम सर्व श्रेष्ठ है, क्योंकि समर्था-रति की चरम परिणति मादनाख्य-महाभाव केवल श्रीराधा में ही अभिव्यक्त है।

रमण—

ह्लादिनी-शक्ति की वृत्ति-विशेष द्वारा श्रीकृष्ण एवं व्रजगोपियों के परस्पर प्रीति विधान करने का नाम "रमण" है। रमण शब्द का हेय अर्थ श्रीकृष्ण तथा उनके परिकरवर्ग के सम्बन्ध में प्रयोज्य नहीं है।

आत्मरामता—

श्रीव्रजगोपियाँ श्रीकृष्ण की ही स्वरूप शक्ति हैं। उनके साहचर्य में क्रीड़ा-रसास्वादन करने में श्रीकृष्ण की आत्मरामता ही सिद्ध होती है। कारण कि शक्ति व शक्तिमान में भेद नहीं है—एक ही स्वरूप हैं।

नित्यसिद्धा एवं साधनसिद्धा गोपी—

श्रीव्रजगोपियों को साधारणतः दो श्रेणियों में विभक्त किया जाता है—नित्य-सिद्धा तथा साधन-सिद्धा। जो अनादिकाल से कान्ताभावयुक्त होकर व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण की सेवा करती आरही हैं वे **नित्य-सिद्धा** हैं। वे स्वरूपतः ह्लादिनीशक्ति हैं। जो साधन के प्रभाव से सिद्धि लाभ करके व्रज में गोपीत्व को प्राप्त होकर नित्यसिद्ध-परिकर के साथ साथ श्रीकृष्ण सेवा करती हैं वे **साधन-सिद्धा** हैं। वे स्वरूपतः जीव-तत्व हैं। नित्यसिद्ध जीव भी हैं।

सखी एवं मञ्जरी—

सेवा के प्रकार-भेद से गोपियों को दो भागों में विभक्त किया गया है—सखी तथा मंजरी। जो गोपियां श्रीराधा की समजातीया सेवा से श्रीकृष्ण की प्रीति विधान करती हैं, उन्हें **सखी** कहते हैं।, जैसे श्रीललिता श्रीविशाखा आदि। ये सब स्वरूपशक्ति हैं। जो श्रीराधा-गोविन्द के मिलन एवं सेवा का आनुकूल्य ही सम्पादन करना अपना प्रधान कर्त्तव्य समझती हैं, उन्हें **मञ्जरी** कहते हैं। जैसे श्रीरूपमंजरी, श्रीअनङ्ग-मंजरी-आदि। ये श्रीराधा की किङ्करी हैं एवं अन्तरङ्ग-सेवा की अधिकारिणी हैं। अन्तरङ्ग सेवा में सखियों की अपेक्षा मंजरियों का अधिकार अधिक है। मंजरीगण सखीगण से न्यूनवयस्का (छोटी) हैं। ये भी स्वरूपशक्ति हैं। साधन-सिद्धा गोपीगण सब मंजरी ही हैं। मंजरीवर्ग में नित्य-सिद्ध जीव भी हैं। साधन-सिद्धा गोपीगण व्रज में सखी नहीं हो सकतीं। सखीगण सब नित्य-सिद्धा स्वरूप-शक्ति हैं। सखियों की सेवा स्वातन्त्रमयी है एवं मंजरीगण की सेवा आनुगत्यमयी है। साधारणतः दोनों को सखी कहा जाता है, कारण कि दोनों से ही लीला-विस्तार साधित होता है एवं लीला-विस्तार ही सखित्व का विशेष लक्षण है।

श्रीराधा का श्रेष्ठत्व—

यह स्मरण रखना आवश्यक है कि श्रीराधा ही व्रज की मधुर-रति का मूल उत्स हैं। श्रीराधा के साहचर्य में श्रीकृष्ण जो मधुररस आस्वादन करते हैं, सखी-मंजरीगण उसकी केवल परिपुष्टि तथा वैचित्री विधान मात्र करती हैं। किन्तु श्रीराधा के बिना अन्य समस्त सखी-मंजरी

वृन्दों की सम्मिलित चेष्टाओं से भी तदनुरूप श्रीकृष्ण की प्रीति-विधान नहीं हो सकती। इसका प्रमाण (बसन्तकालीन) रासलीला में मिलता है। शतकोटि गोपियों में जब भगवान् अपनी अचिन्त्य-लीला शक्ति से असंख्य मूर्ति धारण करके एक एक गोपी के पार्श्व में अवस्थान करते हुए रासरस का आस्वादन कर रहे थे। तब अकस्मात् किसी कारण से श्रीराधा रासस्थली से अन्तर्हित हो गईं। तब रास-स्थली निष्प्रभ होगई। रस का उत्स बन्द होगया। हृदय की क्रिया बन्द होने से जैसे देह की अवस्था हो जाती है, श्रीराधा की अनुपस्थिति से रासमण्डल की अवस्था भी वैसी हो गई। यद्यपि शतकोटि गोपियां उपस्थित थीं, तथापि श्रीकृष्ण ने चारों दिशाओं में अन्धकार ही अनुभव किया एवं विरह-ज्वाला से व्यथित होकर श्रीराधा के अनुसन्धान में रासमण्डल से अन्तर्हित हो गये। इससे श्रीराधा-प्रेम का सर्वोत्कर्ष सिद्ध होता है।

जीव--तत्व

जीव का लक्षण--

मनुष्य, पशु, पक्षी, वृक्ष, लतादि जितनी भी प्राण-विशिष्ट वस्तुएं इस परिदृश्यमान जगत् में दीखती हैं, उन सभी का देह है, जन्म तथा मृत्यु पर्यन्त हर एक का शरीर चेतन एवं अनुभूतिपूर्ण रहता है। परन्तु मृत्यु के पश्चात् उस में चेतनता एवं अनुभूति नहीं रहती। इस से यह जाना जाता है कि देह में कोई एक ऐसी वस्तु है जो उस देह को चेतन एवं अनुभूति-पूर्ण रखती है, मृत्यु के समय वह वस्तु उस देह को छोड़ कर चली जाती है और देह अचेतन एवं अनुभूतिरहित हो जाता है। वह वस्तु स्वयं भी चेतन है एवं अपने संस्पर्श से शरीर में भी चेतनता सञ्चार करती है। उस चेतन वस्तु का नाम है **"जीव"**। जो स्वयं जीवित है एवं अपर को भी जीवित रख सकता है, वही जीव है। शरीर उस जीव का आधार है—

आश्रय है। किन्तु शरीर स्वयं जीव नहीं। तथापि साधारणतः जीव-विशिष्ट देह को जीव ही कहा जाता हैं। मनुष्य एक जीव है। सिंह एक जीव है। वृक्ष एक जीव है इत्यादि। मनुष्य, पशु, वृक्षादि तो स्पष्ट देखे जा सकते हैं, किन्तु अनेक ऐसे अतिक्षुद्र जीव हैं जो अणुवीक्षणयन्त्रादि (दूरवीन) के द्वारा ही देखे जा सकते हैं। परन्तु जीवात्मा को किसी प्रकार से भी नहीं देखा जा सकता। केवल चेतनामय प्रभाव के द्वारा उसका अस्तित्व अनुभव किया जाता है। मनुष्य, पशु आदि के वैशिष्ट्यादि-उपादान वैज्ञानिक परीक्षा द्वारा निर्णय किये जा सकते हैं, परन्तु जीवात्मा के उपादान का ज्ञान वैज्ञानिक परीक्षा का विषय नहीं हैं। जीवात्मा स्वरूपतः क्या वस्तु है? उसके स्वरूपगतधर्मादि क्या हैं? ये केवल शास्त्रोक्तियों से ही जाने जा सकते हैं। अब संक्षेप में उसकी कुछ आलोचना करते हैं।

जीव भगवान् की शक्ति है—

जीव स्वरूपतः भगवान् की शक्ति है। यह बात श्रीगीता तथा श्रीविष्णु पुराण के प्रमाणों से स्पष्ट है—विष्णुपुराण में कहा गया है—

विष्णुशक्तिः परा प्रोक्ता क्षेत्रज्ञाख्या तथा परा।
अविद्याकर्म-संज्ञान्या तृतीया शक्तिरिष्यते॥

—विष्णुशक्ति (स्वरूपशक्ति) पराशक्ति नाम से कही गई है। और एक शक्ति का नाम क्षेत्रज्ञा शक्ति (जीवशक्ति) है तथा तीसरी शक्ति का नाम अविद्याकर्म-शक्ति (बहिरङ्गा-मायाशक्ति) है।

जीव भगवान् की चिद्रूपा शक्ति है—

उपर्युक्त श्लोक से जाना जाता है कि जीवशक्ति, स्वरूप-शक्ति एवं माया-शक्ति की तरह एक पृथक् शक्ति है। श्रीगीता (७-५) में कहा है—

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्॥

— (ऊपर कही गई आठ प्रकार की तो मेरी अपरा-जड़ प्रकृति है) हे महाबाहो! इस से पृथक् मेरी जीवरूप परा-चेतन-प्रकृति जान, जिस से यह सम्पूर्ण जगत् धारण हो रहा है। इस से जीवशक्ति का माया-

शक्ति की अपेक्षा उत्कर्ष सूचित होता है, कारण कि मायाशक्ति जड़ है और जीवशक्ति चेतन है, चिद्रूप है। किन्तु यह चित्-शक्ति स्वरूपशक्तिरूपा चित्-शक्ति नहीं हैं।

जीवशक्ति को तटस्था शक्ति भी कहते हैं—

यह जीव-शक्ति स्वरूप-शक्ति के अन्तर्भुक्त नहीं है तथा माया-शक्ति के भी अन्तर्भुक्त नहीं है। अन्तरङ्गा स्वरूप-शक्ति तथा बहिरङ्गा माया-शक्ति में स्वकीयारूप से इस का ग्रहण न होने के कारण इसे तटस्था-शक्ति कहते हैं। चतन्यरूपा जीव-शक्ति श्रीकृष्ण की जीव-शक्ति का अंश है, स्वरूप-शक्ति का नहीं। चैतन्य होने से इसे चित्-रूपा कहा गया है।

जीव भगवान् का अंश है—

जीव भगवान् का अंश है—यह बात स्वयं श्रीभगवान् ने अर्जुन से श्रीगीता में कही है—"**ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः** 'इस देह में यह जीवात्मा मेरा सनातन अंश है।" जैसे सूर्य के साथ सम्बन्ध की अपेक्षा रखने से किरण को सूर्य का अंश कहा जाता है, वैसे ही श्रीभगवान् से अनेक विधि सम्बन्ध को अपेक्षा रखने से जीव को श्रीभगवान् का अंश कहा गया है। श्रुति द्वारा जीवका श्रीभगवान् के साथ गति, भर्ता, प्रभु, साक्षी, निवास, शरण, सुहृद एवं माता-पिता, भ्रातादि सम्बन्ध प्रमाणित है। सभी आचार्यों ने भी यही सिद्धान्त किया हैं कि जीव श्रीभगवान् का अंश है।

प्रश्न हो सकता है कि जीव श्रीभगवान् का किस रूप में अंश हैं? —जीव माया द्वारा परिच्छिन्न-ब्रह्म का अंश नहीं हो सकता, कारण कि ब्रह्म माया के विषयीभूत नहीं है और न माया ब्रह्म को स्पर्श ही कर सकती है। अथवा छेनी द्वारा तोड़े हुए पाषाण के खण्ड की तरह भी जीव ब्रह्म का अंश नहीं हो सकता, कारण कि ब्रह्म अच्छेद्य है, विकारहीन है। अतः अन्त में यही माना गया है कि—"**तत्वञ्च तस्य तच्छक्तित्वात् सिद्धम्**" अर्थात् ब्रह्म की शक्ति होने से जीव ब्रह्म का अंश है, यही तत्व है।

प्रश्न हो सकता है कि जीव कौन सी शक्ति संयुक्त ब्रह्म का अंश है? —पहले हो यह कहा जा चुका है, कि जीव बहिरङ्गाशक्ति माया-शक्ति संयुक्त ब्रह्म का अंश नहीं है, क्यों कि श्रीभगवान् ने श्रीगीता में जीवशक्ति

को चेतन कह कर माया-शक्ति से पृथक् तथा उत्कृष्ट बतलाया है। स्वरूप-शक्ति संयुक्त ब्रह्म का भी अंश जीव नहीं है, क्योंकि ब्रह्म और जीव में स्वरूपतः भेद है, ब्रह्म स्रष्टा है—जीव सृज्य है, ब्रह्म नियन्ता है–जीव नियम्य है, जीव व्याप्य है—ब्रह्म उसका व्यापक है। यदि स्वरूपतः जीव और ब्रह्म का अभेद होता तो श्रुति-स्मृति यह सम्बन्ध कथन न करती, क्यों कि कोई भी आप स्रष्टा और आप ही सृज्य एवं आप नियन्ता और आप ही नियम्य-आदि नहीं हो सकता। अतः यह सिद्ध है कि जीव, जीवशक्ति–विशिष्ट–ब्रह्म का ही अंश है। श्रीजीवगोस्वामिपाद ने परमात्म सन्दर्भ में कहा है—"**जीवशक्तिविशिष्टस्यैव तव जीवोंऽशः न तु शुद्धस्येति**।" अर्थात् जीव, जीवशक्ति–विशिष्ट–ब्रह्म का ही अंश है, शुद्ध अर्थात् स्वरूपशक्ति समन्वित-ब्रह्म का नहीं। अन्तर्यामी होने में ही ब्रह्म का शुद्धत्व कथन किया गया है। स्वरूपशक्ति-समन्वित श्रीकृष्ण ही अन्तर्यामी हैं। अतः स्वरूप-शक्ति-समन्वित श्रीकृष्ण ही शुद्ध-कृष्ण हैं। यहाँ यह भी जाना जाता है कि जीव स्वरूपशक्ति-समन्वित श्रीकृष्ण का अंश नहीं है। अतएव जीव में स्वरूपशक्ति भी नहीं है।

प्रश्न हो सकता है कि जब स्वरूप-शक्ति श्रीकृष्ण के स्वरूप में नित्य अवस्थित और जीव-शक्ति उनके स्वरूप में अवस्थित नहीं रहती, तो श्रीकृष्ण जीव-शक्ति संयुक्त कैसे हो सकते हैं? श्रीजीवगोस्वामिपाद ने परमात्मसन्दर्भ में इसका यह समाधान किया है कि शक्तिमान श्रीभगवान् में जीव-शक्ति अनुप्रविष्ट है। इसी अनुप्रवेश होने के कारण ही भगवान् जीव-शक्ति संयुक्त हैं। फिर भी यह प्रश्न हो सकता है कि जब स्वरूप-शक्ति श्रीकृष्ण में नित्य विराजमान है और जीव-शक्ति उनमें अनुप्रविष्ट है, तो जीव-शक्ति विशिष्ट श्रीकृष्ण में भी स्वरूप-शक्ति रहेगी ही अविच्छेद्य होने के कारण। अतः जीव में भी स्वरूप-शक्ति रहनी चाहिये। इसका उत्तर यह है कि जब जीव-शक्ति भगवान् में अनुप्रवेश करती है, तब उनकी अचिन्त्य शक्ति के प्रभाव से उन की स्वरूप-शक्ति किञ्चित्मात्र भी विकसित नहीं होती, एक मात्र जीव-शक्ति ही प्रकाशित होती है। जैसे प्राकृत जगत् में भी देखा जाता है कि कोई न्यायाधीश अपने व्यक्तित्व-जीवन में परम दयालु तथा कोमल-चित् है, किन्तु जब वह न्यायालय में न्यायासन पर बैठता है, तब कानून के अनुसार न्यायपरायणता उसको आश्रय करती हैं, जिस से वह किसी के लिये प्राणदण्ड का आदेश भी दे देता है। उस समय

उस के चित् में कोमलता एवं दयालुता निद्रित सी रहती हैं और न्याय-परायणता ही उसके चित् पर पूर्ण अधिकार रखती है। इसी प्रकार जीव-शक्ति के श्रीकृष्ण में अनुप्रविष्ट होने पर स्वरूप-शक्ति नित्य अवस्थित होते हुए भी विकाश को प्राप्त नहीं होती। जैसे कि निर्विशेष ब्रह्म में स्वरूप-शक्ति का विकाश नहीं है। स्वरूप-शक्ति विकाशहीन ब्रह्म में जीव-शक्ति अनुप्रविष्ट होकर अनादिकाल से नित्य विराजशी है। इसी तत्व को श्रीजीवगोस्वामिपाद ने 'जीव शक्ति-विशिष्ट-कृष्ण' कहा है एवं इसी जीव-शक्ति विशिष्ट-श्रीकृष्ण का ही अंश जीव या जीवात्मा है।

जीव श्रीकृष्ण का विभिन्नांश है—

श्रीभगवान् के अंश दो प्रकार के हैं। स्वांश तथा विभिन्नांश। जीव श्रीकृष्ण का विभिन्नांश है तथा लीलावतार एवं गुणावतारादि विभिन्न भगवत्स्वरूप श्रीकृष्ण के स्वांश हैं। विभिन्नांश-जीव अल्पशक्तिक अर्थात् सामान्य सामर्थ्ययुक्त है, अन्यान्य भगवत् स्वरूप स्वरूप-शक्ति-विशिष्ट श्रीकृष्ण के अंश हैं। उनमें स्वरूप-शक्ति विद्यमान है। विभिन्नांश जीव में स्वरूप-शक्ति नहीं है। शास्त्रों में जीव और ब्रह्म के सम्बन्ध में सूर्य तथा उसकी किरण की उपमा दी गई है। किरण सदैव सूर्य मण्डल के बाहर रहती है। यद्यपि किरण सूर्य का अंश ही है तथापि सूर्य मण्डल के भीतर प्रविष्ट नहीं हो सकती। ऐसे ही जीव श्रीकृष्ण का अंश होते हुए भी श्रीकृष्ण-स्वरूप के भीतर प्रवेश नहीं कर सकता। तात्पर्य यह है कि स्वरूप-शक्ति-विशिष्ट श्रीकृष्ण के अंश को "विभिन्नांश" कहा जाता है। श्रीकृष्ण के परिकरगण स्वरूप-शक्ति की वृत्ति-विशेष होने से स्वांश ही माने गए हैं।

जीव का परिमाण तथा आयतन—

जीव या जीवात्मा का परिमाण क्या है?—विभु (सर्वव्यापक) है? मध्यमाकार है? अथवा अणु (अति क्षुद्र) है?—जीव विभु नहीं है, क्यों कि श्रुति द्वारा इस का आवागमन सिद्ध है। मध्यमाकार भी नहीं हैं, क्योंकि जीवात्मा कर्मफल के अनुसार कभी अतिक्षुद्र कीटादि योनि को प्राप्त होता है एवं कभी हाथी आदि विशाल शरीर को प्राप्त करता है। मध्यमाकार मानने से ऐसा असम्भव है। यदि शरीर परिमाणानुसार

जीवात्मा को भी छोटा बड़ा माना जाये तो तत्व में विरोध उपस्थित होगा, कारण कि जीवात्मा नित्य है, अविकारी है। अतएव जीवका परिमाण अणु ही है, इसका प्रमाण श्रीमद्भागवत में तथा अनेक श्रुतियों में भी मिलता है। श्रीभगवान् कहते हैं —"**सूक्ष्माणामप्यहं जीवः** श्रीमद्भागवत् (११-१६-११) तथा श्रुति कहती हैं—"**एषः अणुः आत्मा**" (मण्डुक ३-१-९)—जीव के अणुत्व का परिमाण श्रुति में इस प्रकार कहा गया है—

बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य तु।
भागो जीवः स विज्ञ यः स चानन्त्याय कल्पते ॥

श्वेताश्वतर ५-९

अर्थात् केश के अग्रभाग के यदि सौ भाग किये जायें तथा उसके प्रत्येक भाग को पुनः सौ भागों में बांटा जाये, तब उसके समान जीव का परिमाण होगा। तात्पर्य यह है कि जीव का परिमाण सूक्ष्म है। ब्रह्म विभु-चित् है और जीव अणु-चित् है। अणुचैतन्य जीव हृदय में अवस्थान करता हुआ भी समग्र शरीर में चेतनता का विस्तार कर सकता है, छान्दोग श्रुति के "**आलोमभ्य आनखाग्रेभ्यः**" (८-८-१) इस वाक्य से यह बात सिद्ध है। जीव संख्या में अनन्त है।

जीव का नित्यत्व—

श्रुति कहती है—

न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं-कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो-न हन्यते हन्यमाने शरीरे ॥

—कठ १-२-१८

—जीवात्मा का जन्म भी नहीं है और मृत्यु भी नहीं। यह जीवात्मा अज, नित्य, शाश्वत एवं पुराण है। शरीर के नाश होने पर इस का नाश नहीं होता है। इससे यह स्पष्ट है कि जीव नित्य है।

जीव का नित्य पृथक् अस्तित्व—

जीव का अणुत्व स्वरूपगत है, अतः इसका अणुत्व नित्य है—

"अन्त्यावस्थितेः च उभयनित्यत्वात् अविशेषः"

—वेदान्तसूत्र २-२-२६

मोक्ष से पूर्व एवं मोक्ष के पश्चात् दोनों अवस्थाओं में जीवात्मा के परिमाण में कोई भी पार्थक्य नहीं है। इस वेदान्त सूत्र से यह बात भी जानी जाती है कि मोक्ष दशा में भी जीवात्मा का अणुत्व रहता है, जीव कभी विभु नहीं हो सकता। प्रश्न हो सकता है कि सायुज्यमुक्ति में जीव जब ब्रह्म के साथ लय को प्राप्त होता है, तो क्या तब भी जीव विभुत्व को प्राप्त नहीं करता? उत्तर—नहीं, तब भी जीव विभुत्व को प्राप्त नहीं करता। कारण कि जीव का स्वरूप ही अणु है; किसी भी अवस्था में वस्तु का स्वरूपगत-धर्म नष्ट नहीं होता। मुक्ति में जीव की ब्रह्म के साथ तादात्मता मात्र होती है। इससे जीव का पृथक् अस्तित्व विलुप्त नहीं होता। जैसे अग्नि में एक छोटा सा लोहे का टुकड़ा अग्नि की तादात्मता प्राप्त करके अग्नि का आकार धारण करते हुए भी अपना पृथक् अस्तित्व रखता है, उसी प्रकार ही सायुज्यमुक्ति में ब्रह्म के साथ तादात्म्य प्राप्त करने पर भी जीव अणु ही रहता है। श्रीशङ्कराचार्यपाद ने भी अपने नृसिंहतापनी-भाष्य (२-५-१६१) में यह स्वीकार किया है—

"मुक्ता अपि लीलया विग्रहं कृत्वा भगवन्तं भजन्ते।"

अर्थात् मुक्तजीव भी (भक्ति की) कृपा से देह धारण करके भगवान् का भजन करते हैं। सौपर्ण श्रुति भी कहती है **"मुक्ता अपि हि एनम उपासते।"**—(सौपर्ण श्रुति) अर्थात् मुक्तपुरुष भी भगवान् को भजते हैं। तथा **"रसो वै सः। रसं ह्यं वायं लब्ध्वानन्दी भवति"** —इस श्रुति में कहा है कि ब्रह्म रसस्वरूप है, तथा रसस्वरूप ब्रह्म को पाकर जीव आनन्दी होता है। मुक्तावस्था में ही तो रसस्वरूप ब्रह्म की प्राप्ति सम्भव है, इस से पूर्व नहीं। उसको प्राप्त करके जीव आनन्दी होता है, आनन्द नहीं होता। आनन्द एक वस्तु है, आनन्दी पृथक् वस्तु है। जैसे धन एवं धनी। अतएव आनन्दी शब्द से मुक्तावस्था में भी जीव का पृथक् अस्तित्व सूचित होता है।

जीव ज्ञानस्वरूप एवं ज्ञाता है—

जीव चित्-रूप—चैतन्यस्वरूप अर्थात् ज्ञान स्वरूप है। ज्ञानस्वरूप होता हुआ भी जीव ज्ञाता है। वेदान्त सूत्र के "ज्ञः अतएव" (२-३-१८) इस सूत्र से—जीव ज्ञाता है, यह बात स्पष्ट है। श्रीजीवगोस्वामिपाद ने परमात्मसन्दर्भ में इस विषय में जो सिद्धान्त किया है, उसका सारार्थ यह

है कि ज्ञान मात्र से ही ज्ञातृत्व सिद्ध है। यह बात अवश्य है कि जीवात्मा अणु-चैतन्य है। इसलिए उसका ज्ञान भी स्वल्प है। जीव स्वल्पज्ञ है और ब्रह्म विभु-चैतन्य होने के कारण सर्वज्ञ है।

जीव में कर्तृत्व है—

"कर्ता शास्त्रार्थवत्तात्" (२-३-३३) इस वेदान्त सूत्र से यह जाना जाता है कि जीव में कर्तृत्व है। जीव अनादिकर्म फल से जब प्राकृत जगत् के सुख-भोग के लिये प्राकृत जगत् की अधिष्ठात्री माया को आत्म-समर्पण करता है, तब माया कवलित होकर जीव माया के गुणों में मुग्ध हो जाता है, यह माया में फँसा हुआ जीव जो कुछ भी करता है, सब कुछ माया के गुणों से ही प्रेरित होकर करता है, और यह जो श्रीगीता में कहा गया है कि "प्रकृति के गुण ही सब कर्म करते हैं, भ्रम वशतः मायाबद्ध जीव अपने को कर्त्ता मानता है" इसका यह तात्पर्य है कि मायामुग्ध जीव को सांसारिक कर्म करने के लिये मायिक गुणों से प्रेरणा मिलती है। यदि जीव में कर्तृत्व न माना जाय तो शास्त्र वाक्यों की निरर्थकता हो जायगी, क्यों कि जीव ही शास्त्रार्थ को जान सकता है (ज्ञानस्वरूप होने से), माया के जड़गुण नहीं जान सकते।

जीव का कर्तृत्व परमेश्वर के आधीन है—

जीव का कर्तृत्व स्वाधीन नहीं है, परन्तु परमेश्वर के कर्तृत्व के आधीन है। श्रुति वाक्यों द्वारा यह स्पष्ट है कि परमेश्वर जिसको इस लोक से उच्च लोक में लेजाने की इच्छा करते हैं उससे शुभ कर्म कराते हैं, एवं जिसे अधोगामी करना चाहते हैं उससे अशुभ कर्म कराते हैं।

यहां प्रश्न हो सकता है कि जब जीव अपनी इच्छानुसार कोई कर्म करने अथवा न करने में समर्थ नहीं हैं, तो शास्त्रोक्त विधि-निषेध की सार्थकता कैसे हो सकती है? और यदि परमेश्वर ही एक जीव को उच्चलोक-गामी करने की इच्छा से शुभकर्म एवं अपर जीव को अधोगामी करने को इच्छा से अशुभ कर्म कराते हैं, तो परमेश्वर में पक्षपात तथा निष्ठुरता प्रमाणित होंगे? इसका उत्तर श्रीव्यासदेवजी ने **"कृतप्रयत्नापेक्षस्तु विहितप्रतिषि-द्धावैयर्थ्यादिभ्यः"** (२-३-४२) इस वेदान्त सूत्र में दिया है। जीव के किये हुए धर्माधर्म-लक्षण प्रयत्न अनुसार ही परमेश्वर जीव द्वारा कार्य कराते

हैं अर्थात् जीव का धर्म की ओर या अधर्म की ओर जाने का—जैसा भी प्रयत्न रहता है, भगवान् वैसा ही कार्य कराते हैं। अत: विधि-निषेध की व्यर्थता का तो कोई प्रश्न ही नहीं उठता। धर्म एवं अधर्म के पार्थक्य से ही फल का पार्थक्य है। इस फल-पार्थक्य के लिए परमेश्वर में कोई उत्तरदायित्व नहीं है। किन्तु जीव ही स्वयं उत्तरदायी है। कारण कि जीव के हृदय में धर्म एवं अधर्म के भाव विद्यमान हैं; तथा उन भावों के अनुसार जीव का प्रयत्न (प्रयास) है, इसी प्रयास के अनुसार ही ईश्वर जीव के कर्तृत्व को प्रवर्तित करते हैं। हम देखते हैं, भिन्न-भिन्न बीजों से भिन्न-भिन्न जाति के वृक्षों की उत्पत्ति है, एवं उनके फल, फूल, स्वाद, गुण इत्यादि सब कुछ भिन्न-भिन्न हैं। किन्तु केवल मात्र बीज से ही वृक्षों तथा उनके फूल फलादि की उत्पत्ति नहीं हो सकती; उनके लिये वर्षा-जल की भी आवश्यकता है। मेघ साधारण भाव से सब जाति के बीजों पर जल बरसाता है। भिन्न-भिन्न बीजों पर भिन्न-भिन्न प्रकार का जल नहीं बरसाता। उसी एक प्रकार के जल से ही भिन्न-भिन्न जाति के वृक्ष, भिन्न-भिन्न जाति के फूल-फलादि उत्पन्न होते हैं। इस विभिन्नता का हेतु बीज है—जल नहीं। किन्तु केवल बीज से अथवा केवल वर्षा से वृक्षादि की उत्पत्ति असम्भव है। इसी प्रकार पूर्व-पूर्व कर्मों के फलानुसार मायाबद्ध जीव के चित्त में जिस कर्म की जो वासना उत्पन्न होती है, उसी वासना के अनुसार उस कर्म के लिये जीव प्रयत्न करता है। उस कर्म को सम्पादन करने की शक्ति मात्र परमेश्वर उसे देते हैं। मेघ जैसे जल-दान करके बीज को अंकुरित एवं परिपुष्ट करता है, वैसे ही जीव के अन्दर प्रयास के मूल कारण वासना रूप से जो कर्मादि सूक्ष्मरूप से रहते हैं, उनका कार्यरूप में विकाश मात्र परमेश्वर की शक्ति से होता है। हां, यदि जीव लकड़ी-लोहे की तरह इच्छा-प्रयासादि हीन होता, तो जीव के समस्त कर्मों के उत्तरदायी परमात्मा हो सकते थे। इसलिये जीव **"प्रयोज्य-कर्त्ता"** (प्रवर्तित-कर्त्ता) है, और परमेश्वर **"प्रयोजक-कर्त्ता"** (प्रवर्तक-कर्त्ता) हैं। कार्य करने की शक्तिमात्र परमेश्वर देते हैं। उसी शक्ति की परिचालना द्वारा जीव स्वयं इच्छानुसार ही कार्य करता है। अत: उस कर्मफल का भोगता भी वह स्वयं है। जैसा कर्म करता है, वैसा फल भोगता है

नगर में तारों के योग से बिजली सर्वत्र विद्यमान रहती है। निज-निज इच्छानुसार कोई उसके द्वारा बत्ती जलाता है, कोइ पंखा चलाता है

एवं कोई मशीन चलाता है। जिस स्थान पर केवल बत्ती का प्रबन्ध है और कोई प्रबन्ध नहीं, वहां उस बिजली के करण्ट से केवल प्रकाश ही होता है, पंखा-मशीनादि नहीं चलते। इसी प्रकार ईश्वर-शक्ति बिजली स्थानीय है और जीव के विभिन्न कर्म, प्रकाश-पंखा-चलनादि बिजली के कार्यरूप हैं। जीव जैसी इच्छा या प्रयत्न करता है, वैसा कर्म भी होता है, कर्म करने की शक्ति मात्र परमेश्वर देते हैं।

पर्वत से नदीरूप में जल बहता है, जीव उस जल को अपनी इच्छा से व्यवहार करता है। उसी प्रकार समस्त शक्तियों के उत्स परमेश्वर से जीव शक्ति प्राप्त करता है। उस शक्ति को जीव अपनी इच्छानुरूप-भाव से व्यवहार करता है। उसका फल एवं दायित्व जीव पर है—परमेश्वर पर नहीं। नदी का जल सर्व स्थानों पर बहता है। उससे कोई तृष्णा निवृत्त करता है, कोई खाद्य-पदार्थ बना लेता है, तो कोइ उसमें डूब मरता है तथा किसी दूसरे को डुबा देता है। इन समस्त कर्मों का दायित्व जैसे नदी पर नहीं है, वैसे ही कर्मों के फल भोगने में जीव स्वयं उत्तरदायी है—परमेश्वर नहीं। सारांश यह है कि परमेश्वर अन्तर्यामीरूप से सब जीवों के हृदय में विराजमान हैं, तथ जीवों को उनके प्रयत्नानुरूप एवं इच्छानुरूप कार्यों में प्रवर्तित करते हैं।

जीव में अणु-स्वतन्त्रता है—

भगवान् परम स्वतन्त्र हैं। जीव भगवान् का अंश है, अतः इसमें भी स्वल्प मात्रा में स्वातन्त्र्य विद्यमान है। भगवान् विभु हैं—उनका स्वातन्त्र्य भी विभु है। जीव अणु है, अतः इसका स्वातन्त्र्य भी अणु है। जीव का अणु-स्वातन्त्र्य भगवान् के विभु-स्वातन्त्र्य द्वारा नियन्त्रित है। जैसे एक गाय को रज्जु द्वारा खोंटी से बांध दिया जाता है, बन्धे रहने पर भी रज्जु की लम्बाई के घेरे में वह अपनी इच्छानुसार चल-फिर सकती है। वैसे ही जीव का मायाबद्ध स्वातन्त्र्य है। जीव का अणु-स्वातन्त्र्य यही है कि जैसे भी इच्छा वह हृदय में पोषण करना चाहे कर सकता है। किन्तु प्रत्येक इच्छानुसार कार्य करने की शक्ति जीव में नहीं है एवं तदनुरूप शक्ति भी वह ईश्वर से प्राप्त नहीं कर सकता। "सर्वकर्म फल भुकपुमान्" इस वाक्य से भी जीव का अणुस्वातन्त्र्य सूचित होता है। यदि कर्म करने की स्वतन्त्र-इच्छा जीव में न हो तो उस कर्म का उत्तरदायित्व भी जीव पर नही आ

सकता और न वह उस कर्म के फल को भोगने में बाध्य ही हो सकता है। अतः इस अणुस्वातन्त्र्य द्वारा ईश्वर प्रदत्त कर्मशक्ति का जीव अपनी इच्छा अनुसार प्रयोग कर सकता है।

जीव के अणु-स्वातन्त्र्य की प्रयोजनीयता—

उपर्युक्त आलोचना से यह जाना जाता है कि जीव में अणु-स्वातन्त्र्य है, तथा जीव उस अणु-स्वातन्त्र्य से अनेक प्रकार के कर्म उपार्जित करता है। उन कर्मों के फलस्वरूप अनेक दुःखों को भोगता है। इससे जीव के अशेष दुःखों का निदान उसका अणु-स्वातन्त्र्य ही दीखता है। प्रश्न हो सकता है कि—जब यह अणु-स्वातन्त्र्य ही जीव के अशेष दुःखों का कारण है, तो भगवान् ने जीव को अणु-स्वातन्त्र्य दिया ही क्यों? इसका उत्तर यह है कि—जीव का स्वरूपानुबन्धि होने के कारण उसका अणु-स्वातन्त्र्य अनादि है। अनादि वस्तु के सम्बन्ध में "क्यों" प्रश्न नहीं हो सकता। जीव स्वरूपतः श्रीकृष्ण नित्य-दास है। जीव के स्वरूपानुबन्धि कर्त्तव्य अर्थात् श्रीकृष्ण-सेवा में ही उसके अणु-स्वातन्त्र्य की प्रयोगता या प्रयोजनीयता है। क्योंकि यदि किञ्चित् स्वातन्त्र्य न रहे तो सेवा को वास्तविक-सेवा न कहकर यान्त्रिक-सेवा (यन्त्र का कार्य) कहा जायगा। उसमें सेवा का तात्पर्य एवं सेव्य की प्रीति-विधानता की उपलब्धि नहीं हो सकती। कुछ भी स्वातन्त्र्य न होने पर किसी सेवा की परिपाटी हर समय सम्भव नहीं है—सेव्य के मन एवं भावानुकूल-सेवा तथा समयोपयोगी-सेवा कुछ स्वतन्त्रता रहने पर ही हो सकती है। पद-पद पर आदेश की अपेक्षा रखने पर भी उस प्रकार की सेवा असम्भव है। एक दृष्टान्त द्वारा इस विषय को स्पष्ट करने की चेष्टा करते हैं।

कान्ताभाव की किसी एक दासी को उसकी गुरुरूपा सखी अथवा श्रीरूपमञ्जरी आदि मानो आदेश देती हैं कि—"जाओ श्रीप्रियाप्रीतम के लिए पुष्पमाला निर्माण कर लाओ।"—फूल कहाँ मिलते हैं; किन फूलों की माला हो, एवं कितनी लम्बी हो इत्यादि इस प्रकार का कोई भी आदेश नहीं दिया गया। यदि वह दासी उस प्रकार का कोई भी आदेश न पाने के कारण सेवा में न लगे, तो उसके लिए सेवा करना असम्भव है। इन समस्त विषयों में वह अपने स्वातन्त्र्य का प्रयोग करेगी—अपने भावानुकूल सुन्दर-

सुन्दर फूलों को चुनकर, रुचि अनुसार मनोहर माला गुन्थन करेगी—जिस से श्रीश्रीप्रियाप्रीतम प्रसन्न हों। इस दासी का यह स्वातन्त्र्य गुरुरूपा सखी आदि के आदेशानुगत है। इसलिए इस अणु-स्वातन्त्र्य को आनुगत्यमय स्वातन्त्र्य कहा जाता है।

अतः श्रीकृष्ण के नित्यदास जीव में श्रीकृष्ण की सेवा-विधान के लिए ही अणु-स्वातन्त्र्य या आनुगत्यमय-स्वातन्त्र्य की प्रयोजनीयता है। किन्तु इस अणु-स्वातन्त्र्य को देहेन्द्रियों की सेवा में नियोजित करने से मायाबद्ध-जीव उसका अपव्यवहार करता है तथा अशेष दुःख-भोग भी करता है।

जीव श्रीकृष्ण का भेदाभेद प्रकाश है—

श्रुतियों में जैसे जीव और ब्रह्म के भेद-वाचक वाक्य है, वैसे अभेद-वाचक वाक्य भी विद्यमान हैं। दोनों ही श्रुतिवाक्य, अपौरुषेय हैं, अतः समान गुरुत्वपूर्ण हैं। श्रीगौराङ्ग ने जीव और ब्रह्म का भेदाभेद सम्बन्ध निर्णय करते हुए कहा है—

"कृष्णेर तटस्था-शक्ति भेदाभेद प्रकाश"

श्रीचै० च० २-२०-१०१

सर्प एवं उसकी कुण्डली में, सूर्य एवं सूर्य-मण्डल में, अग्नि-राशि एवं क्षुद्र चिङ्गारी में जैसे भेद तथा अभेद है, उसी प्रकार जीव तथा ब्रह्म में भी भेद तथा अभेद शास्त्रों में निर्णय किया है। जीव तथा ब्रह्म स्वरूपतः चिद्-वस्तु होने के कारण दोनों में अभेद है। किन्तु ब्रह्म विभु-चित् है, जीव अणु-चित् है, ब्रह्म सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान है। जीव अल्पज्ञ, अल्प-शक्तिमान है, ब्रह्म नियन्ता है, जीव नियम्य है। ब्रह्म मायातीत है, जीव माया कवलित है। अतः ब्रह्म एवं जीव में भेद भी विद्यमान है। इसलिए ब्रह्म एवं जीव में नित्य भेदाभेद ही सिद्ध है।

जीव स्वरूपतः श्रीकृष्ण का नित्यदास है—

शक्तिमान की सेवा ही शक्ति का कर्त्तव्य है। अंशी की सेवा करना ही अंश का धर्म है। मूल-शाखा-पत्र इत्यादि वृक्ष के अंश हैं। जैसे मूल पृथ्वी से रस आकर्षण कर, तथा शाखा-पत्रादि वायु से जीवन-धारणो-पयोगी उपादान संग्रह करके वृक्ष का पुष्टि-साधन एवं शोभावृद्धि करते

हैं, वैसे ही भगवान् के अंशभूता जीव का भी यह स्वरूपानुबन्धि कर्त्तव्य है कि वह अपने अंशी की सेवा करे। अपने सम्बन्ध में किसी भी अनुसन्धान को न रखकर लोक एवं परलोक के सुख का विचार छोड़कर, तथा अपने दुःख की निवृत्ति को भी चित्त में स्थान न देकर केवल सेव्य—श्रीकृष्ण की प्रीति उत्पादन करना ही सेवा का तात्पर्य है। अतः केवल भगवत्–सुखैकतात्पर्यमयी सेवा ही जीव का स्वरूपानुबन्धि कर्त्तव्य है। सेवा क्या वस्तु है?—दास का धर्म। अतएव जीव स्वरूपतः श्रीकृष्ण का दास कहा गया है। श्रीश्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभु ने कहा है—

जीवेर स्वरूप हय कृष्णेर नित्यदास।

—श्रीचैं०च० २-२०-१०१

इस जगत् में जीव के आचरण एवं मनोवृत्ति पर भी यदि विचार किया जाये, तो भी यह अनुभव होता है कि सेवा-भाव जीव में स्वाभाविक है। जब कोई प्राणी दूसरे किसी प्राणी की किसी रूप में भी सेवा करता है, तो उसके मन में अनुभव होने लगता है कि उसने एक अच्छा काम किया है। इससे भी जाना जाता है कि सेवा-कार्य जीव का हार्द है। विचार करने पर यह भी ज्ञात होता है कि जानकर या न जानकर जगत् के समस्त जीव एक दूसरे की सेवा ही कर रहे हैं। किसान खेती के द्वारा अन्न पैदा करता है, धनी धन उपार्जन करता है। धनी धन देकर धान्य ग्रहण करता है एवं कृषक धान्य बेचकर धन उपार्जन कर लेता है। इस परस्पर के व्यवहार द्वारा एक दूसरे का उपकार होता रहता है—जिसे सेवा भी कहा जा सकता है। शूकर-कूकर आदि भी मल-मूत्रादि स्वास्थ्य-हानिकारक पदार्थों को दूर करके मनुष्य की सेवा करते हैं। चिकित्सक औषधि द्वारा रोगी की एवं रोगी धन द्वारा चिकित्सक की सेवा करता है। यहां प्रश्न हो सकता है कि इन कार्यों को वास्तविक सेवा कैसे कहा जा सकता है, जब कि इनमें अपना अपना स्वार्थ विद्यमान है तथा दूसरों के प्रति विना मूल सुख सम्पादन करने की भावना भी नहीं है। इसका उत्तर यह है कि ऐसा होने पर भी यह मानना होगा कि अपने अपने प्रयोजन की सिद्धि में प्रच्छन्नरूप से दूसरों की सेवा विद्यमान है। माया-मुग्ध जीव का आवेश मायिक शरीर एवं इन्द्रियादि में ही है। अतः उसकी स्वरूपानुबन्धिनी सेवा-वासना भी शरीर-इन्द्रियों की सेवा-वासना में रूपान्तरित हो गई है।

इसलिए जीव का अपने प्रयोजन विषय में प्रबल अनुराग है एवं उसके लिये ही वह निरन्तर प्रयास करता है। फिर भी इस प्रयास का प्रवर्तक सेवा-वासना ही है, चाहे जीव को इसका ज्ञान हो या न हो। सेवा-वासना जीव में स्वाभाविक है, किन्तु इस सेवा का लक्ष्य हो रही है— माया। माया के साथ जीव का स्वाभाविक कोई भी सम्बन्ध नहीं है। जो दीखता है वह सम्बन्ध आगन्तुक है। अतः माया का दासत्व जीव का स्वरूपगत नहीं है। भगवान् का अंश होने से, जीव का भगवान् के साथ नित्य अविच्छेद्य सम्बन्ध है। अतएव जीव स्वरूपतः भगवान् का ही दास है, अन्य किसी का नहीं। यथा—

"दासभूतो हरेरेव नान्यस्यैव कदाचन्"

प्रश्न हो सकता है कि जब जागतिक समस्त जीव श्रीकृष्ण की सेवा करते ही नहीं, तो जीव मात्र के सम्बन्ध में यह कैसे कहा जा सकता है कि "जीव नित्य श्रीकृष्णदास" है? इसका उत्तर यह है कि दासत्व का प्राण सेवा है। सेवा का प्राण सेवा-वासना है। क्योंकि इच्छाहीन सेवा का कुछ भी मूल्य नहीं है। सेवा-वासना जीव का स्वरूपगत-धर्म होने से नित्य है। इसलिये दासत्व भी नित्य सिद्ध है। यह ठीक है कि सब जीव श्रीकृष्ण की सेवा नहीं करते, किन्तु इससे उनका श्रीकृष्ण-दासत्व अन्तर्हित नहीं हो जाता। जैसा किसी वृक्ष का कोई एक पत्ता जब अपने वृक्ष से विच्छिन्न हो जाता है—चाहे उससे फिर अपने अंशी वृक्ष की कोई सेवा नहीं बन पड़ती, परन्तु जहां रहे, जिस दशा में भी रहे, अपने वृक्ष का ही पत्ता कहलाता है। अथवा जैसे कोई पतिव्रता स्त्री अपने विदेशस्थित-पति के समीप पहुंचने के लिए प्रस्थान का मार्ग भूल जाये, तो उसका सम्बन्ध अपने पति के साथ नष्ट नहीं होता, अर्थात् अपने पति की ही पत्नी मानी जाती है, उसी प्रकार जीव का श्रीभगवान् के साथ नित्यसम्बन्ध है और उसकी सेवा-वासना भी स्वाभाविक है, जिसका लक्ष्य श्रीभगवान् हैं अन्य कोई नहीं। चाहे उस सेवा-वासना का विकाश माया के आवरण से प्रतिहत होने के कारण लक्ष्य से गिर गया है, तो भी जीव जिस दशा में क्यों न रहे, उसका श्रीकृष्ण-दासत्व नष्ट नहीं होता; वह नित्य श्रीकृष्ण-दास ही है।

विचार पूर्वक देखा जाये तो जीव बिना जाने श्रीभगवान् का ही अनुसन्धान कर रहा है। जीव की सुख-प्राप्ति के लिए जो चिरन्तनी वासना है, वही इसका प्रमाण है। किन्तु संसार में इस चिरन्तनी वासना की चरम-तृप्ति नहीं हो पाती। इससे जाना जाता है कि जीव जो सुख चाहता है उसका स्वरूप वह नहीं जानता, न ही जीव उसकी प्राप्ति के उपाय का अवलम्बन करता है। फिर वह सुख मिले ही क्यों? वस्तुतः सुखस्वरूप, रसस्वरूप परतत्ववस्तु श्रीकृष्ण को पाकर ही जीव की चिरन्तनी सुख-वासना की चरम-तृप्ति हो सकती है। रसस्वरूप परतत्व-वस्तु श्रीकृष्ण के लिए जीव की यह चिरन्तनी वासना ही जीव के नित्य श्रीकृष्णदासत्व-भाव की परिचायक है। यद्यपि उसकी अनुभूति जीव को नहीं है।

यहां यह उल्लेख करना आवश्यक है कि जगत् में दासत्व के स्वरूप की जैसी धारणा बनी हुई है, श्रीकृष्ण-दासत्व का वह स्वरूप नहीं है। क्रीत-दास (मोल लिए दास) का एवं वेतन लेकर दासत्व करने वाले दास का स्वामी से एवं स्वामी का उस दास से स्वार्थ-सम्बन्ध है। दोनों का प्रयोजन अपना-अपना सुख मात्र है। पति-पत्नी की परस्पर एवं माता-पिता तथा सन्तान की परस्पर जो सेवा है, इसमें प्रीति सम्बन्ध तो है, फिर भी उसमें स्वसुख-वासना विद्यमान है एवं वे सम्बन्ध शरीर के सम्बन्ध मात्र हैं। अतः अनित्य हैं। इसलिये वे सेवा-सुख भी अनित्य हैं। किन्तु जीव का श्रीभगवान् से नित्य एवं अविच्छेद्य सम्बन्ध है। श्रीभगवान् की विस्मृति जीव को अनादि काल से हो रही है। कभी सुभाग्यवश यदि यह विस्मृति दूर हो जाये तो मेघनिर्मुक्त सूर्य की तरह श्रीभगवान् के साथ जीव के नित्य सम्बन्ध का ज्ञान अपने आप ही स्फुरित होने लगेगा। फिर जीव भगवत्सेवा के लिए लालायित हो उठेगा, क्यों कि यह सम्बन्ध का स्वाभाविक धर्म है। इस दासत्व में जागतिक-सेवा की तरह क्लान्ति, ग्लानि एवं दुःख नहीं, किन्तु निरवच्छिन्न नित्य-नवीन आनन्द ही है। इसे प्रीतिपूर्ण सेवा कहते हैं। इसका उद्देश्य एक मात्र श्रीभगवान् का सुख-विधान करना है। यह सेवा एक-तरफा भी नहीं है। भक्तजीव जैसे सर्वदा श्रीभगवान् का सुख चाहता है, श्रीभगवान् भी वैसे सर्वदा भक्त का सुख चाहते हैं। जब भक्त श्रीभगवान् को अपने प्राणों से भी अधिक प्रिय मानता है, श्रीभगवान् भी भक्त को तद्रूप प्रिय मानते हैं। भक्त जब भगवान् को छोड़ कर और कुछ नहीं जानता, तो श्रीभगवान् भी भक्त को छोड़कर और

कुछ नहीं जानते। भक्त का श्रीभगवान् के साथ "मदीयता-भाव" रहता है, जिसमें भगवत्सेवा का अपरिसीम आनन्द मिलता है।

ब्रह्म से एकता-प्राप्त कराने वाले ज्ञानमार्ग के साधक सिद्धि-दशा में निर्विशेष ब्रह्म के साथ सायुज्य-मुक्ति प्राप्त कर ब्रह्मानन्द-समुद्र में निमग्न होते हैं। अनन्तकोटि प्राकृत-ब्रह्माण्ड के समग्र सुख-राशि इस ब्रह्मानन्द के एक कण के तुल्य भी नहीं है। कारण कि प्राकृत जगत् का आनन्द प्राकृत सत्वगुण से उत्पन्न होता हैं, जो जड़ तथा अनित्य है, दुःखसंकुल एवं क्षुद्र है और ब्रह्मानन्द अप्राकृत चिन्मय, नित्य विभु है, जिसमें दुःख की गन्ध का लेश मात्र भी नहीं है। किन्तु ऐसा ब्रह्मानन्द श्रीकृष्ण-सेवानन्द-सुख के सामने तुलना में समुद्र के आगे गोपद सदृश है। क्योंकि निर्विशेष ब्रह्म में चित्शक्ति का विकाश न होने से ब्रह्मानन्द केवल आनन्दसत्तामात्र ही है, अर्थात् वैचित्रीहीन है। उसमें आस्वादन-चमत्कारित्व की वैचित्री नहीं है, और रसत्व का विकाश भी नहीं है। किन्तु परब्रह्म श्रीकृष्ण में समग्र शक्ति का परिपूर्णतम विकाश होने से आनन्द-वैचित्री का एवं आस्वादन–चमत्कारित्व का तथा रसत्व का पूर्णतम विकाश है। सेवा के द्वारा भक्त-जीव अपूर्व आस्वादन-चमत्कारतामय निखिल आनन्द-वैचित्री का एवं रस-वैचित्री का आस्वादन प्राप्त करके कृतार्थ हो सकता है। इसमें और भी एक हेतु है—वह यह कि अखिल-रसामृतवारिधि श्रीकृष्णचन्द्र अपने स्वाभाविक भक्तवात्सल्य से अपने भक्तों को अनन्त रस-वैचित्री आस्वादन कराने के लिए स्वयं भी सर्वदा उत्कण्ठित रहते हैं; और इसलिए ही उनकी विविध लीलाएं हैं—

"मद्भक्तानां विनोदार्थं करोमि विविधाः क्रिया"

यह बात निर्विशेष ब्रह्म में नहीं है, क्यों कि चित्शक्ति के विकाश का अभाव होने से निर्विशेष ब्रह्म में न तो भक्तवात्सल्य का विकाश है और न ही रस का अथवा रसमय लीला का। वहां मुक्तजीवों को आनन्द आस्वादन कराने की कोई भी चेष्टा ब्रह्म की ओर से नहीं है। ब्रह्मानन्द के स्वरूपगत धर्म वशतः ही मुक्तजीव उसका आस्वादन करते हैं, और वह भी केवल सत्ता मात्र का। इन समस्त कारणों से ब्रह्मानन्द की अपेक्षा श्रीकृष्ण-सेवानन्द सर्वातिशायी तथा परम लोभनीय है। सायुज्यमुक्ति-प्राप्त जीव का श्रीकृष्ण के साथ सम्बन्ध ज्ञान सम्यक्रूप से स्फुरित नहीं

हो पाता। इसका कारण उस सम्बन्ध विकाश के प्रतिकूल उसमें एक ऐसा भाव अवस्थित है, जो सम्बन्ध-विकाश में बाधा उत्पन्न करता है। साधन के आरम्भ से ही वह भाव इस साधक जीव में विद्यमान रहता है एवं साधारणतः मुक्तावस्था में भी वह रहता ही है। वह भाव जीव का स्वरूपानुबन्धि नहीं है—आगन्तुक है। वह भाव है—जीव-ब्रह्म वा ऐक्य-ज्ञान। जब तक वह ऐक्यज्ञान वर्तमान रहता है, तब तक जीव का स्वरूपानुबन्धि 'सेव्य-सेवक' भाव हृदय में स्थान नहीं पा सकता। किन्तु साधनकाल में यदि किसी समय किसी के चित्त में भक्तिवासना अथवा भगवत्सेवा-वासना किसी सुभाग्यवश उत्पन्न हो जाये, तो मुक्तावस्था में वही वासना स्वतन्त्रता से मुक्तजीव के उस प्रतिकूल भाव को (जीव-ब्रह्म के ऐक्यज्ञान भाव को) दूर करके सम्बन्ध-ज्ञान को सम्यकरूप से विकशित कर देती है। उसके फलस्वरूप मुक्तजीव भी श्रीकृष्ण-भजन करने लगता है, जैसा कि श्रीपाद शङ्कराचार्य ने भी कहा है—

"मुक्ता अपि लीलया विग्रहं कृत्वा भगवन्तं भजन्ते"

— नृसिंहतापनी का शङ्करभाष्य

मुक्तावस्था में ब्रह्मानन्द निमग्न जीव भगवत्-उपासना, केवल भगवत्सेवा के सर्वातिशायी आनन्द को प्राप्त करने के लिये अर्थात् केवल श्रीकृष्ण-माधुर्य में आकृष्ट होकर ही करते हैं। परमलोभनीय श्रीकृष्ण-माधुर्य का आस्वादन केवल मात्र भक्तभाव से ही हो सकता है। और तो क्या स्वयं श्रीकृष्ण अपने माधुर्य को आस्वादन करने के निमित्त भक्तभाव को अङ्गीकार करते हैं। सारांश यह है कि जीव का स्वरूपानुबन्धि धर्म श्रीकृष्ण-सेवा है, जो प्राकृत जगत् की सेवा की भांति निरस नहीं, किन्तु उसमें नितान्त मदीयताभाव से अखिलरसामृतवारिधि, स्वभक्त-प्रीति-विधान-लोलुप स्वयंभगवान् श्रीकृष्णचन्द्र का परिपूर्ण प्रीति- विधान प्रयास है।

नित्यमुक्त एवं बद्ध-जीव—

पहले यह कहा जा चुका है कि जीव असंख्य हैं। उनकी दो श्रेणियां हैं। एक श्रेणी अनादिकाल से भगवान् के सन्मुख हैं, एवं उस श्रेणी के जीव अन्तरङ्गा स्वरूपशक्ति के विलास-विशेष द्वारा अनुग्रहीत होकर

अनादिकाल से नित्य भगवान् के परिकरस्वरूप हैं। उन्हें "नित्यमुक्त" कहते हैं और जो अनादिकाल से भगवान् से बहिर्मुख हैं एवं उस बहिर्मुखतावश माया द्वारा पराभव को प्राप्त होकर प्राकृत ब्रह्माण्ड में आबद्ध हैं, उन्हें "बद्ध-जीव" कहा जाता है। बद्ध-जीव भी महत्कृपा द्वारा मायामुक्त होकर पार्षदरूप में श्रीकृष्ण-सेवा प्राप्त कर सकते हैं। यही श्रीमन्महाप्रभु ने कहा है—

"भ्रमिते भ्रमिते यदि साधु वैद्य पाय ॥
तार उपदेश-मन्त्रे पिशाची पलाय।
कृष्ण भक्ति पाये तबे कृष्णनिकट जाय ॥"

श्रीचै० च० २-२२-१२,१३

मायाबद्ध जीव की श्रीकृष्ण-बहिर्मुखता अनादि होते हुए भी विनाशी है—दूर हो सकती है। यदि ऐसा न हो तो साधनोपदेश की कोई सार्थकता ही नहीं रहती। भगवत्सेवा प्रेम-भक्ति बिना नहीं हो सकती। प्रेम-भक्ति स्वरूपशक्ति की वृत्ति-विशेष है। जीव में स्वरूपशक्ति की अभिव्यक्ति नहीं है, अतः स्वरूपशक्ति की वृत्ति-विशेष द्वारा अनुग्रहीत होकर ही जीव भगवत्सेवा एवं भगवत्परिकरत्व प्राप्त कर सकता है। स्वरूपशक्ति विहीन जीव स्वरूपशक्ति की वृत्ति-विशेष द्वारा अनुग्रहीत कैसे होता है ? स्वयं भगवान् ह्लादिनी-प्रधान-स्वरूपशक्ति की वृत्ति-विशेष को सर्वदा भक्तों के चित्त में निक्षिप्त करते रहते हैं, जो भक्त के चित्त में आकर प्रीति नाम को धारण करती है। यही स्वरूपशक्ति की वृत्ति द्वारा अनुग्रहीत होना है। इसके द्वारा जीव भगवत्सेवा एवं भगवत् के परिकररूप को प्राप्त करके कृतार्थ हो जाता हैं।

संसार बन्धन का हेतु—

नित्यमुक्तजीव स्वरूप-शक्ति द्वारा अनुग्रहीत होकर अनादिकाल से पार्षदरूप में श्रीकृष्ण की सेवा करते हैं। वे कभी भी मायिक संसार-जाल में आबद्ध नहीं होते और बद्धजीव अनादिकाल से मायिक संसार-जाल में बद्ध रहते हैं। पार्षदरूप से कभी श्रीकृष्णसेवा का सौभाग्य उन्हें प्राप्त नहीं हुआ। स्वरूपशक्ति की कृपाप्राप्ति का भी सौभाग्य कभी नहीं प्राप्त हुआ।

यही कारण है कि बद्धजीव अनादिकाल से माया के गुणजाल में जकड़े हुए कभी स्थावर देह में, तो कभी जङ्गम देह में विचरते हैं।

यहां यह प्रश्न हो सकता है कि बद्ध-जीव संसार में कुछ न कुछ सुख तो भोगते ही हैं। ह्लादिनीशक्ति के बिना सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती। और जबकि ह्लादिनी भगवान् की स्वरूपशक्ति है, तब यह कैसे कहा जा सकता है कि बद्धजीव स्वरूपशक्ति से अनुग्रहीत नहीं हैं ? इसका संक्षिप्त उत्तर यह है कि संसार में जो कुछ सुख मिलता है, वह ह्लादिनी का दिया हुआ नहीं है। क्योंकि ह्लादिनी चित्-शक्ति—चिन्मयी है। अतः उसका सुख भी चिन्मय—नित्यसुख है। प्राकृत देह से इस सुख का तो संयोग ही नहीं हो सकता। प्राकृत-जगत् में जड़देह के सुख को सुख माना गया है जो जड़वस्तुजात है एवं अनित्य है। अतः यह जागतिक सुख ह्लादिनी का सुख न होकर प्राकृत सत्वगुण से उत्पन्न होने वाला सुख है। सत्वगुण अनित्य जड़सुख उत्पन्न करता है, इसी से इसका दूसरा नाम ह्लादकरी-शक्ति भी कहा गया है। माया की यही सात्विकी-शक्ति मायाबद्ध जीव में रहती है, और वह उस के लिए सुख एवं ह्लाद देने वाली है।

यह प्रश्न भी हो सकता है कि बद्धजीव माया कवलित कैसे एवं क्यों हुए ? पहले ही कहा जा चुका है कि जीव में एक चिरन्तनी सुखवासना है—वह सुखवासना जीव की स्वरूपगत है। तथा अनादिकाल से वर्तमान है। अनादिकाल से जीव सुख का अनुसन्धान कर रहा है। किन्तु सुख के मूल उत्स सुखस्वरूप-आनन्द-स्वरूप-रसस्वरूप श्रीकृष्ण को वह भूल चुका है—उधर से मुँह मोड़ लिया है। परन्तु उधर मुँह फेरे बिना उसकी चिरन्तनी सुखवासना की चरमतृप्ति नहीं हो सकती। जीव इसका प्रयत्न ही नहीं करता। और जिधर उसने मुँह कर रखा है, उधर माया एवं प्राकृत ब्रह्माण्ड का सुखभण्डार उसे दीखता है। जीव ने यह समझ रखा है कि उसकी चिरन्तनी सुखवासना की चरमतृप्ति इसी प्राकृत ब्रह्माण्ड में ही होगी, अतः माया के चरणों में जीव आत्मसमर्पण कर चुका है। माया-देवी ने ईर्ष्यभाव में आकर (अर्थात् "जो सुख का मूल उत्स है, उसको छोड़कर मेरे इस नश्वर ब्रह्माण्ड के सुख को चाहता है, जहां सुख का लेश मात्र नहीं है। जो कुछ प्रतीत होता है, वह अनित्य-जड़ एवं दुःख संकुल है। अच्छा—ओ भूले हुए जीव ! आ इस सुख का भी मज़ा देख") अपनी

आवरणात्मिका-वृत्ति द्वारा बहिर्मुख जीव के स्वरूपज्ञान को सम्यक्रूप से आवृत कर दिया एवं विक्षेपात्मिकावृत्ति द्वारा इस जीव के चित्त को विक्षिप्त कर दिया है। इसके फलस्वरूप जीव सब कुछ भूलकर इस प्राकृत जगत् के सुखभोग में ही तन्मय हो रहा है। इस प्रकार जीव माया के बन्धन में फँस कर सृष्टि समय में अपने कर्मफल के अनुसार कर्मफल-भोग के उपयोगी देह को प्राप्त करता है।

शास्त्रकारों ने कर्म को अनादि माना है उस अनादि कर्म-फलभोग-उपयोगी शरीर को जीव ने अनादिकाल से प्राप्त किया है एवं उस कर्मफल को भोग करते करते अन्य नये नये कर्मों के अनुष्ठान द्वारा जीव आगे के लिए नये नये भोगयतन शरीरों को प्राप्त करता रहता है। हर शरीर में प्रवेश करके जीव अपने स्वरूपज्ञान को भूलकर यह मानने लगता है कि—यही शरीर ही मैं हूं। फिर उसी देह-इन्द्रियों के सुख को ही सुख मानने लगता है। इस प्रकार प्राकृत जगत् में भोग्यवस्तुओं को ढूँढते-ढूँढते जीव परेशान हो रहा है, और इसी परेशानी का अन्त न होना ही इस प्राकृत-सुख का मजा है।

जीव श्रीकृष्ण को क्यों भूला ? एवं अनादिकाल से क्यों बहिर्मुख हुआ ? इसका उत्तर यही है कि अणुस्वातन्त्र्य के अपव्यवहार से ही जीव अनादि-काल से बहिर्मुख एवं श्रीकृष्ण स्मृतिहीन हुआ है। प्रश्न हो सकता है कि जीव जब चित्-रूपा शक्ति है, तो चित्विरोधी मायाशक्ति इसे कैसे मोहित करके इसके स्वरूपज्ञान को आवृत कर सकती है ? इसके उत्तर में श्रीजीवगोस्वामिपाद ने कहा है कि बहिरङ्गा होने पर भी मायाशक्ति में तटस्थामय जीव को आवरण करने की सामर्थ्य है। ब्रह्म तथा जीव में चिदंश में अभेद होने पर भी मायाशक्ति जीव को तो आवृत कर सकती है, किन्तु ब्रह्म को नहीं। क्योंकि जीव चित्-कण है और ब्रह्म चिन्महापुञ्ज है। उसे आवृत करने की शक्ति माया में नहीं है। जैसा अन्धकार पीतल-सोना आदि के तेज को तो आवृत कर सकता है, किन्तु सूर्य के तेज को नहीं। प्रश्न हो सकता है कि नित्यमुक्त जीव भी तो तटस्थाशक्तिमय एवं चित्-कण हैं, तो उनको माया क्यों आवृत नहीं कर पाती ? —इसका कारण यह है कि नित्यमुक्त जीव स्वरूप-शक्ति के अनुग्रहीत हैं; जिससे मायाशक्ति उनको स्पर्श भी नहीं कर सकती। अनादि बहिर्मुख जीव में

स्वरूप-शक्ति के इस प्रकार अनुग्रह का अभाव है। माया श्रीकृष्ण को एवं श्रीकृष्ण के स्वांश किसी भी भगवत्स्वरूप को मोहित नहीं कर सकती। यहां तक कि उनके समीप भी नहीं जा सकती। उसका कारण स्वरूप-शक्ति ही है। सारार्थ यह है कि अनादिकाल से जीव स्वरूप-शक्ति की कृपा से वञ्चित होने के कारण बहिर्मुख है एवं इसी बहिर्मुखतावश ही अनादिकाल से मायाबद्ध है।

मायाबन्धन निवृत्ति उपाय—

जीव का यह मायाबन्धन स्वरूपानुबन्धि नहीं—किन्तु आगन्तुक है, इसलिए दूर हो सकता है। यह बन्धन कैसे दूर हो ? —जो मायाबन्धन का हेतु है, उसको दूर करने से बन्धन भी दूर हो सकता है। मायाबन्धन का हेतु भगवान् से बहिर्मुख होना है। और बहिर्मुखता का हेतु भगवत्-विस्मृति को दूर करने से भगवत्-बहिर्मुखता एवं उसका कार्य मायावन्धन नाश हो सकता है। यह भगवत् विस्मृति कैसे दूर हो ? —विस्मृति स्मृति से दूर होती है। शास्त्रों का कहना है—

स्मर्तव्यः सततं विष्णुर्विस्मर्तव्यो न जातुचित्।
सर्वे विधिनिषेधाः स्युरेतयोरेव किङ्कराः॥

पाद्मोत्तरखण्डे ७२-१००

अर्थात्—"सर्वदा श्रीकृष्ण को स्मरण करो"—"कभी उनको भूलो नहीं।" जितने भी विधि-निषेध हैं, वे सब ही इन दोनों विधि-निषेधों के किङ्कर (सेवक) हैं॥ किन्तु यह देखा जाता है कि चेष्टा करने पर भी भगवत्-स्मृति जीव के हृदय में स्थिर नहीं हो पाती। भगवत्-स्मरण में मन जोडने की इच्छामात्र करते ही मन इन्द्रियों के भोगों की ओर दौड़ता है। इसका क्या कारण है? —उसका कारण यही है कि माया ने जीव के मन को विक्षिप्त कर रखा है। विषयों में से मन को हटाने का इच्छुक होने पर भी जीव इसे सहज में हटा नहीं सकता। माया भगवान् की महा प्राक्रमशालिनी शक्ति है। जीव क्षुद्र शक्ति है, तथा माया में इसे आवृत करने की सामर्थ्य है। अतः जीव की इस मायाशक्ति के आगे कुछ पेश नहीं जाती। फिर इसका उपाय क्या है? —स्वयंभगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन के प्रति कह रहे हैं कि—

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥

श्रीगीता ७-१४

"यह अतीव अद्भुत त्रिगुणात्मिका मेरी माया बड़ी दुस्तर है । परन्तु जो पुरुष मेरे प्रपन्न होते हैं, वे इस माया से तर जाते हैं ।" श्रीगीता के अन्त में भी श्रीभगवान् ने कहा है—

"सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।"

श्रीगीता १८-६६

"देहसुखमूलक तथा दुःखनिवृत्तिमूलक समस्त धर्मों को त्याग कर तू एकमात्र मेरी शरण में आ ।" सारार्थं यह है कि श्रीभगवान् के शरणापन्न होने से ही मायादेवी के पञ्जे से जीव का छुटकारा हो सकता है । किन्तु केवल मुँह से कह देने मात्र से शरणागति होती नहीं । इसके लिए मन को (अभ्यास-वैराग्य द्वारा) तैयार करना होगा । जिसके लिए साधनों की आवश्यकता है । कलियुग में सब साधनों से श्रेष्ठ साधन है—श्रीहरिनाम सङ्कीर्त्तन, जिस से जीव भगवान् की कृपा प्राप्त कर सकता है । भगवत्कृपा से मायामुक्त होकर जीव अपने स्वरूप (श्रीकृष्णदासत्व) में अवस्थित होते हुए पार्षदरूप से भगवत्-सेवा प्राप्त कर सकता है । इसी में ही जीव के जीवत्व की सार्थकता है ।

पुरुषार्थ

काम—

पुरुष के अर्थ अर्थात् प्रयोजन का नाम 'पुरुषार्थं' है, जीव के अभीष्ट—काम्यवस्तु को पुरुषार्थ कहते हैं । जगत् में प्रत्येक जीव की भिन्न-भिन्न रुचि एवं भिन्न-भिन्न प्रकृति हैं । अतः प्रत्येक जीव का अभीष्ट भी विभिन्न है । साधारणतः सब का अभीष्ट सुख होते हुए भी रुचि की विभिन्नता के

कारण सुख के सम्बन्ध में भी सबकी धारणा एक प्रकार की नहीं है। जैसे मीठा सबको प्रिय है, किन्तु किसी को गुड़, किसी को चीनी एवं किसी को मिश्री ही प्रिय लगती है। मायाबद्ध होने के कारण जीव का आवेश देह में है एवं देह-इन्द्रियों के सुख को ही वह सुख जानता है। कोई जीव केवल स्थूल-इन्द्रिय-भोग—आहार, निद्रा, मैथुन चाहते हैं। पशुओं की यही अवस्था है। मनुष्यों में भी ऐसी पशुप्रकृति के लोग हैं, जो शिश्नोदर-प्रायणता के बिना साधारणत: अन्य कुछ जानते ही नहीं। शिश्नोदरादि स्थूल इन्द्रियों की तृप्ति के उपाय के सम्बन्ध में भी वे विशेष सतर्क नहीं हैं—अर्थात् शारीरिक-मानसिक-आर्थिक एवं सामाजिक दृष्टि से उनका वह उपाय समर्थनयोग्य है कि नहीं; इस बात का उन्हें विशेष अनुसन्धान नहीं है। उनका एकमात्र लक्ष्य स्थूल इन्द्रियों का सुख है। इस श्रेणी के मनुष्यों के पुरुषार्थ को 'काम' कहते हैं।

अर्थ—

एक और श्रेणी के मनुष्य हैं, जो इन्द्रियों का भोग तो चाहते ही हैं; किन्तु केवल मात्र स्थूल-भोग नहीं चाहते। स्थूल-भोगों के विषय में भी वे उनके उपाय में विवेचना-शील हैं। शरीर, मन एवं समाज का स्वास्थ्य जिससे नष्ट न हो, उस ओर उनकी दृष्टि है। उनकी भोगचेष्टा एक नीति पर प्रतिष्ठित है। जिससे उनके नैतिक-जीवन के अध:पतन की सम्भावना बहुत कम है। कभी पद से गिरने पर वे पश्चाताप करते हैं एवं आत्म-शोधन की चेष्टा भी करते हैं। संयम हीन नहीं होते, और वे लोगों में मान-सम्मान आदि चाहते हैं, जिससे वे अपनीं उच्छृङ्खलता को दूर करने की चेष्टा करते हैं। परोपकार में यथासाध्य अनुकूल रहते हैं, एवं इसके लिए धन का सञ्चय करते रहते हैं। समाज में उल्लिखितरूप से जीवन यात्रा का निर्वाह करना ही उनका प्रधान लक्ष्य है। इस श्रेणी के लोगों के पुरुषार्थ को 'अर्थ' कहते हैं।

धर्म—

तीसरी श्रेणी के लोग दूसरी श्रेणी के लोगों की तरह भोग भी चाहते हैं, साथ ही और भी कुछ चाहते हैं। केवल इस संसार के भोगों में उनकी तृप्ति नहीं है। वे मृत्यु के बाद स्वर्गादि सुखभोगों की भी कामना करते हैं। अत: परकाल स्वर्गसुख भोगों के लिए वे धर्मानुष्ठान की

आवश्यकता समझते हैं। जैसे शास्त्र भी कहता है कि—स्वधर्म अनुष्ठान से इहकाल एवं परकाल के सुखभोग मिल सकते हैं। इसलिए उनका लक्ष्य स्वधर्मानुष्ठान ही है। इन लोगों के पुरुषार्थ को 'धर्म' कहा जाता है।

यहां जो तीन प्रकार के पुरुषार्थों का वर्णन किया गया है, इनसे जीव की चिरन्तनी सुखवासना के तीन रूप जाने जाते हैं। इन सबका पर्यवसान शरीर एवं इन्द्रियों का सुख है। स्वर्गसुख भी देह का सुख है, स्वर्गसुख भोगने के पश्चात् फिर इस मृत्युलोक में आना पड़ता है—

"क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति" (श्रीगीता ६-२१)

सांसारिक सुख दुःखमिश्रित है, उसका परिणाम दुःखमय एवं अनित्य है। अधिकाधिक मृत्यु पर्यन्त वह स्थायी है, उसके बाद जन्म-मृत्यु एवं नरकभोग का दुःख भोगना ही पड़ता है।

मोक्ष—

इस समस्त विषय को जानकर जो इन ऊपर के तीन प्रकार के पुरुषार्थों के प्रति लुब्ध नहीं होते हैं, वे चौथी श्रेणी के मनुष्य हैं। उनकी संख्या बहुत कम है। उनका मन्तव्य है कि काम-अर्थ-धर्म जब वास्तविक निरवच्छिन्न सुख नहीं दे सकते, तो उनमें वास्तविक पुरुषार्थता भी नहीं है। वे एक ऐसा सुख ढूंढ़ते हैं, जो धर्म-अर्थ-कामजनित सुख की भांति दुःखसंकुल न हो—अनित्य न हो। वे यह भी कहते हैं कि धर्म-अर्थ-काम जनित सुख देह का सुख है। देह अनित्य है। अतः वह समस्त सुख भी अनित्य है। जब तक जीव को अनित्य देह का सम्बन्ध है, तब तक जीव नित्यसुख भी प्राप्त नहीं कर सकता। मायाबन्धन होने से जीव को मायिक-देह का सम्बन्ध है, मायाबन्धन दूर होने पर जीव अनित्यदेह के सम्बन्ध को छोड़ सकता है; एवं फिर उसे नित्यसुख का सन्धान मिल सकता है। ऐसी चिन्ता करते हुए वे मायाबन्धन से मुक्त होने की चेष्टा करते हैं। इस श्रेणी के लोगों के पुरुषार्थ को 'मोक्ष' कहते हैं।

तत्ववेताओं का कहना है कि परकाल के स्वर्गसुख जैसे स्वधर्मानुष्ठान से प्राप्त होते हैं, इहकाल के सुख—अर्थ एवं काम भी स्वधर्मानुष्ठान से प्राप्त हो सकते हैं। स्वधर्मानुष्ठान में त्रुटि एवं विच्युति रहने पर इहकाल का सुख दुःख-मिश्रित हो जाता है। स्वधर्मानुष्ठान का अभाव एवं विरुद्ध-

आचरण ही नरक-भोग का हेतु है। इसलिए समाज के प्रति एवं व्यक्तिगत संयम या चित्तशुद्धि के प्रति लक्ष्य करके शास्त्रकारों का कहना है कि जो निवृत्ति पथ में अग्रसर होने में असमर्थ हैं, उन सबके लिए स्वधर्मानुष्ठान करना ही उचित एवं परमावश्यक है। कारण कि इहकाल का सुख-अर्थ-काम तथा परकाल का सुख स्वर्गभोगादि दोनों ही स्वधर्मानुष्ठान से प्राप्त हो सकते हैं।

स्वधर्माचरण के लिए शरीररक्षा एवं शरीररक्षा के लिए देहभोग (काम) का प्रयोजन है। किन्तु उतने ही देहभोग (काम) का प्रयोजन है, जिससे शरीर की रक्षा होती रहे—भोगों में उच्छृङ्खलता न हो। इससे स्वधर्मानुष्ठान में आनुकूल्य एवं क्रमशः संयम या चित्तशुद्धि की सम्भावना हो सकती है। धर्मानुगत काम द्वारा अर्थ एवं धर्म की प्राप्ति होती है। किन्तु इस त्रिवर्ग (काम-अर्थ-धर्म) से संसार का आवागमन बन्द नहीं होता। धर्म से अर्थ,अर्थ से काम, काम से इन्द्रियप्रीति और फिर धर्मादि—परस्पर इस क्रम से चलते रहते हैं। जो मोक्षकामी हैं, वे 'धर्म का फल अर्थ—अर्थ का फल काम एवं काम का फल इन्द्रियप्रीति' न मानकर धर्मार्थकाम द्वारा किसी तरह भी जीवन धारण करके मोक्ष-साधक-कर्मानुष्ठान तथा तत्वजिज्ञासा को ही अपना कर्त्तव्य मानते हैं। मोक्षप्राप्ति के पश्चात् संसार आवागमन का अवसान अर्थात् संसार दुःख की आत्यन्तकी निवृत्ति होती है एवं नित्य चिन्मय ब्रह्मानन्द का अनुभव होता है—ऐसा मानकर वे मोक्ष में ही वास्तविक पुरुषार्थ जानते हैं।

इन चारों पुरुषार्थों (धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष) को चतुर्वर्ग कहते हैं। प्रवृत्तिलक्षण धर्म द्वारा त्रिवर्ग एवं निवृत्तिलक्षण धर्म द्वारा चतुर्थ पुरुषार्थ मोक्ष की प्राप्ति कही गई है। किन्तु नित्य-चिन्मय ब्रह्मानन्द में भी लोभनीयत्व की सर्वोत्कृष्टता नहीं है। कारण कि ब्रह्मानन्द निर्विशेष-ब्रह्म-सायुज्य से उपलब्ध होता है। निर्विशेष ब्रह्म में स्वरूपशक्ति का विलास न होने से उसमें आनन्द की वैचित्री नहीं है, एवं आस्वादन चमत्कारिता की वैचित्री भी नहीं है। वह केवल आनन्द-सत्ता मात्र है। प्रतिमहूर्त नव-नवायमान आस्वादन वैचित्री प्रकट करके वह आस्वादन-वासना में नव-नवायमानत्व भी सम्पादन नहीं करता। जहां ब्रह्मत्व का पूर्णतम विकाश है, वहीं परम-लोभनीय वस्तु है। पहले कह आये हैं कि शक्ति का न्यूनतम विकाश होने

से निर्विशेष ब्रह्म में रसत्व का न्यूनतम विकाश है। शक्ति का असमोर्द्ध विकाश होने से परब्रह्म श्रीकृष्ण में आस्वाद्यत्व का, आस्वादन चमत्कारित्व का, लोभनीयत्व का एवं ब्रह्मत्व का चरमतम विकाश है।

प्रेम—

श्रीकृष्ण के माधुर्य का आस्वादन-जनित आनन्द निर्विशेष ब्रह्मानन्द से कोटि-कोटि गुणाधिक लोभनीय है। उस असमोर्द्ध माधुर्य आस्वादन करने का एकमात्र उपाय है—प्रेम, जिसमें अपने सुख की लेशमात्र भी गन्ध न हो, केवल श्रीकृष्ण को सुखी करना ही प्रयोजन हो—ऐसा प्रेम।

"पञ्चमपुरुषार्थ सेई प्रेम महाधन।
कृष्णेर माधुर्यरस कराय आस्वादन॥

श्रीचै० च० १-७-१३७

श्रीकृष्ण माधुर्यानन्द, ब्रह्मानन्द से अत्यधिक लोभनीय है, इसलिए आत्माराम—जीवनमुक्त ब्रह्मानन्दमग्न मुनि भी श्रीकृष्ण माधुर्य की कथा सुनते ही उनके उस माधुर्यास्वादन के लिए लालसान्वित होकर प्रेम प्राप्ति के लिए श्रीकृष्ण का भजन करते हैं, यथा—

आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्व्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूत गुणो हरिः॥

श्रीमद्भागवत् १-७-१०

मुक्ता अपि लीलया विग्रहं कृत्वा भगवन्तं भजन्ते॥

नृसिंहतापनी २-५-१६ शङ्करभाष्य

इत्यादि श्रुतियों द्वारा यह जाना है कि मुक्ति प्राप्त होने पर भी उपासना का विधान है तथा न चाहते हुए भी वस्तु के सौन्दर्य-प्रभाव से ही मुक्तव्यक्ति श्रीकृष्ण-भजन में प्रवृत्त होते हैं। जैसे पित्तदग्ध मनुष्य मिश्री सेवन द्वारा पित्त नाश हो जाने पर भी मिश्री के मिष्ठत्व में आकृष्ट होकर उसे भक्षण करता रहता है, वैसे ही मुक्तावस्था में भी स्वयंभगवान् श्रीकृष्ण के सौन्दर्य-माधुर्यादि में आकृष्ट होकर मुक्तपुरुष भगवद्भजन करते रहते हैं। इस परमलोभनीय श्रीकृष्ण-माधुर्य के आस्वादन का एकमात्र उपाय है—प्रेम, जो चतुर्थ पुरुषार्थ मोक्ष की अपेक्षा भी श्रेष्ठ है। इस प्रेम पुरुषार्थ द्वारा ही चरमतम काम्यवस्तु की प्राप्ति होती है। यह पञ्चम पुरुषार्थ प्रेम ही मनुष्य का परम-पुरुषार्थ है।

सम्बन्ध-तत्व

सम्बन्ध-तत्व

समस्त शास्त्रों के प्रतिपाद्य विषय को 'सम्बन्ध-तत्व' कहते हैं। समस्त जगत् की सृष्टि, स्थिति एवं प्रलय का जो कारण है, वही समस्त शास्त्रों का प्रतिपाद्य विषय है। "**जन्माद्यस्य यतः ॥**" (१-१-२) इस वेदान्त सूत्र से एवं अनेक श्रुति-वाक्यों से यह जाना जाता है कि सच्चिदानन्द-स्वरूप परब्रह्म ही जगत् की सृष्टि, स्थिति एवं प्रलय का कारण है।

प्राकृत एवं अप्राकृत समस्त का परब्रह्म श्रीकृष्ण के साथ नित्य-अविच्छेद्य सम्बन्ध है—

माण्डूक्य श्रुति में कहा गया है कि जो भूत-भविष्यत-वर्तमान—इस त्रिकाल के प्रभावाधीन है एवं जो त्रिकाल प्रभावातीत है, वह समस्त ॐकार-ब्रह्म है। त्रिकाल प्रभावाधीन अर्थात् जो परिदृश्यमान जगत् है, यह ब्रह्म है एवं त्रिकाल प्रभावातीत तो अप्राकृत—चिन्मय भगवद्धामादि हैं, वे समस्त भी ब्रह्म हैं। जिस ब्रह्म से अनन्त वैचित्रीमय जगत् की सृष्टि आदि सम्भव हैं, वह ब्रह्म सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान एवं सर्वान्तर्यामी है। वह अनन्तकोटि ब्रह्माण्डों की सृष्टि करके प्रत्येक ब्रह्माण्ड के अन्तर्यामीरूप से प्रत्येक ब्रह्माण्ड में प्रवेश करता हैं एवं प्रति जीव में भी प्रविष्ट है। यह पहले कहा जा चुका है कि ब्रह्म की अनन्त शक्तियों में तीन शक्तियां प्रधान हैं। १—चित्शक्ति (स्वरूपशक्ति), जिसका विकाश अनन्तकोटि भगवद्धाम एवं वहां के समस्त उपकरण हैं। २— मायाशक्ति (बहिरङ्गा शक्ति), जिसका कार्य अनन्तकोटि प्राकृत ब्रह्माण्ड हैं। ३—तटस्था शक्ति (जीवशक्ति) जिसका विकाश अनन्तकोटि जीव हैं।

"रसो वै सः।"—ब्रह्मरसस्वरूप है। उसमें अनन्त रस वैचित्री है। जिनमें समस्त रस-वैचित्री का पूर्णतम विकाश है—रसत्व का अर्थात् ब्रह्मत्व का पूर्णतम विकाश है वे हैं—परब्रह्म श्रीकृष्ण। यह कहा ही जा चुका है कि अनन्त भगवत्-स्वरूप श्रीकृष्ण की अनन्त रस-वैचित्री के मूर्तरूप हैं। और यह भी कह आये हैं कि लीलापरिकरगण ब्रह्म की स्वरूपशक्ति की वृत्तिविशेष हैं अर्थात् स्वरूपतः ब्रह्म ही हैं।

उपर्युक्त विवेचना से यह स्पष्ट है कि परिदृश्य-मान जगत् एवं जगत् में रहने वाले समस्त जीव, तथा चिन्मय भगवद्धामादि, समस्त भगवत्-स्वरूप एवं लीलापरिकरगण—ये समस्त ब्रह्म हैं अर्थात् इन समस्त का परब्रह्म श्रीकृष्ण के साथ एक नित्य अविच्छेद्य सम्बन्ध है।

समस्त शास्त्रों के प्रतिपाद्य परब्रह्म श्रीकृष्ण ही हैं, अतः वे सम्बन्ध-तत्व हैं—

अनादि बहिर्मुख-जीव इस सम्बन्ध को भूलकर अनादिकाल से माया-मुग्ध हुआ जन्ममरणादि के अशेष दुःखों को भोगता है। मायाबद्ध जीव तो ब्रह्म के शिवत्व एवं परमकारुण्य को भूल गया है, किन्तु वे भगवान् इस जीव को भूलते नहीं। बहिर्मुख जीव को श्रीकृष्णस्मृति अपने आप जागृत नहीं हो सकती। इसलिए श्रीभगवान् ने कृपा करके जीव के मङ्गल निमित्त वेद-पुराणादि प्रकट किये हैं। मायाबद्ध जीव के चित्त में भगवान् की स्मृति जागृत करके उसको भगवदुन्मुख करना ही इन समस्त वेद-पुराणादि शास्त्रों का उद्देश्य है। श्रीगीता (१५-१५) में स्वयं भगवान् ने भी अर्जुन के प्रति कहा है—

वेदैश्च सर्व्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद् वेदविदेव चाहं ॥

अर्थात्—"हे अर्जुन ! मैं ही समस्त वेदों का वेद्य—प्रतिपाद्य हूं। मैंने ही वेदान्त प्रकट किया है एवं मैं ही वेदों का प्रकृत अर्थवेता हूं।" अतः यह स्पष्ट है कि समस्त शास्त्रों के प्रतिपाद्य श्रीकृष्ण हैं।

सारांश यह है कि अनन्त कोटि प्राकृत ब्रह्माण्डों की सृष्टि-स्थिति-लयकर्तारूप में, अनन्त भगवद्धामरूप में एवं समस्त शास्त्रों के प्रतिपाद्यरूप में श्रीकृष्ण ही सम्बन्ध-तत्व हैं, तथा जगत् और जीव का भी इनके साथ

नित्य, अविच्छेद्य, अन्तरङ्ग एवं घनिष्ट सम्बन्ध होने से श्रीकृष्ण ही सम्बन्ध-तत्व हैं—

"सकल वेदेर हय भगवान् से सम्बन्ध ।"

श्रीचै० च० १-७-१३२

सायुज्यमुक्ति में सम्बन्ध की सार्थकता नहीं है—

किन्तु इस सम्बन्ध की सार्थकता कहां है ? और भगवान् ने जो वेद-पुराणादि प्रकट करने की कृपा की है, इस कृपा की सार्थकता कहां है ? मायामुक्त होने पर चिरकाल के लिए संसार बन्धन नाश हो जाने से सायुज्यमुक्ति में भगवत्तकरुणा की जो किञ्चित् सार्थकता है, वह करुणा की सम्यक् सार्थकता नहीं है, तथा उसमें सम्बन्ध की भी पूर्ण सार्थकता नहीं कही जा सकती । कारण कि सम्बन्ध की पूर्ण सार्थकता ही करुणा की पूर्ण सार्थकता है ।

जब दो मनुष्यों में कोई सम्बन्ध रहता है, तो दोनों ही उस सम्बन्ध के सुख–दुःख को भोग करते हैं । जैसे कि परस्पर प्रीति सम्बन्स में माता-पिता और सन्तान, पति और पत्नी इत्यादि दोनों ही सुख-दुःख का अनुभव करते हैं । भगवान् आनन्दस्वरूप हैं, जीव भी अणु-चिदानन्दात्मक है । इनका जो सम्बन्ध है, वह भी आनन्दात्मक एवं सुखकर है । सायुज्य-मुक्ति में जीव ब्रह्मानन्द में निमग्न रहता है । जीव तो ब्रह्मानन्द अनुभव करता है, किन्तु जीव के मुक्तिफल में निर्विशेष ब्रह्म को कोई भी आनन्द अनुभव नहीं होता । अतः सायुज्यमुक्ति में जीव-ब्रह्म के सम्बन्ध की पूर्ण सार्थकता नहीं कही जा सकती ।

श्रीकृष्ण-सेवा में ही सम्बन्ध की सार्थकता है—

भगवान् के साथ जीव का सेव्य-सेवक सम्बन्ध है । जब इस सम्बन्ध के ज्ञान का सम्यक् विकाश होता है, तब भगवत्सेवा के लिए जीव में बलवती उत्कण्ठा जागृत होती है एवं तब भगवान् की स्वरूपशक्ति की वृत्तिविशेष की कृपा प्राप्त करके जीव भगवत्परिकररूप से उनकी सेवा करने का सौभाग्य पाता हैं । लीला-परिकररूप में भगवान् की सेवा करके भगवान् के असमोर्द्ध माधुर्य का आस्वादन करते हुए जीव कृतार्थ हो जाता है तथा सेवा व्यपदेश से परिकरभूत जीव के चित्त से जो प्रीतिरस का उत्स

प्रसारित होता है, उसे आस्वादन करके रसस्वरूप भगवान् भी परमानन्द अनुभव करते हैं। भक्त के प्रीतिरस आस्वादन में आनन्द इतना अधिक है कि भगवान् परमस्वतन्त्र तथा सुखमय होकर भी भक्त की प्रेमवश्यता स्वीकार करते हैं। इसी में ही जीव तथा परब्रह्म के नित्य अविच्छेद्य सम्बन्ध की पूर्णतम सार्थकता एवं भगवत्-करुणा का पूर्णतम विकाश है। भगवान् का माधुर्य कैसा है—यह भाषागम्य नहीं, केवलमात्र अनुभववेद्य है। श्रीमन्महाप्रभु ने कहा है—'माधुर्य ही भगवत्ता का सार है।' अर्थात् भगवत्ता या ब्रह्मत्व का सार माधुर्य है। ऐसे जो आत्मपर्यन्त-सर्वचितहर माधुर्यघनविग्रह अखिलरसामृतवारिधि परब्रह्म श्रीकृष्ण हैं, वे ही सम्बन्ध-तत्व हैं एवं परिकररूप में जीव से की हुई उनकी सेवा में ही जीव तथा परब्रह्म के सम्बन्ध की चरमतम सार्थकता है।

अभिधेय-तत्व

सम्बन्ध-तत्व की स्मृति ही अभिधेय है—

अभिधेय का अर्थ है कर्त्तव्य। अभीष्ट वस्तु की प्राप्ति के लिए जो उपाय अवलम्बन किया जाता है, उसे अभिधेय कहते हैं। इस संसार में जीव की अनेक अभीष्ट वस्तुएं होते हुए भी सबका मूल है सुख। जिससे जीव की चिरन्तनी सुखवासना की चरम तृप्ति हो सकती है, वह सुख है—सुखस्वरूप, रसस्वरूप—परतत्ववस्तु परब्रह्म श्रीकृष्ण। श्रीकृष्ण या सम्बन्ध-तत्व की विस्मृति होने से ही जीव उनसे बहिर्मुख हो माया के कवल में पड़कर अनेक दुःख भोग रहा है। इस सम्बन्ध-तत्व अर्थात् श्रीकृष्ण की स्मृति ही जीव का मुख्य अभिध्येय है। वह स्मृति परब्रह्म श्रीकृष्ण की उपासना से ही जागृत हो सकती है, यह बात अनेक श्रुति प्रमाणों द्वारा सिद्ध है। अनेक प्रकार की उपासना शास्त्रों में कही गई है। कर्म, योग, ज्ञान भक्ति-इत्यादि इन में कौन सी उपासना विधेय है। इसकी

आलोचना करते हैं।

कर्म विधेय नहीं है—

यज्ञादिक कर्मों का फल अनित्य है। इहलोक अथवा परलोक के सुख समस्त अनित्य हैं। इन कर्मों द्वारा जन्ममृत्यु से मुक्ति नहीं हो सकती। मण्डूकोपनिषत् का कहना है **"प्लवा ह्येते अदृढ़ा यज्ञरूपा"** (२-१) अर्थात् संसार-रूप समुद्र को पार करने के लिए यज्ञरूप तरणी अदृढ़ है—पार नहीं कर सकती। यज्ञादि कर्म साधन द्वारा संसार से मोक्ष असम्भव है। अतः अभीष्ट की प्राप्ति कराने में असमर्थ होने से कर्म को अभिधेय नहीं माना जा सकता।

योगमार्ग के साधकगण जीवान्तर्यामी परमात्मा की एवं ज्ञानमार्ग के साधक निर्विशेष ब्रह्म की प्राप्ति चाहते हैं। इन दोनों के साधनों की सद्धि होने पर जीव माया बन्धन एवं तज्जनित संसार के आवागमन से मुक्त हो जाता है। आत्यन्तकी दुःखनिवृत्ति होकर नित्य चिदानन्द का आस्वादन भी प्राप्त करता है—अतः इन में अभिधेयत्व है। किन्तु योग एवं ज्ञान सर्वपक्ष में सर्वतोभावेन निर्भरयोग्य अभिधेय हैं कि नहीं—इस संवन्ध में विवेचना आवश्यक है।

किसी उद्देश्यसिद्धि के लिए निश्चित एवं सर्वतोभावेन निर्भरयोग्य उपाय निर्णय करने के लिये यह देखना आवश्यक है कि—

१- उस उपाय के सम्बन्ध में शास्त्र में कोई अन्वय-विधि है कि नहीं, अर्थात् उस उपाय के अवलम्बन करने से अभीष्ट सिद्धि होती है—ऐसी कोई शास्त्रोक्ति है कि नहीं।

२- उस उपाय के सम्बन्ध में कोई व्यतिरेक-विधि है कि नहीं, अर्थात् उस उपाय के अवलम्बन किये बिना अभीष्ट सिद्धि नहीं होसकती—ऐसी कोई शास्त्रोक्ति है कि नहीं।

३- वह उपाय अन्यनिरपेक्ष है कि नहीं, अर्थात् अभीष्ट सिद्धि देने में वह उपाय किसी अन्य की सहायता तो नहीं चाहता। यदि वह किसी अन्य की सहायता चाहता है, तो अपेक्षणीय वस्तु के अभाव अथवा उस की सहायता के तारतम्यानुसार अभीष्ट प्राप्ति में भी विघ्न प्राप्त होगा।

४- उस उपाय में सार्वत्रिकता है कि नहीं, अर्थात् सब लोग सर्व-स्थान में उसका अवलम्बन कर सकते हैं या नहीं। यदि सार्वत्रिकता उसमें

नहीं है, तो देश, पात्र एवं अवस्था की प्रतिकूलता में वह उपाय अभीष्ट सिद्धि भी नहीं करा सकेगा।

५- उस उपाय में सदातनत्व है कि नहीं, अर्थात् वह उपाय हर समय अवलम्बन किया जा सकता है या नहीं। सदातनत्व के न रहने पर समय की प्रतिकूलता उस उपाय द्वारा अभीष्ट सिद्धि प्राप्त न होने देगी।

ये पांच लक्षण जिस उपाय में हों, वह उपाय अभीष्ट सिद्धि में सर्वतोभावेन निर्भरयोग्य एवं निश्चित अभिधेय कहा जा सकता है। योग, ज्ञान एवं भक्ति—इनमें कौन सा अभिधेय सर्वतोभावेन निर्भरयोग्य है, इस सम्बन्ध में अब विचार करते हैं।

योग सर्वतोभावेन निर्भरयोग्य अभिधेय नहीं है—

योग के सम्बन्ध में १. अन्वय-विधि तो श्रीगीता के श्लोक से प्रमाणित होती है—**"योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म न चिरेणाधिगच्छति"** (५-६) अर्थात् योगयुक्त मुनि शीघ्र ही ब्रह्म की प्राप्ति कर सकता है।

योग के सम्बन्ध में कोई २. व्यतिरेक-विधि नहीं दीखती है। अर्थात् शास्त्र में ऐसा कोई बचन नहीं है, जिससे यह प्रमाणित हो कि योग के किये बिना भगवान् की प्राप्ति होती ही नहीं है। योग में ३. अन्यनिरपेक्षता भी नहीं है। वह अनेक बातों की अपेक्षा रखता है। श्रीगीता (६-३६) में कहा है—

असंयतात्मनायोगो दुष्प्राप्य इति मे मति।
वश्यात्मना तु यततोश्क्योऽवाप्तुमुपायतः॥

जिन का मन संयत नहीं होताहै, उनके लिए योग दुष्प्राप्य है। जो मन को वशीभूत कर सकते हैं, वे ही इस उपाय के अवलम्बन करने से सफल-काम हो सकते हैं।

"शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य सुखमासनमात्मनः"

इत्यादि श्रीगीता-वचनों से जाना जाता है कि योगानुष्ठान के लिए शुद्ध स्थान, सुख जनक आसनादि की अपेक्षा है। इस से जाना जाता है कि योगमार्ग में अन्यनिरपेक्षा नहीं है और इसमें सबका अधिकार यानि ४. सार्वत्रिकता नहीं है, ५. सदातनत्व भी नहीं है।

तपस्विनो दानपरा यशस्विनो यमस्विनो मन्त्रविदः सुमङ्गलाः ।
क्षेमं न विन्दन्ति विना मदर्पणं तस्मै सुभद्रश्रवसे नमो नमः ॥

श्री भा० २-४-१७

—अर्थात् ज्ञानी, कर्मी, यशस्वी (कर्मी विशेष) मनन शील, योगी, मन्त्रवेत्ता एवं सदाचारी व्यक्तिगण भी अपने अपने साधनों एवं अनुष्ठानों को भगवान् के अर्पण किये बिना मङ्गल या सिद्धि को प्राप्त नहीं हो सकते। तात्पर्य यह है कि तप, दान, ज्ञान, कर्म, योग इत्यादि ये सब भगवत् अर्पणत्व की अपेक्षा रखते हैं। अतः योगमार्ग को निश्चित अभिधेय नहीं माना जा सकता।

ज्ञानमार्ग भी सर्व भाव से निर्भरयोग्य अभिधेय नहीं है—

ज्ञान मार्ग उस साधन पन्थ का नाम है, जिसमें जीव-ब्रह्म के अभेद-मनन पूर्वक निर्विशेष ब्रह्म के साथ सायुज्य कामना की जाती है। श्रुति कहती है—"**ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति**" यह ज्ञानमार्ग के सम्बन्ध में १. अन्वय विधि है। किन्तु ज्ञान मार्ग के सम्बन्ध में कोई २. व्यतिरेक-विधि नहीं है; अर्थात् 'ज्ञानमार्ग के साधन के बिना आत्यन्तिकी दुःख-निवृत्ति एवं ब्रह्म-अनुभूति होती ही नहीं' ऐसी कोई भी शास्त्रोक्ति नहीं है।

ज्ञान में ३. अन्यनिरपेक्षता नहीं है। ज्ञान अपना फल प्रदान करने में भक्ति की अपेक्षा रखता है। श्रीमद्भागवत् (१-५-१२) में कहा गया है—

नैष्कर्म्यमप्यच्युत भाववर्जितं न शोभते ज्ञानममलं निरञ्जनम् ।

"सर्वोपाधि-निवर्तक अमल-ज्ञान भी अच्युत श्रीभगवान् की भक्ति से रहित होने पर शोभा नहीं पाता, अर्थात् तत्व-साक्षात्कार में उपयोगी नहीं होता है।" और भी कहा है—

श्रेयः सृतिं भक्तिमुदस्य ते विभो क्लिश्यन्ति ये केवलबोधलब्धये ।
तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते नान्यद्-यथा स्थूलतुषावघातिनाम् ॥

श्रीमद्भा० १०-१४-४०

हे विभो ! मङ्गल हेतुभूता तुम्हारी भक्ति को त्याग करके जो केवल ज्ञान प्राप्ति के निमित्त क्लेश करते हैं, तण्डुलशून्य स्थूल तुषावघाती (चावल रहित धान के छिलका कूटने वाले) व्यक्ति की भांति उनके हाथ में केवल क्लेश ही आता है, अन्य कुछ भी उन्हें प्राप्त नहीं होता।

श्रीगीता (१८-१६) के "**सर्व कर्म्माण्यपि सदा**" इत्यादि श्लोक के भाष्योपक्रम में श्रीपादशङ्कराचार्य भी लिखते हैं—**भगवतोऽभ्यर्च्चनभक्तयोगस्य सिद्धिप्राप्तिः फलंज्ञाननिष्ठायोग्यता। यन्निमित्ता ज्ञाननिष्ठा मोक्षफलावसाना ॥**

—अर्थात् मोक्षफल प्राप्ति के लिए जो ज्ञाननिष्ठा है, वह भगवत्-अर्चनरूप भक्तियोग का फल है। तात्पर्य यह है कि भक्तियोग के बिना ज्ञाननिष्ठा नहीं होती है, निर्भेद ब्रह्मसुसन्धानरूप ज्ञान स्थिर नहीं रह सकता, इसलिए वह फलदायक भी नहीं होता। इन समस्त प्रमाणों द्वारा जाना जाता है कि ज्ञान, भक्ति के साहचर्य बिना स्वफल प्रदान नहीं कर सकता।

ज्ञानमार्ग में ४. सार्वत्रिकता एवं ५. सदातनत्व भी नहीं है। क्योंकि सब लोग ज्ञान के अधिकारी नहीं हैं एवं सिद्धि प्राप्ति के पश्चात् ज्ञानानुशीलन से चित्त हट जाता है। अर्थात् उसकी समाप्ति हो जाती है, जिससे उसका सदातनत्व नहीं रहता।

योग-मार्ग तथा ज्ञानमार्ग भक्ति की सहायता के बिना क्यों अपने अपने फल प्रदान में असमर्थ हैं, इसका भी एक श्रुति प्रतिष्ठित हेतु है—श्रुति कहती है—

स भगवः कस्मिन् प्रतिष्ठित इति। स्वे महिम्नीति ॥

'ब्रह्म स्वीय महिमा में प्रतिष्ठित है।' —महिमा क्या है ? —स्वरूपशक्ति का ही विलाश-विशेष है, अर्थात् ब्रह्म अपनी स्वरूपशक्ति या स्वरूपशक्ति के विलास-विशेष में ही प्रतिष्ठित है; अन्यत्र नहीं। स्वरूप-शक्ति की वृत्ति विशेष अर्थात् शुद्धसत्व में ही ब्रह्म प्रकाशित होता है। कारण कि ब्रह्म चिद्वस्तु है, चिद्वस्तु का अयन्त्र प्रकाश सम्भव भी नहीं है। मायाबद्ध जीव अपने देह एवं इन्द्रियों की सहायता से साधन करता है। ध्यान मन का कार्य है। मन प्राकृत इन्द्रिय है। बुद्धि के साथ जो ब्रह्म का अनुशीलन है, वह भी प्राकृत मन की वृत्ति-विशेष में बुद्धि का कार्य है। किन्तु प्राकृत इन्द्रियाँ या उनकी वृत्तियाँ समस्त मायिक होने से जड़ हैं। चित् तथा जड़ ये दो परस्पर विरोधी वस्तुएं हैं। जहां अन्धकार है, वहां सूर्य कहां ? जहां सूर्य है, वहां अन्धकार की सम्भावना नहीं है। अतः चिद्वस्तु ब्रह्म प्राकृत इन्द्रियों के गोचरीभूत हो ही नहीं सकता। हां, मन के स्वरूपशक्ति द्वारा अनुग्रहीत होने पर मन के अप्राकृत हो जाने पर ही ऐसा सम्भव

है। नित्यमुक्त जीवों के विषय में पहले कह आये हैं कि मायास्पर्श से सर्वदा विवर्जित होकर स्वरूपशक्ति की कृपा प्राप्ति से ही वे भगवत्साक्षात्कार में समर्थ हुए हैं। मन एवं इन्द्रियों को स्वरूपशक्ति की कृपा प्राप्ति योग्य करने का एकमात्र उपाय है—भक्ति का अनुष्ठान। इन्द्रियादि की सहायता से अनुष्ठित होने पर भी भक्ति स्वरूपत: स्वरूपशक्ति की ही वृत्ति विशेष है। श्रुति कहती है—भक्ति ह्लादिनीसारसम्वेत सम्वित्शक्ति की वृत्ति-विशेष है। अत: सच्चिदानन्द रसस्वरूप श्रीभगवान् भी भक्तियोग में अवस्थान करते हैं। यदि ऐसा न हो तो भक्ति में भगवत्-वशीकारिणी शक्ति भी नहीं रह सकती। वही भक्ति ही साधक के इन्द्रियादि के साथ तादात्मता प्राप्त करके अनुष्ठानादिरूप में प्रकाशित होती है। चित्सुखविग्रह भगवान् में केश इत्यादि की भांति। भगवान् चिदानन्द विग्रह हैं; उनके केशादि भी चिद्वस्तु हैं—अर्थात् चिदानन्द का प्रकाश विशेष हैं। उसी प्रकार श्रवण-कीर्त्तनादि भक्ति-अङ्ग प्राकृत इन्द्रियादि द्वारा अनुष्ठित होते हुए भी ह्लादिनीसारसम्वेत-सम्वित्शक्ति की वृत्ति-विशेष अर्थात् भक्ति ही का प्रकाश-विशेष हैं। भक्ति के साथ तादात्मता प्राप्त करके ही इन्द्रियादि श्रवण कीर्त्तनादि का अनुष्ठान करती हैं। इससे यह भी जाना जाता है कि भक्ति-अङ्गों के अनुष्ठान से ही साधक की देह-इन्द्रियादि का स्वरूपशक्ति के साथ तादात्मता प्राप्त हो सकता है, अर्थात् इन्द्रियादि स्वरूपशक्ति से अनुग्रहीत होकर अप्राकृत हो सकते हैं।

प्रश्न हो सकता है कि ध्यान भक्तिमार्ग में भी है, तथा ज्ञानमार्ग में भी है; भक्तिमार्ग के ध्यान को स्वरूपशक्ति की वृत्ति माना है, किन्तु ज्ञान-मार्ग के ध्यान को ऐसा क्यों नहीं माना गया ? —इसका उत्तर यह है कि भक्ति का अर्थ है सेवा **'भक्तिरस्य भजनम्'** (गो० ता० श्रुति)। अत: भक्ति में साधक के चित्त में सेव्य-सेवकत्व भाव रहता है, किन्तु ज्ञानमार्ग में नहीं। भक्ति में इसी सेव्य-सेवकत्व भाव की विशेषता है। जो सेव्य है, वह है ब्रह्म का सच्चिदानन्दमय-सविशेष स्वरूप—भगवान्। भगवान् में स्वरूप-शक्ति है। उसी स्वरूपशक्ति की वृत्ति-विशेष को भगवान् अपने भक्तवृन्दों के चित्त में सदा निक्षेप करते रहते हैं। वही भक्तचित्त में आकर भक्ति–प्रीति नाम में परिणत हो जाती है। जो जीव उनकी शरणापन्न होकर भक्ति-अङ्ग-अनुष्ठान करने की इच्छा करता है, भगवान् भी कृपा करके

भक्ति-अङ्गरूप से उसमें अपनी स्वरूपशक्ति को प्रकट करते हैं। यह स्वरूप-शक्ति कृपा कर यथा समय साधक के मन-इन्द्रियों के साथ तादात्म्य प्राप्त होकर साधक को कृतार्थ करती है। अनुष्ठान के आरम्भ में ही इन्द्रियादि स्वरूपशक्ति के सहित तादात्म्य प्राप्त नहीं कर लेते, किन्तु यथा समय पर ही करते हैं। जैसे कि लोहा अग्नि में पड़ते ही अग्नि का तादात्म्य प्राप्त नहीं कहता, किन्तु कुछ समय बीतने पर ही करता है, तद्रूप। ज्ञानमार्ग के ध्यान में बात ही और है। वहां साधक निर्विशेष ब्रह्म का ध्यान करता है, "मैं ब्रह्म हूँ" इस भाव को मन में जागृत करके। निर्विशेष ब्रह्म में स्वरूप-शक्ति का विलास है ही नहीं। इसलिए निर्विशेष ब्रह्म स्वरूपशक्ति को रूपायित करके साधक के चित्त में ध्यानरूप से प्रकट भी नहीं करता। अतः ज्ञानमार्ग के साधक का ध्यान केवल उसके प्राकृत मन की क्रिया है—वह स्वरूपशक्ति से अनुग्रहीत नहीं है।

परब्रह्म भगवान् की कृपा के सम्बन्ध में श्रुति कहती है—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन् लभ्यस्तस्यैष आत्मा वृणुते तनूं स्वाम् ॥

मण्डुकोपनिषद् ३-२-३

अर्थात्—"यह आत्मा-परब्रह्म वेदाध्ययन द्वारा लभ्य नहीं है, ग्रन्थार्थधारण शक्ति द्वारा लभ्य नहीं है एवं बहु वेदवाक्य श्रवण द्वारा भी लभ्य नहीं है। यह आत्मा परब्रह्म जिसको (स्वीय सेवक रूप से) वरण करता है, वही इस आत्मा को प्राप्त कर सकता है। यह आत्मा उसके निकट अपने विग्रह को प्रकाश या दान करता है।" वरण का अर्थ कृपा है। कारण कि तनु दान करना कृपा के अतिशयता को दिखाता है। और भी कहा गया है—

तुलसीदलमात्रेण जलस्य चुलुकेन वा।
विक्रीणिते स्वमात्मानं भक्तेभ्यो भक्तवत्सलः ॥

"भक्ति से जो एक तुलसीदल या एक चुल्लु जल श्रीभगवान् को अर्पण करते हैं, भक्तवत्सल भगवान् उनके पास अपने को बेच देते हैं—दान कर देते हैं" भक्ति-अङ्गों के अनुष्ठान रूप में अपनी स्वरूपशक्ति को साधक के लिए प्रकट करना एवं साधक की देह-इन्द्रियादि को अपनी

स्वरूपशक्ति के साथ तादात्म्य प्राप्त कराना परब्रह्म की कृपा का परिचायक है। निर्विशेष ब्रह्म में कृपा की अभिव्यक्ति नहीं है। कारण कि कृपा स्वरूप-शक्ति का विलास-विशेष है। इस से यह जाना जाता है कि ज्ञानमार्ग का ध्यान एवं भक्तिमार्ग का ध्यान स्वरूपतः एक वस्तु नहीं है। श्रवण मननादि विषय में भी यही व्यवस्था है। इसलिए साधनों की सहायता से इन्द्रियों को एकमात्र भक्ति-अङ्ग अनुष्ठान ही स्वरूपशक्ति के साथ तादात्म्य प्राप्त करा सकता है। इस प्रकार की तादात्म्य प्राप्ति के बिना चित्स्वरूप ब्रह्म किसी भी इन्द्रिय के गोचरीभूत नहीं हो सकता—ध्यान का विषयीभूत नहीं हो सकता। साधक अपनी इच्छानुरूप ध्यान की चेष्टा कर सकता है, किन्तु इस ध्यान में उसे कुछ भी अनुभव प्राप्त नहीं होगा। योगमार्ग के सम्बन्ध में भी यही व्यवस्था है।

भक्ति एकमात्र सविशेष सच्चिदानन्दरूप भगवान् में ही प्रयोज्य है। निर्विशेष ब्रह्म में भक्ति का (सेवा का) अवकाश ही नहीं है, तो प्रश्न हो सकता है कि निर्विशेष ब्रह्म से सायुज्यकामी साधक भक्ति का साहचर्य कैसे ग्रहण कर सकते हैं? इसका उत्तर यह है कि सायुज्यकामी साधक का मोक्षदाता भी तो सविशेषस्वरूप ही हो सकता है। क्योंकि मोक्षदान के अनुरूप शक्ति भी तो निर्विशेष स्वरूप में नहीं है, इसलिए निर्विशेष ब्रह्म तो मोक्षदाता हो ही नहीं सकता और साधक अपनी शक्ति से माया को हटाकर मोक्ष उपार्जन करने में असमर्थ है, कारण कि माया दुर्लङ्घनीया है। माया से एकमात्र निष्कृति प्राप्त कर सकता है—जो भगवान् की शरणापन्न हो। यथा—"**मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते**" (श्रीगीता) और माया से निष्कृति प्राप्त किये बिना मोक्ष असम्भव है—क्योंकि मोक्ष का अर्थ ही मायाबन्धन से मुक्ति पाना है। अतः माया कवल से उद्धार पाने के लिए सविशेष ब्रह्म का शरणापन्न होना पड़ेगा। अर्थात् सच्चिदानन्द-मय किसी एक सविशेषस्वरूप का भक्ति अङ्ग अनुष्ठान द्वारा भजन करना पड़ेगा तथा उनके निकट प्रार्थना करनी होगी, कि जिससे वे कृपा करके अपने निर्विशेष स्वरूप के साथ सायुज्य प्राप्त करादें। इस प्रकार भक्ति की सहायता से अनुष्ठित होने पर ज्ञानमार्ग तथा योगमार्ग के साधन फल-दायक हो सकते हैं। और तब ही वे दोनों मार्ग अभिधेय कहे जा सकते हैं। किन्तु ज्ञानमार्ग में या योगमार्ग में सिद्ध होने पर किसी साधक के सायज्य-

मुक्ति एवं परमात्मा की प्राप्ति करने पर उसका संसार आवागमन निरसन हो सकता है, ठीक है—परन्तु उस में जीव-ब्रह्म के सम्बन्ध का सम्यक् विकाश नहीं होगा—सेव्य-सेवकत्व भाव का विकाश नहीं होगा, जब तक सेव्य-सेवकत्व भाव विकशित नहीं होता, तब तक सम्बन्ध-ज्ञान का भी सम्यक् विकाश नहीं माना जा सकता। अतः ज्ञानमार्ग एवं योगमार्ग अभिधेय होते हुए भी श्रेष्ठ एवं अन्यनिरपेक्ष अभिधेय नहीं हैं।

भक्ति-मार्ग ही सर्वतोभावेन प्रधान अभिधेय है—

श्रीमद्‌गीता (१८-६५) में श्रीभगवान् कहते हैं—

मन्मनाभव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥

"हे अर्जुन ! मुझे अपना मन अर्पण कर, मेरा भक्त हो, मेरा यजन कर एवं मुझे नमस्कार कर। तू मेरा प्रिय सखा है, मैं सत्य प्रतिज्ञापूर्वक कहता हूँ, ऐसा करने से तू मुझे प्राप्त होगा।" श्रीगीता तथा श्रुतियों में भक्तिविषयक (१) अन्वयविधिमूलक ऐसी अनेक उक्तियां हैं। और—

पारंगतोऽपि वेदानां सर्वशास्त्रार्थविद् यदि।
यो न सर्वेश्वरे भक्तस्तं विद्यात् पुरुषाधमम्॥

—"जिस ने समग्र वेदों का अध्ययन कर लिया है, जो सर्वशास्त्रों के अर्थ को जानने वाला है, वह यदि सर्वेश्वर भगवान् में भक्तियुक्त नहीं है, तो उसे पुरुषाधम जानना चाहिए।" इस प्रकार भक्ति के सम्बन्ध में अनेक (१) व्यतिरेकविधिमूलक प्रमाण मिलते हैं।

भक्ति में (३) अन्यनिरपेक्षता भी है। यथा—

यत्कर्मभिर्यत्तपसा ज्ञान वैराग्यतश्च यत्।
योगेन दानधर्मेण श्रेयोभिरितरैरपि॥
सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभतेऽञ्जसा।
स्वर्गापवर्गं मद्धाम कथञ्चिद् यदि वाञ्छति॥

श्रीमद्भा० ११-२०-३२,३३

'हे उद्धव ! कर्म द्वारा, तपस्या द्वारा, ज्ञान द्वारा, वैराग्य द्वारा, योग द्वारा, दान-धर्म द्वारा, तीर्थयात्रा एवं व्रतादि अन्यान्य श्रेय-अनुष्ठानों द्वारा जो कुछ फल प्राप्त किया जा सकता है, वह समस्त फल केवल मात्र मेरी भक्ति

द्वारा अति सहज में पाया जा सकता है। भक्त के इच्छा करने पर भक्ति-द्वारा स्वर्ग एवं मुक्ति प्राप्त किये जा सकते हैं। मेरे धाम में मेरी चरण सेवा भी मेरी भक्ति द्वारा ही लभ्य है।" तथा "भक्त्याहमेकया ग्राह्यः।" इत्यादि वाक्यों से स्पष्ट है कि भक्ति किसी अन्य उपाय की अपेक्षा नहीं रखती।

भक्ति में (४) सार्वत्रिकता भी है। यथा—

किरातहूणान्ध्रपुलिन्दपुक्कसा-आभीरकङ्का यवना खसादयः।
येऽन्ये च पापा यदुपाश्रयाश्रयाः शुध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः॥

श्रीमद्भा० २-४-१८

"किरात, हूण, अन्ध्र, पुलिन्द, पुक्कस, आभीर, कङ्क, यवन खसादि जो जो पाप जातियां हैं एवं अन्य जो व्यक्ति कर्मतः पापाचारी हैं, वे समस्त जिन भगवान् के पदाश्रित-भक्तों के आश्रित होकर शुद्ध हो जाते हैं, ऐसे प्रभावशाली उन भगवान् को नमस्कार है"

केवल मनुष्य ही नहीं; कीट, पक्षी, मृगादि प्राणीमात्र ही भक्ति द्वारा ऊर्द्ध्व गति को प्राप्त कर सकते हैं। और—

अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यक् व्यवसितो हि सः॥

श्रीगीता ९-३०

"जो व्यक्ति अन्य देवताओं का आश्रय त्याग कर एकमात्र मेरा ही भजन करता है, सुदुराचारी होते हुए भी उसे साधु जानना चाहिए।"—इत्यादि प्रमाणों से स्पष्ट है कि भक्ति में सार्वत्रिकता है—अर्थात् भक्ति में सबका समान अधिकार है।

भक्ति में (५) सदातनत्व भी है, अर्थात् हर अवस्था में भक्ति का अनुष्ठान किया जा सकता है। प्रह्लादादि ने गर्भावस्था में, ध्रुवादि ने बाल्यावस्था में, अम्बरीषादि ने यौवनावस्था में, ययाति आदि ने वृद्धावस्था में अजामिल आदि ने मृत्युकाल में एवं चित्रकेतु आदि ने स्वर्ग प्राप्तावस्था में भजन किया है। नरकावस्थान काल में भी भक्ति का अनुष्ठान हो सकता है। श्रीहरिभक्तिविलास में कहा गया है—

यथा यथा हरेर्नाम कीर्त्तयन्ति च नारकाः ।
तथा तथा हरौ भक्तिमुद्वहन्तौ दिवं ययुः ॥

—जहां जहां नरकवासियों ने श्रीहरिनाम सङ्कीर्त्तन किया, वहां वहां ही वे हरिभक्ति प्राप्त करके दिव्यधाम को चले गये। सिद्धि प्राप्ति करने पर ज्ञान एवं योगादि की भांति भक्ति से विरति नहीं होती। भक्ति अनुष्ठान में स्थानास्थान का भी नियम नहीं है—श्रीहरिनाम ग्रहण में देश, काल का कोई भी नियम नहीं है। किसी समय किसी भी स्थान पर श्रीहरिनाम ग्रहण किया जा सकता है। उसमें उच्छिष्टादि का भी निषेध नहीं है। इस आलोचना से यह स्पष्ट है कि निश्चयता के समस्त लक्षण भक्ति में ही विद्यमान हैं। अतएव भक्तिमार्ग का साधन ही सर्वापेक्षा निर्भरयोग्य अभिधेय है।

भक्तिरेव एनं नयति, भक्तिरेव एनं दर्शयति।
भक्तिवशः पुरुषः। भक्तिरेव भूयसिः॥

—"भक्ति ही जीव को भगवान् के निकट ले जाती है, भक्ति ही जीव को भगवद्दर्शन कराती है। भगवान् भक्ति के वशीभूत हैं, भक्ति ही गरीयसी है।" इस श्रुतिवाक्य द्वारा जाना जाता है कि एकमात्र भक्ति की कृपा से ही जीव भगवान् की समीपता प्राप्त कर भगवत्-पार्षदत्व को प्राप्त कर सकता है। भगवद्दर्शन प्राप्त कर सकता है। पार्षदरूप में भगवत् सेवा द्वारा रस-लोलुप कराते हुए भगवान् को प्रीति रसास्वादन उन की भक्तवश्यता को प्रकटित कर सकता है। इस में ही जीव तथा पर-ब्रह्म के सम्बन्ध-ज्ञान का पूर्णतम विकाश है। इस विकाश की योग एवं ज्ञानमार्ग में सम्भावना नहीं है। शुद्धाभक्ति के अनुष्ठान से परम पुरुषार्थ प्रेम की प्राप्ति हो सकती है। अतः भक्ति ही सर्व अभिधेयों में श्रेष्ठ है। —इसलिए श्रीमन्महाप्रभु गौराङ्ग ने कहा है—

"कृष्णभक्ति हय अभिधेय-प्रधान"

श्रीचै च० २-२२-१४

प्रयोजन-तत्व

उपासना का मुख्य उद्देश्य, संसार-भय निवृति नहीं है—

जिस उद्देश्य को लेकर साधन या उपासना की जाती है, उसे "प्रयोजन" कहते हैं। जन्म-मृत्यु-त्रितापज्वालादि भय की निवृति एवं परम-ब्रह्म श्रीकृष्ण के साथ जीव का जो सम्बन्ध है, जिसे भूलकर जीव संसार-भय को प्राप्त हुआ है, उस सम्बन्ध की स्मृति को जागृत करना ही उपासना का मुख्य उद्देश्य है। संसार-भय-निवृति की वासना तो केवल उपासना की प्रवर्तक मात्र है। उपासना के प्रभाव से जब भगवत्-कृपा द्वारा सम्बन्ध-स्मृति जागृत हो उठती है, तब जीव को यह अनुभव होने लगता है कि परमकरुण श्रीकृष्ण के बिना उसका और कोई भी अपना नहीं है तथा उन श्रीकृष्णचन्द्र से उसका सम्बन्ध अत्यन्त घनिष्ट एवं मधुर है, क्योंकि वे आनन्द-स्वरूप, रस-स्वरूप तथा परम-मधुर हैं। जीव को अपना माधुर्य आस्वादन कराने के लिए एवं अपने उस माधुर्य भण्डार द्वारा उस को अपनाने के लिए रसघनविग्रह, परममधुर, परमब्रह्म भी विशेष आग्रहान्वित हैं क्यों कि वे सत्यं शिवं सुन्दरम् हैं। जब साधक यह समझ लेता है, तब जन्म-मृत्यु-त्रिताप-ज्वालादि-भय निवृति की कुछ भी वासना उसमें बाकी नहीं रहती, अपितु श्रीकृष्ण को नितान्त परमप्रिय जान कर अत्यन्त प्रीति पूर्वक उन की सेवा के लिए ही उस की तीव्र लालसा जागृत हो उठती है। फिर वह केवल यही चाहता है—

नाथ जन्म सहस्रेषु येषु येषु भवाम्यहम्।
तेषु तेष्वच्युता भक्तिरच्युतास्तु सदा त्वयि॥
या प्रीतिरविवेकीनां विषयेष्वनपायनी।
त्वामनुस्मरतः सा मे हृदयान्मापसर्पतु॥

"हे नाथ ! मेरे कर्मफलानुसार मुझे सहस्र सहस्र योनियों में, जो जो भी योनि मुझे प्राप्त हो, उसमें आप के चरणों में मेरी अचला-भक्ति बनी रहे। अविवेकी पुरुष की इन्द्रियभोग्य विषय में जैसे अटूट प्रीति रहती है, मेरे हृदय में भी वैसे ही आप की अविच्छिन्न भक्ति बनो रहे। इस प्रीति को हृदय में पोषण करके मैं निर्विच्छिन्न भाव से आपका का स्मरण करता रहूँ।"

वस्तुतः रस-स्वरूप परब्रह्म के माधुर्य में आकर्षणशक्ति इतनी अधिक है कि साधक-जीव के लिये तो कहना ही क्या, जीवन्मुक्त आत्मा-राम-मुनिगण एवं मोक्षप्राप्त मुक्तजीव भी रस-घनविग्रह परब्रह्म श्रीभगवान् की सेवा के लिए लालायित रहते हैं।

श्रीकृष्ण-प्रेम ही मुख्य प्रयोजन-तत्व है—

जो सेवावासना केवलमात्र रसघनविग्रह भगवान् की प्रीति के उद्देश्य को लेकर होती है, स्वरूपशक्ति के अनुग्रहीत होने पर उसे 'प्रेम' कहा जाता है। सम्बन्ध स्मृति के जागृत होने पर प्रेम ही साधक की एक-मात्र काम्यवस्तु, एकमात्र पुरुषार्थ एवं एकमात्र प्रयोजन होता है। भगवान् के साथ जीव के सम्बन्ध का ज्ञान बहिर्मुखतारूप सुदृढ़ आवरण से ढका हुआ है। अतः सम्बन्ध ज्ञान का स्वाभाविक धर्म जो सेवावासना है, वह भी प्रच्छन्न हो रही है। भगवत् कृपा-परिपुष्ट साधन के प्रभाव से बहि-र्मुखता का आवरण दूर होने पर सम्बन्ध ज्ञान जागृत होता है तथा सेवावासना स्वतः स्फुरित हो उठती है। उस के बाद फिर जन्म-मृत्यु त्रिताप-ज्वालादि के भय से उद्धार पाने की वासना के लिये स्थान नहीं है। जीव तथा श्रीभगवान् का सम्बन्ध जैसे नित्य, अनादि तथा अविच्छेद्य है, उसी प्रकार सेवावासना भी नित्य एवं अनादि है, दोनों प्रच्छन्न मात्र हैं। भगवत्-कृपा-पुष्ट साधन द्वारा उस प्रच्छन्नता के दूर होने पर अपने आप इनका प्रकाश होता है। यह सेवावासना जीव-ब्रह्म के सम्बन्ध का एक स्वरूपगतधर्म है। पहले जो यह कहा जा चुका है कि जीव-ब्रह्म के सम्बन्ध की स्मृति को जागृत करना उपासना का उद्देश्य है, उस का तात्पर्य है, जीव के चित्त में रसस्वरूप परब्रह्म श्रीभगवान् की सेवावासना की स्फूर्त्ति कराना।

प्रथमावस्था में साधक के प्राकृत मन में श्रीकृष्ण सेवा के लिये एक वासना उत्पन्न होती है, जो प्राकृत मन की वृत्ति होने से प्राकृत ही

रहती है। किन्तु भगवत्-कृपा-पुष्ट साधन फल द्वारा जब मन स्वरूप शक्ति की वृत्ति-विशेष—शुद्धसत्व के साथ तादात्म्य प्राप्त करता है, तब वह सेवा-वासना भी उसका तादात्म्य प्राप्त करके अप्राकृत हो जाती है। ऐसी सेवा-वासना जब श्रीकृष्ण द्वारा सर्वदा-निक्षिप्त ह्लादिनी शक्ति (स्वरूपशक्ति) की किसी एक सर्वानन्दातिशायिनी वृत्ति के साथ मिलती है, तब उसे 'प्रेम' कहा जाता है। जीव और पर-ब्रह्म के सम्बन्ध ज्ञान के सम्यक् विकाश में जैसे सेवावासना अपने आप स्फुरित होती है वैसे ही श्रीकृष्ण निक्षिप्त ह्लादिनीशक्ति से सेवावासना का मिलन भी अपने आप संघटित होता है, जिससे प्रेम का आविर्भाव होता है। तात्पर्य यह है कि भगवत्-कृपा-पुष्ट उपासना के फलस्वरूप जीव-ब्रह्म के सम्बन्ध-ज्ञान के विकशित होने पर स्वतः ही चित्त में प्रेम का आविर्भाव होता है, एवं इसी प्रेम प्राप्ति में ही सेवावासना की सार्थकता है। क्योंकि प्रेमप्राप्ति होने पर ही जीव श्रीकृष्ण-चन्द्र की सेवा प्राप्त करने का सौभाग्य प्राप्त कर सकता है। प्रेम ही जीव का एकमात्र पुरुषार्थ या मुख्य अभीष्ट है। अतएव प्रेम को ही मुख्य प्रयोजन-तत्व कहा गया है। यथाः—

"भक्तिफल-प्रेम प्रयोजन"

(चै च० २-२३-२)

साध्य

ब्रह्मानन्द वैचित्रीहीन स्वरूपानन्द है।

पहले ही यह कहा जा चुका है कि जीव की चिरन्तनी वासना आनन्द-प्राप्ति है। भगवान् ही आनन्दस्वरूप हैं एवं भगवान् के सब स्वरूप आनन्दमय हैं। किसी भी भगवत्-स्वरूप की उपलब्धी से जीव नित्य एवं शाश्वत आनन्द को प्राप्त कर सकता है। किन्तु जिस स्वरूप में चित्-शक्ति का विलास जितना अधिक है, उस स्वरूप में आनन्द एवं माधुर्य भी उतना अधिक है।

निर्विशेष या अव्यक्त-शक्तिक ब्रह्म आनन्द स्वरूप है। किन्तु चित्-शक्ति की अभिव्यक्ति न होने से उसमें आनन्द की वैचित्री नहीं है। ब्रह्म की प्राप्ति में केवल स्वरूपानन्द प्राप्त होता है।

परमात्मा का अनुभवानन्द लीला की आनन्द-वैचित्री रहित है।

परमात्मा का अनुभवानन्द भी शाश्वत एवं अलौकिक आनन्द है। परमात्मा में शक्ति के कुछ विकाश होने के कारण उसका रूप है, माधुर्य भी है। उसके अनुभव में ब्रह्मानन्द से बहुगुणाधिक आनन्द मिलता है। किन्तु परमात्मा में लीला नहीं है, उसका लीलापरिकर नहीं है। अतः लीलापरिकर के सहित जो लीला में आनन्द की स्फूर्त्ति है, परमात्मा की प्राप्ति में उस परम लोभनीय आनन्दवैचित्री के आस्वादन की सम्भावना नहीं है।

श्रीकृष्णानुभव में आनन्द की पराकाष्ठा है।

भगवत्-स्वरूपों में सभी स्वरूपों का परिकर है, लीला है। उनकी उपलब्धी में उनके रूप-गुणादि के साथ साथ लीला-माधुर्य का आस्वादन है, जो परमात्मा के अनुभवजनित आनन्द से अत्याधिक है। उन समस्त भगवत् स्वरूपों में स्वयं भगवान् श्रीब्रजेन्द्रनन्दन में समस्त शक्तियों का पूर्णतम विकाश होने के कारण उनके रूपगुणादि का एवं लीला का माधुर्य भी सर्वापेक्षा अधिक है। अतएव स्वयं भगवान् श्रीब्रजेन्द्रनन्दन के अनुभव में आनन्द-वैचित्री की आस्वादन-चमत्कारिता सर्वातिशायी है।

भगवत्-सान्निध्य।

भगवत्-स्वरूप की उपलब्धी में आनन्द प्राप्त होता है, यह सत्य है; किन्तु उस उपलब्धी का उपाय क्या है? आस्वादन के लिये आस्वाद्य-वस्तु का सान्निध्य अपरिहार्य है। अतः जीव के लिये उस आनन्दास्वादन के निमित्त भगवत्-सान्निध्य परम-आवश्यक एवं अपरिहार्य है। जीव वह सान्निध्य कैसे प्राप्त कर सकता है? और भगवत्-सान्निध्य प्राप्त करने पर भी आनन्दास्वादन सम्भव है कि नहीं?—आनन्दास्वादन के लिये जीव की एक स्वाभाव की स्पृहा है। और जीव प्राकृत सुख—चाहे वह दुख संकुल ही है, प्राप्त करता है एवं उसमें एक प्रकार का यत्किञ्चित आनन्द आस्वादन

भी करता है, जिससे यह जाना जाता है कि जीव में आस्वादन करने की स्पृहा तथा योग्यता दोनों ही विद्यमान हैं। आनन्दास्वादन की योग्यता होने से आनन्द-स्वरूप के सान्निध्य में आस्वादन की असम्भावना तो नहीं कही जा सकती। परन्तु आनन्द-वैचित्री का किंवा आनन्द-चमत्कारिता का आस्वादन केवल सान्निध्य द्वारा नहीं हो सकता।

सेवा ही आनन्दास्वादन का हेतु है।

भगवान् रसस्वरूप होने से रसिक हैं—रसास्वादक हैं। लीला-रसास्वादन के लिये उनकी लीला एवं लीलापरिकर हैं। किन्तु उस लीला में केवल स्वयं ही रस आस्वादन करना नहीं अपितु निजभक्तों को—निज परिकरों को भी लीलारस का आस्वावन कराना भगवान् का उद्देश्य है। वस्तुतः यही उनकी लीला का मुख्य उद्देश्य है, कारण कि वे भक्तवत्सल हैं। भक्तों का सुख उनका प्रधान अभिप्रेत है, जो ह्लादिनी शक्ति के धर्म से प्रतिपन्न होता है। ह्लादिनी भगवान् को सुख देती है तथा उनके भक्तों को भी सुख देती है। परिकरवृन्द में यही ह्लादिनीशक्ति ही प्रेमरूप में परिणत होकर सेवा द्वारा श्रीकृष्ण को सुखास्वादन कराती है एवं भक्तों को भगवान् का माधुर्यादि आस्वादन कराती है। प्रेमपूर्वक सेवा ही आनन्द-स्वरूप भगवान् के सर्वविध माधुर्य आस्वादन का द्वार है। श्रीभगवान् कहते हैं कि:—

> "आमार माधुर्य नित नव नव हय।
> स्व-स्वप्रेम अनुरूप भक्त आस्वादय॥"

जितना अधिक प्रेम जिस भक्त में विकसित होता है, उतना ही अधिक माधुर्यरस आस्वादन करने में वह समर्थ होता है। अतः पूर्णानन्दास्वादन के लिये प्रेमपूर्वक भगवत्-सेवा अपरिहार्य है।

जीव का साध्य

श्रीभगवान् का परिकरत्व प्राप्त करके स्वाभीष्ट लीला में यदि भगवान् की लीलानुरूप सेवा की जाय, तभी भगवान् के आनन्दस्वरूपत्व की वैचित्री का आस्वादन सम्भव हो सकता है एवं तब ही भक्तवत्सल भगवान् की कृपा से तथा भगवत्-सेवा के स्वाभाविक धर्म से जीव आनन्द-वैचित्री का—परमानन्द परावधि का अनुभव कर सकता है। जो आनन्द-

वैचित्र्य के आस्वादन लिप्सु हैं, भगवान् का परिकरत्व प्राप्त करके उनकी सेवा-प्राप्ति ही उनका अभीष्ट है एवं इसी में ही उनके स्वरूपानुबन्धि कृष्णदासत्व का पर्य्यवसान है। किन्तु परिकर-रूप में सेवा प्राप्ति के लिये भी प्रेम का मुख्य प्रयोजन है। अतः प्रेम ही जीव की मुख्य साध्य वस्तु है— प्रेम ही प्रयोजन तत्व है।

गौड़ीय वैष्णवों का साध्य।

आनन्दास्वादन जीव का स्वाभाविक काम्य होते हुए किसी एक भगवत्स्वरूप के परिकररूप में सेवा द्वारा वह आनन्दास्वादन प्राप्त किया जा सकता है, किन्तु श्रीमन्महाप्रभु श्रीगौराङ्ग-अनुगत वैष्णवगण एक मात्र श्रीब्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण की सेवा प्राप्ति को ही परमपुरुषार्थ मानते हैं। श्रीकृष्ण-सेवा-जनित आनन्दास्वादन का लोभ उनको अभीष्ट श्रीकृष्ण-सेवा में प्रवृत नहीं रहता, किन्तु सेवा द्वारा श्रीकृष्ण को सुखी करने की इच्छा ही उनके लिये सेवा की प्रवर्तक है। क्योंकि नित्य कृष्ण-दास होने से जीव का स्वरूपानुबन्धि कर्त्तव्य है श्रीकृष्ण-सुखैक-तात्पर्यमयी सेवा। उस सेवा में अपने लिये सुख का कोई स्थान नहीं है। यदि उसमें अपने सुख की वासना हो तो वह वास्तविक सेवा नहीं हो सकती। अतः स्वसुखवासना-गन्ध-लेश-शून्य श्रीकृष्ण-सुखैकतात्पर्यमयी श्रीकृष्ण सेवा ही श्रीमन्महाप्रभु अनुगत वैष्णवों की साध्य वस्तु है।

श्रीकृष्ण द्वापर में ब्रजेन्द्रनन्दनरूप से ब्रजलीला करते हैं, एवं कलियुग में श्रीशचीनन्दनरूप से नवद्वीप लीला करते हैं, दोनों ही उनके स्वयंरूप की लीलाएं हैं एवं दोनों लीलाओं के समवाये में ही उनकी लीला की पूर्णता है। इसलिये दोनों लीलाओं की सेवा से श्रीकृष्ण-सेवा की पूर्ण सार्थकता है। दोनों लीलाओं की सेवा ही गौड़ीय-वैष्णवों की काम्य वस्तु है।

जीव की सेवा आनुगत्यमयी है।

ब्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण की सेवा चार भावों से हो सकती है एवं ब्रज में श्रीकृष्ण के चारों भावों के परिकर हैं—दास्य, सख्य, वात्सल्य एवं मधुर। इन चारों भावों में से किसी एक भाव के आनुगत्य में जीव श्रीकृष्ण सेवा प्राप्त कर सकता है। आनुगत्य इसलिये कहा है कि जीवस्वरूपतः

कृष्णदास है। आनुगत्यमयी सेवा में ही दास का अधिकार होता है—स्वातन्त्र्यमयी सेवा में नहीं। अतः अपने अभोष्ट भावानुकूल परिकर का आनुगत्य लेकर तदनुरूप लीला में श्रीकृष्ण सेवा ही जीव का स्वरूपानुबन्धि कर्त्तव्य है। दास्य भाव में दास्य भाव के परिकर रक्तक-पत्रक-आदि का आनुगत्य, सख्यभाव में सख्यभाव के परिकर सुबल-मधुमङ्गलादि का आनुगत्य, वात्सल्य भाव में वात्सल्य भाव के परिकर श्रीनन्द-यशोदा आदि का आनुगत्य एवं मधुर भाव में मधुरभाव के परिकर श्रीराधा तथा श्री रूपमञ्जरो आदिया आनुगत्य हो विहित है। इन चारों भावों में दास्य की अपेक्षा सख्य में और सख्य की अपेक्षा वात्सल्य में एवं वात्सल्य की अपेक्षा मधुरभाव में श्रीकृष्ण के प्रति ममता-बुद्धि का आधिक्य हैं, श्रीकृष्ण के माधुर्यादि के विकाश का भी आधिक्य है, सेवा परिपाटी का प्रकाश एवं श्रीकृष्ण की प्रेम-वशी-भूतता भी अधिक है। मधुरभाव अन्य समस्त भावों की अपेक्षा सेवामाहात्म्य में भी श्रेष्ठ है। मधुर भाव या कान्ता-प्रेम से श्रीकृष्ण की सर्वापेक्षा अधिक सेवा प्राप्त होती है। यथाः—

"परिपूर्ण कृष्णप्राप्ति एइ प्रेमा हैते ॥"

इस मधुरभाव में आनन्दचमत्कारिता भी सर्वापेक्षा अधिक है। अतएव मधुरभाव की सेवा ही गौड़ीय वैष्णवों के लिये साध्य-शिरोमणि कही गई है।

साधन

धाम, लीला, परिकर-मायातीत हैं। जीव का चित्त माया-मलिन है।

भगवत्-सान्निध्य एवं उनके परिकररूप में भगवत्-सेवा प्राप्ति करना ही साध्य वस्तु है, उसके पाने का उपाय क्या है?—श्रीभगवान् मायातीत हैं, उनके धाम-लीला, परिकरादि भी समस्त मायातीत वस्तुएं

हैं। उनके निकट जाने का अधिकार माया को नहीं है। जीव स्वरूपतः चिद्वस्तु होते हुए भी माया के कवल में पड़कर मायिकशरीर आदि को अङ्गीकार कर चुका है। माया के संश्रव में उसके चित्त में भुक्ति-वासनादि मलिनता का आवरण पड़ा हुआ है, जिससे जीव की स्वरूपानुबन्धि श्रीकृष्ण-सेवा भी प्रच्छन्न हो चुकी है। माया-कवल से उद्धार हुए बिना या मलिनता के दूर हुए बिना जीव के चित्त में श्रीकृष्ण-सेवा की वासना भी जागृत नहीं हो सकती। तो ऐसी अवस्था में जीव अपनी साध्य वस्तु को कैसे प्राप्त करे ?

भगवान् की करुणा तथा साधन—

पहले ही यह कहा जा चुका है कि माया ईश्वर की शक्ति है। जीव उसको हटाने में असमर्थ है। माया केवल भगवान् की शरण लेने पर ही दूर हो सकती है। भगवान् परम-करुण हैं। सब पर समान कृपा करने के लिये एवं सबको अपने चरणों में शरण देने के लिये सदा उत्सुक है। क्योंकिः—

"लोक निस्तारिव एई ईश्वर-स्वभाव"

जीवों क उद्धार करना ईश्वर का स्वभाव है। किन्तु मायाबद्ध जीव का चित्त इस कृपा को ग्रहण करने में असमर्थ है। सूर्य की किरणों की तरह निरपेक्षभाव में सर्वत्र उनकी कृपा वितरित हो रही है, किन्तु अपनी अपनी योग्यता अनुसार ही जीव का हृदय उसे ग्रहण करता है। उनकी इस कृपा को ग्रहण करने की योग्यता प्राप्त करने के लिये उपाय शास्त्रों में बतलाए गये हैं। उन उपायों को अवलम्बन करके जीव भगवत्-कृपा द्वारा माया -कवल से मुक्त होकर भगवत्-सान्निध्य एवं भगवत्-परिकरत्व को प्राप्त कर भगवत्-सेवा द्वारा कृतार्थ हो सकता है। उन समस्त शास्त्र-विहित उपायों का नाग "साधन" है।

ज्ञानमार्ग।

भगवदुपलब्धि के अनुकूल अनेक शास्त्र-विहित साधनों में से ज्ञान, योग एवं भक्ति ये तीन मार्ग ही विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं। पहले यह कहा जा चुका है कि—ज्ञानमार्ग भक्ति की अपेक्षा रखता है। निर्विशेष ब्रह्म के साथ सायुज्य प्राप्त होने पर साधक के लिये ब्रह्म की सेवा का

किसी-रूप में भी अवकाश नहीं है, अतः उसके लिये भगवत्-सेवा-जनित आनन्दास्वादन भी असम्भव है। ब्रह्म तादात्म्य-प्राप्त जीव स्वरूपानन्द का अनुभव करता है, किन्तु उसमें जीव स्वरूपानुबन्धि कर्त्तव्य-भगवत्-सेवा नहीं है। विशेषतः जीव-ब्रह्म का अभेदज्ञान भक्ति के प्राण सेव्य-सेवकत्व भाव का विरोधी है।

योगमार्ग।

योगमार्ग में भी परमात्मा की प्राप्ति के लिये भक्ति अपरिहार्य है। किन्तु योग-मार्ग के उपासक के उपास्य परमात्मा में लीला एवं लीला-परिकर न होने से लीलामय भगवत्-स्वरूप की सेवा असम्भव है। अतः नित्य कृष्णदास-जीव के लिये यह योगमार्ग भी अभीष्ट नहीं है।

भक्तिमार्ग।

अभिधेयतत्व में कहा जा चुका है कि भक्तिमार्ग में ज्ञान योगादि मार्गों की अपेक्षा भगवदुपलब्धि का उत्कर्ष है—कारण कि भगवान् भक्ति के वशीभूत हैं। यहां तक कि भक्त को वे आत्मदान पर्यन्त कर देते हैं और भक्त उनको सम्यक्-रूप से प्राप्त कर सकता है। भक्ति में अन्य-निरपेक्षता है, सार्वत्रिकता एवं सदातनत्व विद्यमान हैं। अतः भक्ति को सर्व-साधन-श्रेष्ट कहा गया है।

साधन-भक्ति।

श्रीकृष्णसेवा-प्राप्ति के अनुकूल जो साधन-भक्ति है, उसका लक्षण शास्त्र में इस प्रकार कहा गया है:—

अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञान-कर्माद्यनावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा॥

—भक्तिरसामृतसिन्धु १–१–९

श्रीकृष्ण-प्रीति के अनुकूल मनसा-वाचा-कर्मणा श्रीकृष्ण-सम्बन्धि अनुशीलन ही भक्ति है। जिसमें श्रीकृष्ण-सेवावासना के बिना और कोई भी वासना न हो एवं ज्ञान-कर्मादि द्वारा वह आवृत भी न हो, अर्थात् मोक्ष-

वासना और इहकाल, परकाल के सुख भोगादिकी वासना रहित जो श्रीकृष्ण का अनुकूल भाव से अनुशीलन है, उसे उत्तमा-भक्ति या साधन-भक्ति कहते हैं।

वैधी भक्तिः—

यत्र रागानवाप्तत्वात् प्रवृत्तिरुपजायते।
शासनेनैव शास्त्रस्य सा वैधीभक्तिरुच्यते॥

—भक्तिरसामृतसिन्धु ३१-२-३

—"जहां अनुराग नहीं है, केवल शास्त्र-शासन के भय से ही प्रवृत्ति हैं—उसे वैधी-भक्ति कहा जाता है।" जो भगवत् भजन में प्रवृत होते हैं, उनमें साधारणतः दो श्रेणियों के लोग पाए जाते हैं। प्रथमतः—जो केवल शास्त्र-शासन के भय से भजन में प्रवृत होते हैं—अर्थात् "भगवान् अनन्तकोटि ब्रह्माण्डों के अधीश्वर हैं, अनन्त ऐश्वर्य के अधिपति हैं, जीवों के पुण्य-पाप के फल प्रदाता हैं, उनका भजन किये बिना अशेष यन्त्रणा भोग करनी पड़ेगी।" ऐसा विचार कर जो भजन करते हैं, उनकी साधन-भक्ति को "वैधी-भक्ति" कहा जाता है। शास्त्र-शासन का भय ही इसका प्रवर्तक है। इसमें ईश्वर-जीव के सेव्य-सेवक सम्बन्ध की जागृति होते हुए भी साधक के चित्त में भगवान् के एश्वर्य का ज्ञान ही प्रधानता रखता है। वैधी-मार्ग की भजन-सिद्धि होने पर साधक भगवान् के ऐश्वर्यात्मक-स्वरूप की सेवा प्राप्त करता है। वैधी-मार्ग से ब्रज में ब्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णचन्द्र की सेवा प्राप्त नहीं हो सकती, क्योंकि ब्रजभाव तो शुद्ध-माधुर्यात्मक है। उसमें ऐश्वर्य का प्राधान्य नहीं है।

रागानुगाभक्ति—

द्वितीयतः—इहलोक, परलोक का चिन्तन करते हुए शास्त्र-शासन के भय से भय-भीत न होकर जो लोग केवल मात्र श्रीकृष्ण के असमोर्ध्व माधुर्य में आकृष्ठ होकर उनकी सेवा-योग्यता की प्राप्ति के निमित्त भजन में प्रवृत होते हैं, उनकी साधन-भक्ति को "रागानुगा-भक्ति" कहा जाता है। यथाः—

विराजन्तीमभिव्यक्तं व्रजवासिजनादिषु ।
रागात्मिकामनुसृता या सा रागानुगोच्यते ॥

—भक्तिरसामृतसिन्धु १-२-७६

"जो भक्ति व्रजवासीजनों में प्रकाश्यरूप से विराजमान है, उसे रागात्मिका–भक्ति कहते हैं। इसी रागात्मिका–भक्ति की अनुगता–भक्ति को रागानुगा–भक्ति कहा जाता है।"

यहां पर श्रीकृष्ण-सेवा का लोभ अर्थात् श्रीकृष्ण-माधुर्य का आकर्षण ही भजन का प्रवर्तक है। रागानुगा-भक्तिमार्ग का साधक श्रीकृष्ण को नितान्त अपना समझता है। उसके चित्त में श्रीकृष्ण का ऐश्वर्य भाव कभी स्थान पा ही नहीं सकता। श्रीकृष्ण के असमोर्ध्व माधुर्य से उसका हृदय परिपूर्ण रहता है। अतः शुद्ध माधुर्यमयस्वरूप श्रीव्रजेन्द्रनन्दन की सेवा ही रागानुगा-भक्ति के साधक की काम्य-वस्तु है।

वैधी तथा रागानुगा-भक्ति का पार्थक्य—

वैधी तथा रागानुगा-भक्ति के अनुष्ठानों में बाह्य दृष्टि से कुछ भी पार्थक्य नहीं है। केवल साधकों के मन के भावों में पार्थक्य है। जैसे एक नौकर का रसोई बनाना तथा माता या पत्नी का रसोई बनाना, दोनों का अनुष्ठान एक ही है, किन्तु उसमें मौलिक अन्तर है। नौकर का कार्य अपनी नौकरी बजा लेना एवं अपनी नौकरी की रक्षा करने तक सीमित है—उसमें प्रीति का अभाव है। किन्तु माता या पत्नी रसोई करती है—अपनी सन्तान अथवा पति की तृप्ति के निमित्त। वह चाकरी नहीं किन्तु प्रीति का कार्य है। इसी प्रकार वैधी-भक्ति का साधक एकादशी व्रत करता है—केवल नरक जाने के भय से ! किन्तु रागानुगा-भक्ति का साधक केवल भगवान् की प्रीति प्राप्त करने के लिये ही व्रत करता है। दोनों का अनुष्ठान एक है, परन्तु भावों में पार्थक्य है।

वैधी-भक्ति के साधन—

श्रीमन्महाप्रभु ने निम्नलिखित चौंसठःअङ्ग साधन-भक्ति का उपदेश किया हैः—

(१) श्रीगुरु के चरण कमलों का आश्रय ग्रहण करना। (२) श्रीकृष्ण मन्त्र की दीक्षा लेना एवं उसकी शिक्षा प्राप्त करना (३) विश्वासयुक्त श्रीगुरु सेवा। (४) भक्तों द्वारा आचरित-मार्ग का अनुगमन। (५) सद्धर्म की-जिज्ञासा। (६) श्रीकृष्ण प्रीति के लिये भोगों का त्याग। (७) द्वारकादि धाम अथवा गङ्गादि महातीर्थ में निवास। (८) यावदर्थानुवर्तिता (अर्थात् जितना नियम निर्वाह हो सके उतना ही भजन-नियम-ग्रहण करना) (९) एकादशी-जन्माष्टमी आदि हरिवासरों का यथाशक्ति सम्मान। (१०) आमलक-अश्वथादि वृक्षों का गौरव रखना। (११) कृष्ण-विमुख व्यक्तियों का संग त्याग। (१२) अनधिकारी व्यक्ति को शिष्य न करना। (१३) मठादि-महत्-आरम्भ न करना। (१४) अनेक मतों के ग्रन्थों का तथा चतुषष्ठि-कलाओं का अभ्यास, व्याख्या तथा वाद-विवाद त्याग। (१५) व्यवहार में कृपणता का त्याग। (१६) शोकमोहादि में वशीभूत न होना। (१७) देवताओं की अवज्ञा न करना। (१८) प्राणीमात्र के प्रति अभय-दान। (१९) बत्तीस सेवापराधों से एवं दस नामापराधों से बचना। (२०) श्रीकृष्ण की एवं भक्तों की निन्दा सहन नहीं करना। (२१) वैष्णव-चिह्न अर्थात् कण्ठी-तिलकादि धारण करना। (२२) शरीर पर भगवन्नाम धारण करना। (२३) निर्म्माल्य-धारण अर्थात् श्रीभगवान् के प्रसादी माला-वस्त्रादि धारण करना। (२४) श्रीभगवान् के सन्मुख नृत्य करना। (२५) श्रीभगवान् को दण्डवत-प्रणाम करना। (२६) श्रीकृष्ण की मूर्त्ति दर्शन करते ही खड़ा हो जाना। (२७) भगवान् की मूर्त्ति के पीछे पीछे चलना। (२८) भगवत्-अधिष्ठान-स्थानों में (मन्दिरादि में) जाना। (२९) तीर्थ-यात्रा एवं परिक्रमा। (३०) अर्च्चन (पूजा)। (३१) परिचर्या। (३२) गीत (भगवान् के आगे पदों का गान करना)। (३३) सङ्कीर्त्तन (भगवत् लीला गुणकीर्त्तन) (३४) जप। (३५) विज्ञप्ति-कृपादि के लिये निवेदन एवं प्रार्थना (दीनता तथा लालसा-मयी)। (३६) स्तुति-पाठ। (३७) भगवत् प्रसादी नैवेद्य का आस्वादन। (३८) चरणामृत-पान करना। (३९) प्रसादी धूप-माल्यादिकी सुगन्धि लेना। (४०) श्रीमूर्त्ति का स्पर्श करना। (४१) श्रीमूर्त्ति का दर्शन। (४२) आरती एवं उत्सवादि दर्शन। (४३) श्रवण (श्रीभगवन्नाम-गुण-चरित सुनना)। (४४) श्रीकृष्ण-कृपा की वाट तकना। (४५) स्मरण। (४६) ध्यान (गुणध्यान-क्रीड़ाध्यान एवं सेवाध्यान)। (४७) दास्य (कर्म्मार्पण करते हुए दास-भाव तथा सेवा करते हुए दास-भाव)। (४८) सख्य (विश्वास पूर्वक सखा-भाव, मित्रवृति पूर्वक सखा-भाव)। (४९) आत्मनिवेदन (देही-समर्पण

तथा देह-समर्पण)। (५०) श्रीकृष्ण को अपनी प्रिय वस्तु समर्पण। (५१) श्रीकृष्ण के लिये ही सर्वचेष्टाओं का होना। (५२) सर्वावस्था में शरणापत्ति। (५३) तुलसी-सेवन। (५४) श्रीमद्भागवतादि वैष्णव शास्त्र श्रवण करना। (५५) मथुरा सेवन (मथुरा की यात्रा करना, वास करना)। (५६) वैष्णव-सेवा। (५७) वैभवानुरूप (अपनी शक्ति-अनुरूप) महोत्सव करना। (५८) कार्तिक मास का विशेष आदर। (५९) श्रीकृष्ण-जन्म यात्रा (श्रीकृष्ण जन्माष्टमी पर ब्रज-यात्रा) (६०) श्रद्धापूर्वक मूर्त्ति पूजन। (६१ रसिकजनों के साथ श्रीमद्भागवतार्थास्वादन। (६२) स्वजातीय एवं श्रेष्ठ भक्तों का संग। (६३) श्रीनाम-सङ्कीर्त्तन। (६४) मथुरामण्डल वास (निरन्तर ब्रजवास करना)

इनमें गुरुपदाश्रयादि पहले दस अङ्ग ग्रहण करने योग्य हैं तथा सेवा-नामापराध-वर्जनादि द्वितीय दस अङ्ग त्यागने योग्य हैं। ये बीस-अङ्ग भक्ति के द्वार स्वरूप हैं, अर्थात् भक्ति की रक्षा करने के लिये एवं भक्ति के विघ्नों को दूर करने के उपायस्वरूप हैं। शेष चवालीस-अङ्ग भक्ति के उन्मेषक-साधन हैं। "श्रवण, कीर्त्तन, स्मरण, पूजन, बन्दन, परिचर्य्या, दास्य, सख्य, आत्म-निवेदन" यह नवधाभक्ति इन चवालीस अंगों का सार है। इन चवालीस अङ्गों में १— श्रीसाधुसङ्ग, २— श्रीनाम-सङ्कीर्त्तन, ३— श्रीमद्भागवत श्रवण, ४— श्रीमथुरावास (ब्रजवास) एवं ५— श्रद्धा सहित श्रीमूर्त्ति पूजन, इन पांच अङ्गों का उत्कर्ष श्रीमन्महाप्रभु ने कहा है। इन पांचों का अल्प अनुष्ठान कृष्ण प्रेम उदित करता है। यथाः—

"कृष्णप्रेम जन्माय एई पांचेर अल्पसङ्ग।"

और फिर सर्वविध साधन-भक्ति में श्रीनामसङ्कीर्त्तन को ही सर्व श्रेष्ठ बतलाया है। यथाः—

"नवधाभक्ति पूर्ण हय नाम हैते।"
"नाम-सङ्कीर्त्तन कलौ परम उपाय।"

"सङ्कीर्त्तन यज्ञे कलौ कृष्ण आराधन।
सेइ तो सुमेधा पाय कृष्णेर चरण॥

नाम सङ्कीर्त्तन हैते सर्वानर्थ नाश ।
सर्व शुभोदय कृष्ण-प्रेमेर उल्लास ॥
सङ्कीर्त्तन हैते पाप-संसार-नाशन ।
चित्तशुद्धि, सर्वभक्ति साधन उद्‌गम ॥
कृष्ण-प्रेमोद्‌गम, प्रेमामृत-आस्वादन ।
कृष्ण प्राप्ति, सेवामृत समुद्रे-मज्जन ॥

—चै० च० ३, २०, ७-११

—"नवधाभक्ति श्रीनामसङ्कीर्त्तनसे पूर्ण होती है।" "कलियुग में श्रीनामसङ्कीर्त्तन ही सर्वश्रेष्ठ साधन है" "कलियुग में जो व्यक्ति श्रीकृष्ण की आराधना श्रीनामसङ्कीर्त्तन यज्ञ द्वारा करता है, वही सुबुद्धिमान है एवं उसे ही श्रीकृष्णचरणारविन्द प्राप्त होते हैं। श्रीनामसङ्कीर्त्तन से सर्व अनर्थों का नाश होता हैं, एवं सर्व मङ्गल-दाता श्रीकृष्ण-प्रेम का विकाश होता है। श्रीनामसङ्कीर्त्तन से समस्त पाप एवं त्रितापज्वालादि-संसार दुखों का नाश होता है। इसके प्रभाव से चित्त की माया-मलिनता दूर होकर समस्त भक्ति-साधनों का प्राकट्य होता है। श्रीनामसङ्कीर्त्तन से श्रीकृष्ण-प्रेम उदय होता है एवं प्रेमरूप अमृत का आस्वादन प्राप्त होता है। श्रीनामसङ्कीर्त्तन से श्रीकृष्ण-प्राप्ति होकर उनकी सेवा में रहकर कीर्त्तनकारी आनन्दरूप समुद्र में निमग्न हो जाता है। श्रीनामसङ्कीर्त्तन में एक और सुविधा यह है कि:—

खाइते शुईते यथा तथा नाम लय ।
काल-देश-नियम नाहिं सर्व सिद्ध हय ॥

—खाते में, सोते में जैसे तैसे श्रीभगवन्नाम लिया जा सकता है। इसमें देश काल का कोई नियम नहीं है। यह सर्व सिद्धि देने वाला है। समस्त भक्ति-अङ्गों के प्रति यथोचित श्रद्धा प्रदर्शन पूर्वक रुचि-अनुसार यदि एक अङ्ग का विशेष अनुष्ठान किया जाये तो उससे ही अभीष्ट-सिद्धि हो सकती है। वैधी-भक्ति के अनुष्ठान करते करते कभी सौभाग्यवश—रागानुगा साधक के सङ्ग प्रभाव से ऐश्वर्य ज्ञान अन्तर्हित हो सकता है एवं

शुद्धा-भक्ति के साथ श्रीकृष्ण-सेवा-लालसा भी जागृत हो सकती है। अर्थात् वैधी भक्ति रागानुगा-भक्ति में परिवर्त्तित हो सकती है।

रागानुगा-भक्ति के साधन—

श्रीपाद सनातन गोस्वामी को शिक्षा देते हुए श्रीगौरसुन्दर ने रागानुगा-भक्ति का लक्षण इस प्रकार कहा है—"हे सनातन ! रागानुगा-भक्ति का लक्षण सुनो, रागात्मिकाभक्ति मुख्यतः ब्रजवासियों में है। उनके आनुगत्य में जो भक्ति का अनुष्ठान किया जाता है, उसे रागानुगाभक्ति कहते हैं। इष्टदेव में गाढ़तृष्णा ही रागात्मिका-भक्ति का स्वरूप-लक्षण है और इष्टदेव में ही आविष्ट होना उसका तटस्थ- लक्षण है। रागमय-भक्ति का नाम रागात्मिका है। उसे सुनकर कोई भाग्यवान लुब्ध होता है एवं श्रीकृष्ण-सेवा के लोभवश वह ब्रजवासियों के भाव की अनुगति करता है। रागानुगा की प्रकृति है कि वह शास्त्र–युक्ति की अपेक्षा नहीं रखती। तात्पर्य यह है कि एक मात्र श्रीकृष्णसेवा का लोभ ही इस भक्ति का प्रवर्तक है। रागानुगभक्ति के साधन दो प्रकार के हैं—बाह्य तथा अन्तर। बाह्य साधन में तो साधक शरीर से श्रवण-कीर्त्तनादि का अनुष्ठान करता है एवं अन्तर साधन में मन द्वारा अपने सिद्धदेह की भावना करके निरन्तर ब्रज में श्रीकृष्ण का सेवन करता है श्रीकृष्ण के लिए। परिकरों में जो भी अपने भावानुकूल परिकर हैं, उनके अनुगत होकर अन्तरमना होते हुए निरन्तर सेवा करता है। यह पहले कहा जा चुका है कि श्रीकृष्ण-परिकर चार प्रकार के भावों के हैं। निजाभीष्ट भाव के अनुकूल उनका आनुगत्य लेकर सेवा की जाती है किन्तु मधुमङ्गल, श्रीनन्दयशोदा एवं श्रीराधादि व्रजपरिकर जिस जिस रीति से श्रीकृष्ण–सेवा करते हैं, ठीक उसी रीति से श्रीकृष्ण-सेवा करना जीव का अधिकार नहीं है। श्रीनन्द-यशोदादि तो कृष्ण की स्वरूप-शक्ति हैं। स्वातन्त्र्यमय सेवा में उनका अधिकार है। उनकी सेवा को रागात्मिका कहते हैं। किन्तु जीव स्वरूप-शक्ति नहीं है। जीव स्वरूपतः श्रीकृष्णदास है, आनुगत्यमयी सेवा में ही दास का अधिकार होता है। अतः रागात्मिका भक्तों का आनुगत्य लेकर उनकी रागात्मिका सेवा की अनुकूलता विधान करते हुए सेवा करने में ही जीव का अधिकार है।

सिद्ध-देह—

यथावस्थित देह के प्राकृत होने से जीव अप्राकृत-चिन्मय भगवान् की साक्षात् सेवा प्राप्त करने में असमर्थ है। साक्षात् सेवा ही भक्तों के लिये प्रार्थनीय है। साधन की सिद्धि लाभ होने पर अप्राकृत भगवद्धाम में साधक ऐसा एक अप्राकृत देह पाने की इच्छा करता है, जो उसकी अभीष्ट सेवा में उपयोगी हो; उसे "सिद्ध-देह" कहते हैं। श्रीगुरुदेव द्वारा ही ऐसे एक देह का परिचय मिलता है। साधक उस श्रीगुरु-निर्दिष्ट-देह की भावना करके उस देह द्वारा अपने भावानुकूल श्रीकृष्ण की सेवा करता है। इसलिये उस देह को "अन्तश्चिन्तित" देह भी कहते हैं। रागानुगा-मार्ग में मधुरभाव के उपासकों का अन्तश्चिन्तित सिद्ध-देह है—गोपकिशोरी-देह। साधक का इस देह में राधादासी अभिमान होता है। श्रीराधा जी की दासियों को मंजरी कहते हैं। श्रीराधा की नित्यसिद्धा मंजारयां भी हैं, जो स्वरूपशक्ति का विलास है, उनमें सर्व प्रधाना का नाम श्रीरूपमंजरी है। साधक को मन मन में ऐसी चिन्ता करनी चाहिये कि श्रीराधा-कृष्ण की अष्टकालीन-लीला में श्रीरूपमंजरी के आनुगत्य में गुरुरूपा मंजरी के आदेश से वह सर्वदा श्रीयुगलकिशोर की सेवा कर रहा है। इस प्रकार की चिन्ता को "मानसीसेवा" कहते हैं। मानसी-सेवा ही रागानुगा-भक्ति का मुख्य भजनाङ्ग है।

परम कृपालु श्रीश्रीगौर सुन्दर ने कलियुग में अवतीर्ण होकर इस रागानुगा-भक्ति का प्रचार करके जीव के कल्याण का पथ उन्मुक्त किया है। जिसके आचरण से अनायास ही जीव अपने अभीष्टतम—"इष्ट-सेवा" को प्राप्त करके कृतार्थ हो सकता है।

अपराध

अपराध-पाप—

वैधी अथवा रागानुगा दोनों भक्ति-मार्गों के साधकों को अपराधों से सदा बचाना चाहिये। पाप और अपराध में पार्थक्य है। पाप तो नामाभास से दूर हो जाता है, किन्तु अपराध सहज में नहीं मिटता। कई एक विशेष प्रकार के असदाचारों को "अपराध" कहते हैं। अपराध साधारणत: दो प्रकार के हैं। सेवा-अपराध तथा नाम-अपराध। सेवापराध एकान्त चित्त से निरन्तर भगवत्-सेवा करने पर दूर हो जाते हैं. किन्तु नामापराध प्रबलतर हैं।

सेवापराध—

भगवत्-सेवा में कई एक निषिद्धाचार-अनुष्ठानों को 'सेवापराध' कहते हैं। सेवापराध मुख्यत: निम्नलिखित बत्तीस हैं—१. दर्शनों के लिए भगवत्-मन्दिर में सवारी पर चढ़कर एवं जूता पहन कर जाना। २. भगवत् उत्सवों को विशेष समारोह से न मनाना। ३. श्रीभगवान् की सवारी आती देखकर प्रणाम न करना। ४. झूंठे मुख से श्री भगवान् के दर्शन करना। ५. सूतक-पातक में श्रीभगवद्दर्शन करन। ६. श्रीभगवान् को एक हाथ से प्रणाम करना। **श्रीभगवान् के सामने**—"७. खड़े खड़े घूम कर परिक्रमा करना। ८. पांव फैलाकर बैठना। ९. पांव पर पांव रख कर बैठना। १०. सोना। ११. भोजन करना। १२. असत्य बोलना। १४. जोर से बोलना १४. सांसारिक बात-चीत करना। १५. सांसारिक दु:खों से दु:खित होकर रोना। १६. लड़ाई झगड़ा करना।. १७. किसी को दण्ड देना। १८. किसी पर कृपा करना। १९. दूसरों के प्रति कठोर वचन बोलना। २० कम्बल ओढ़ कर सेवा में जाना। २१. किसी की निन्दा करना। २२. किसी की

स्तुति करना। २३. किसी से हंसी दिल्लगी करना। २४. अपान-वायु छोड़ना"। २५. निरस पदार्थ भोग लगाना। २६. नये फल तथा सागादि बिना भगवत्-अर्पण किये पहले आप ही खा लेना। २७. बिना भगवत्-अर्पण किये (अमनिया) भोजन करना। २८. भगवत्-उत्सव निमित्त आई हुई सामग्री में से भगवत्-अर्पण करने के पश्चात् बची हुई सामग्री (मसाले-दही आदि) को फिर दूसरे दिन भोग लगाना। २९. अपनी स्तुति करना तथा श्रीगुरुदेव की स्तुति में मौन रहना। ३०. पूजनीय पुरुषों के पीछे बैठना। ३१. भगवान् के सामने दूसरों को दण्डवत प्रणाम करना। अन्यान्य देवताओं की निन्दा करना।

नामापराध—

नामापराध दस हैं—१. महत्-पुरुषों की निन्दा २. श्रीविष्णु-गुण-नामादि से श्रीशिव-गुण-नामादि को पृथक् मानना। ३. श्रीगुरुदेव की अवज्ञा। ४. शास्त्र-निन्दा। ५. श्रीहरिनाम में अर्थवाद कल्पना ६. श्रीहरि-नाम के बल पर पाप में प्रवृत्ति। ७. श्रीहरिनाम के फल के साथ व्रत-होमादि के फल की तुल्यता का ज्ञान। ८. श्रीनाम श्रवण में एवं ग्रहण में असावधानता या चेष्टाशून्यता। ९. श्रीनाम माहात्म्य सुनकर भी श्रीनाम-ग्रहण को प्रधानता न देकर "अहं-मम" अज्ञानपूर्वक भोग-विषयादि की प्रधानता मानना। १०. श्रद्धाहीन, विमुख एवं जो उपदेशादि ग्रहण न करे, उस व्यक्ति को उपदेश देना।

वैष्णवापराध—

१. किसी वैष्णव पर प्रहार करना, २. वैष्णव की निन्दा करना, ३. उससे द्वेष करना, ४. उसका अनादर करना, ५- वैष्णव पर क्रोध करना, ६. वैष्णव-दर्शन करके हर्ष प्रकाश न करना, ये छः वैष्णव अपराध कहे गये हैं; जो प्रथम नामापराध के अन्तर्भुक्त हैं। नामापराध तथा वैष्णवापराध बहुत भयानक हैं। इनके अपराधी व्यक्ति का समस्त अनुष्ठान प्रायः निरर्थक हो जाता है। श्रीहरिनाम एकबार मात्र उच्चारण करने से श्रीकृष्ण प्रेमोदय हो सकता है, किन्तु अनेक बार सङ्कीर्त्तन करने पर भी अपराधी व्यक्ति में प्रेम के लक्षणों का विकाश तक नहीं होता।

वैष्णव-निन्दादि-जनित अपराध, जिसकी निन्दा की गई हो, उसके चरणों में क्षमा प्रार्थना करने से, सेवादि द्वारा उसे सन्तुष्ट करने से एवं उसके क्षमा करने पर दूर हो जाता है। अनेक नामापराध निम्न श्लोक में उपदिष्ट-विधि के अनुसार श्री हरिनाम का आश्रय ग्रहण करने से दूर हो जाते हैं:—

तृणादपि सुनीचेन तरोरिव सहिष्णुणा।
अमानिना मानदेन कीर्त्तनीयः सदा हरि ॥

अपने को तृण से भी नीचा जानकर, वृक्ष की तरह सहनशील होकर, स्वयं अमानी (दीन) तथा अन्य को सम्मान देते हुए सदा श्रीहरिनाम सङ्कीर्त्तन करना विधेय है। श्रीहरिनाम करते करते श्रीहरिनाम की कृपा प्राप्ति द्वारा समस्त नामापराध दूर होते हैं। शास्त्रादि निन्दाजनित अपराध, उस शास्त्र की प्रशंसा कीर्त्तन करने से नष्ट होता है। अपराधों से बचते हुए एवं उनके हेतु को दूर करते हुए श्रद्धापूर्वक श्रीहरिनाम का आश्रय लेने से समस्त अपराध दूर हो जाते हैं। भक्तिरानी जिसके हृदय में स्थान ले चुकी हो, नामापराध होने पर वह भी तत्क्षण उसे त्याग देती है। अतः अपराधों के विषय में सर्वदा सावधान रहना परमावश्यक है—यही समस्त भक्ति शास्त्रों का उपदेश है।

साधन-भक्ति का प्राण

श्रीकृष्ण-स्मृति—

साधन-भक्ति के अनुष्ठान में अनेकों विधि-निषेध हैं, किन्तु समस्त विधियों की एक सार-विधि है—श्रीकृष्ण-स्मृति, तथा समस्त निषेधों का एक सार-निषेध है—श्रीकृष्ण-विस्मृति। यथा:—

सततं स्मर्त्तव्यो विष्णु विस्मर्त्तव्यो न जातुचित्।
सर्वे विधि-निषेधाः स्युरेतयोरेव किङ्करा ॥

—भक्तिरसामृतसिन्धु २–१–५॥

"सदा विष्णु का स्मरण करो" तथा "विष्णु को कभी मत भूलो" —अन्य समस्त विधि-निषेध इन दोनों विधि-निषेधों के किङ्कर हैं—इन दोनों के अनुपूरक एवं परिपूरक मात्र हैं।" जितने भी भजनाङ्ग हैं, उन सब समस्त का उद्देश्य है-श्रीकृष्ण-स्मृतिका स्फुरण तथा रक्षण। जो कुछ निषेध किया गया है, उस समस्त का उद्देश्य है-श्रीकृष्ण-विस्मृति को दूर रखना है, प्रत्येक भजनाङ्ग के अनुष्ठान में श्रीकृष्ण-स्मृति को हृदय में जागृत रखना ही भजन का रहस्य है। माला ग्रन्थन में जैसे प्रत्येक मणि के बीच एक ही सूत्र देने से अनेक मणियां सम्बद्ध होकर व्यवहारोपयोगी माला में परिणत हो जाती हैं—इसी प्रकार विभिन्न भजनाङ्गों में प्रत्येक में ही श्रीकृष्ण-स्मृति रखना परमावश्यक है। सूत्रहीन माला जैसे व्यवहारोपयोगी नहीं होती, उसी प्रकार श्रीकृष्ण-स्मृति हीन भजनाङ्गों का अनुष्ठान भी अभीष्ट सिद्धि के उपयोगी नहीं हो सकता। अतः श्रीकृष्ण-स्मृति ही भजन का या साधन-भक्ति का प्राण है।

श्रीकृष्ण-स्मृति में वैचित्री है—

प्रत्येक साधक की श्रीकृष्ण-स्मृति भी उसके भाव या अभीष्ट-सेवा के अनुकूल होती है। अतः साधकों में भावों के अनुसार श्रीकृष्ण-स्मृति में भी अनेक वैचित्री है। जो मधुरभाव का साधक है, भजनकाल में वह ऐसी भावना करता है कि—व्रज में श्रीप्रिया-प्रीतम सखी-मञ्जरी-वृन्द से परिवेष्ठित होकर विराजमान हैं अथवा अन्य किसी लीला-अवस्था में विलास कर रहे हैं और साधक स्वीय अन्तश्चिन्तित सिद्ध-देह द्वारा उसी स्थान पर गुरुरूपा-मञ्जरी के आदेश से साक्षात् भाव से श्री युगलकिशोर की सेवा में सहायता कर रहा है। भाग्यवान भक्तवृन्द इसी भाव से अष्टकालीन-लीला का स्मरण करते रहते हैं। मधुरभाव के साधक की अन्तरङ्ग-श्रीकृष्णस्मृति का यही रूप है। इसी प्रकार अन्यान्य साधकों की श्रीकृष्णस्मृति के भी उन के भावों के अनुसार अनेक रूप हैं। इस प्रकार साक्षात् सेवा की प्रवृत्ति को ही श्रीपाद जीवगोस्वामी ने 'भजन-नैपुण्य' या 'सासङ्ग-भजन' कहा है। साक्षात् सेवा प्रवृत्ति-हीन भजन को उन्होंने 'अनासङ्ग--साधन कहा है।

अनासङ्ग-भजन तथा सासङ्ग-भजन—

शास्त्रों में कहा गया है कि—हरिभक्ति सुदुर्लभ है। उसका तात्पर्य

यही है कि अनासङ्ग (साक्षाद्-भजन में प्रवृत्ति हीन)शत-सहस्र साधनों द्वारा भी हरिभक्ति सर्वथा अलभ्य है। यथाः—

बहु जन्म करे यदि श्रवण-कीर्त्तन ।
तथापि ना पाय कृष्ण पदे प्रेम धन ॥

—श्री चै० च० ६-८-१५

—अनासङ्ग साधनरूप से श्रवण-कीर्तन आदि यदि अनेक जन्मों तक किये जाएं, तो भी श्रीकृष्ण चरणों में प्रेम-प्राप्ति नहीं हो सकती। सासङ्ग (साक्षाद् भजन-प्रवृतिमय) भजन से ही हरिभक्ति प्राप्त हो सकती है। किन्तु जब तक भुक्ति-मुक्ति-वासना हृदय में रहती है, तब तक भी उसकी प्राप्ति नहीं होती, यथाः—

भुक्ति-मुक्ति-स्पृहा यावत् पिशाची हृदि वर्त्तते ॥
तावत् भक्ति सुखस्यात्र कथमभ्युदयो भवेत् ॥

—भक्तिरसामृतसिन्धु १-२-१५

—अर्थात् जब तक हृदय में इस जगत् के तथा स्वर्ग के विषय-भोगों की तथा मुक्ति की वासनारूपी पिशाची वास करती है, तब तक भक्ति-सुख (प्रेमानन्द) का वहां उदय कैसे हो सकता है ? —नहीं हो सकता।

श्रीचैतन्य-चरितामृत (१-८-१६) में भी कहा हैः—

कृष्ण यदि छूटे भक्ते भुक्ति मुक्ति दिया ।
कभु प्रेमभक्ति ना देय राखे लुकाईया ॥

"भक्त (साधक) यदि भुक्ति-मुक्ति से ही सन्तुष्ट हो जाये, तो भगवान् अपनी प्रेमभक्ति उसे कभी नहीं देते—छिपा कर रखते हैं।" क्यों कि प्रेम-भक्ति प्रदान करने से भगवान् को भक्तों के वशी भूत होना पड़ता है।

श्री हरिभक्तिविलास (५-३४) में कहा हैः—

भूतशुद्धि बिना कर्त्तुर्जपहोमादिकाः क्रिया ।
भवन्ति निष्फलाः सर्व्वा यथाविध्यप्यनुष्ठिता ॥

—जप-होमादि कर्त्ता की जप-होमामि समस्त क्रियाएं विधानानुसार आचरित होने पर भी भूतशुद्धि के बिना निष्फल हो जाती हैं। भूतशुद्धि के सम्बन्ध में अनेक मत हैं; श्रीमन्महाप्रभु के अनुगत वैष्णव-सम्प्रदाय की भूतशुद्धि के सन्वन्ध में श्रीजीवगोस्वामिचरण ने सन्दर्भ में कहा है—पार्षद-देह- चिन्तन ही भक्त की प्रकृत भूतशुद्धि है। अपने अपने भावानुकूल पार्षद देह-(सिद्ध-देह) की चिन्ता न करते हुए भजनाङ्गों का अनुष्ठान करने से साधक के समस्त अनुष्ठान यथाविधि आचारित होने पर भी निष्फल हो जाते हैं—उनके द्वारा हरिभक्ति प्राप्त नहीं होती है। इसलिए सिद्ध-देह की चिन्ता कर उपास्य की साक्षात् उपस्थिति चिन्ता करते हुए तदीय सेवा चिन्ता करना आवश्यक है। अतः हरिभक्ति प्राप्त करने के लिये इस प्रकार का सासङ्ग-भजन ही अपरिहार्य है।

साधक का भक्ति-विकाश-क्रम

श्रद्धा—

स्वरूपः जीवमात्र का भगवद् भजन में अधिकार होने पर भी फल-प्राप्ति की सम्भावना को देखते हुए श्री मन्महाप्रभु ने कहा हैः—

श्रद्धावान् जन हय भक्त्ये अधिकारी।

"जिस में श्रद्धा है वही भक्ति के अनुष्ठान का अधिकारी है।" उसका अनुष्ठान ही फलप्रद हो सकता है। शास्त्रों में सुदृढ़-निश्चित-विश्वास का होना ही श्रद्धा है। हृदय में श्रद्धा को उन्मेषित करने की चेष्टा के सम्बन्ध में श्रीमद-भागवत् (३-२५-२४) में कहा गया हैः—

सतां प्रसङ्गान्ममवीर्य्यसंविदो
भवन्ति हृत्कर्णरसायनः कथाः।
तज्जोषणादाश्वपवर्गवर्त्मनि
श्रद्धारतिभक्तिरनुक्रमिष्यति॥

"श्रीकृष्ण की महिमा जानने वाले सद्भक्तों का सङ्ग करने से, उनके मुख- से निकले हुए श्रीहरिगुण कर्त्तिन के श्रवण द्वारा हृदय में श्रद्धा का उदय होता है। ऐसे श्रद्धायुक्त साधक के चित्त में भक्तिविकाश का क्रम निम्न रीति से कहा गया है:—

आदौ श्रद्धा ततः साधुसङ्गोऽथ भजनक्रिया,
ततोऽनर्थनिवृत्तिः स्यात् ततो निष्ठा रुचिस्ततः।
अथासक्तिस्ततो भावस्ततः प्रेमाभ्युदंचति,
साधकानामयं प्रेम्णः प्रादुर्भावे भवेत्क्रमः॥ ५४॥

—भक्तिरसामृतसिन्धु, १-४-११।

पूर्व जन्म में किसी महत् पुरुष के सङ्ग रूप भाग्य के उदित होने पर जीव में 'श्रद्धा' उदय होती है, फिर उसे 'साधुसङ्ग' प्राप्त होता है। साधुसङ्ग से श्रवण-कीर्त्तनादि 'भजन-क्रिया' आरम्भ होती है, उस से 'अनर्थ-निवृति, दुर्वासनादि का नाश होता है। अनर्थ-निवृति से भक्ति-अङ्गों में अधिक 'निष्ठा' उत्पन्न होती है। निष्ठा सहित भक्ति-अङ्गों का अनुष्ठान करते करते श्रवण-कीर्त्तनादि में 'रुचि' उत्पन्न होती है, जिस से भक्ति-अङ्गों में 'आसक्ति' होती जाती है। आसक्ति के गाढ़ होने पर 'भाव'—श्री कृष्ण-रति का उदय होता है; अर्थात्—चित्त की मलिनता दूर होने पर चित्त जब शुद्धसत्व के आविर्भाव की योग्यता प्राप्त करता है, तब श्रीकृष्ण द्वारा सर्वदा निक्षिप्त ह्लादिनीशक्ति की वृत्ति-विशेष का साधक के चित्त में आविर्भाव होता है। यही रति गाढ़ होकर "प्रेम" नाम को प्राप्त होती है, जो श्रीकृष्ण सेवा प्राति का मुख्य हेतु है।

अनर्थ—

श्रीकृष्ण की कामना तथा श्रीकृष्ण-भक्ति की कामना के सिवाय जो मुक्ति-भुक्ति-स्पृहादि दुर्वासनाएँ हैं, उन्हें 'अनर्थ' कहते हैं। अनर्थ चार प्रकार के हैं:—

१. **दुष्कृत-जात** :—राग-द्वेष-दुरभिनिवेशादि को दुष्कृतजात-अनर्थ कहते हैं।

२. **सुकृत-जात** :—भोगासक्ति आदि अनेक अनर्थ सुकृत-जात हैं।

३. **अपराध-जात:**—नामापराध जनित अनर्थों को अपराधजात अनर्थ कहते हैं।

४. **भक्ति-जात :**—भक्ति की सहायता से धनादि की प्राप्ति एवं पूजा-प्रतिष्ठा की आशा को भक्ति-जात अनर्थ कहा गया है, जो भक्ति से उत्पन्न होकर भक्ति के मूल को ही नष्ट कर देता है।

अनर्थ-निवृति—

अनर्थ-निवृति पाँच प्रकार की है।

१. **एकदेशवर्तिनी :**—बहुत थोड़े परिमाण में आंशिकी अनर्थ निवृत्ति को एकदेशवर्तिनी कहते हैं।

२. **बहुदेशवर्तिनी :**— बहुपरिमाण में आँशिकी अनर्थ-निवृत्ति को बहुदेशवर्तिनी कहते हैं।

३. **प्रायकी :**—प्रायः समस्त अनर्थ की निवृत्ति के पश्चात् स्वल्प अवशिष्टको प्रायकी अनर्थ–निवृत्ति कहते हैं।

४. **पूर्णा :**—सम्पूर्ण अनर्थ-निवृत्ति को पूर्णा अनर्थ-निवृत्ति कहते हैं।

५. **आत्यन्तिकी :**—अनर्थ-निवृत्ति होने पर पुनः अनर्थोद्‌गम की सम्भावना जब नहीं रहती है, तब उसे आत्यन्तिकी अनर्थ-निवृत्ति कहते हैं। तात्पर्य यह है कि पूर्णा-अनर्थ-निवृत्ति में अनर्थ समूह दूर होने पर भी श्रीकृष्ण-भक्तों के चरणों में अपराध होने पर पुनः अनर्थोद्‌गम की सम्भावना रहती है, किन्तु आत्यन्तिकी अनर्थ-निवृत्ति में उस की सम्भावना तक नहीं रहती। भजन-क्रिया के पश्चात्-एकदेश-वर्तिनी तथा बहुदेशवर्तिनी, रति के उत्पन्न होने पर प्रायकी, प्रेम के आविर्भाव होने पर पूर्णा एवं श्रीकृष्णचरण प्राप्ति होने पर-आत्यन्तिकी अनर्थ-निवृत्ति होती है।

रति—

भजनाङ्ग में आसक्ती के वाद रति का उदय होता है। रति का का दूसरा नाम भाव व प्रेमाङ्कुर है। रति, प्रेम-रूप सूर्य की रश्मि-स्थानीय है एवं स्वरूप लक्षण में ह्लादिनी प्रधान शुद्ध-सत्व की वृत्तिविशेष है। रति

उत्पन्न होने पर भक्ति की भगवान् में ममताबुद्धि हो जाती है, अर्थात् "भगवान् मेरे हैं" ऐसा अनुभव होने लगता है। भगवान् में ईश्वर-बुद्धि तिरोहित हो जाती है।

जात-रति-भक्त के लक्षण—

भक्तिरसामृतसिन्धु (१-३-११) में जात-रति-भक्त के प्रधानतः ये नव-लक्षण कहे गये हैं:—

क्षान्तिरव्यर्थकालत्वं विरक्तिर्मानशून्यता,
आशाबन्धः समुत्कण्ठा नामगाने सदा रुचिः।
आसक्तिस्तद्गुणाख्याने प्रीतिस्तद्वसतिस्थले,
इत्यादयोऽनुभावाः स्युर्जातभावाङ्कुरे जने॥

१. **क्षान्ति** :—सांसारिक विपत्ति उपस्थित होने पर साधारण लोगों की भाँति जात-रति-भक्त के चित्तमें किञ्चित् मात्र भी क्षोभ उत्पन्न नहीं होता।

२. **अव्यर्थ-कालत्व** :—श्रीकृष्ण सम्बन्धीय व भजन सम्बन्धीय कार्यों के बिना जात-रति-भक्त और किसी कार्य में एक क्षण भी व्यतीत नहीं करता।

३. **विरक्ति** :—इहकाल एवं परकाल की किसी भी योग्यवस्तु में उसकी कोई भी वासना नहीं रहती।

४. **मानशून्यता** :—भक्ति विषय में सर्व श्रेष्ठ होने पर भी वह अपने आप को नितान्त अधम, नितान्त भक्तिहीन समझता है।

५. **आशाबद्धता**:—"श्रीकृष्ण मुझ पर कृपा करेंगे" उसके चित्त में ऐसा दृढ़ विश्वास रहता है।

६. **समुत्कण्ठा** :—श्रीकृष्ण सेवा एवं श्रीकृष्ण-दर्शनादि पाने के लिए वह अत्यन्त उत्कण्ठित रहता है।

७. **नामसङ्कीर्त्तन में सदा रुचि** :—श्रीकृष्ण गाने में वह सदा ही आनन्द प्राप्त करता है।

८. **भगवद्गुणाख्यान में आसक्ति** :—श्रीकृष्ण-गुणगान में वह अपूर्व आनन्द प्राप्त करता है एवं श्रीकृष्ण-गुणगान किये बिना वह रह ही नहीं सकता।

९. श्रीकृष्ण-वसतिस्थल में प्रीति :—श्रीवृन्दावनादि भगवत्-लीला-स्थान उसको अत्यन्त प्रिय लगते हैं।

प्रेम—

रति की गाढ़ अवस्था का नाम 'प्रेम' है। प्रेमोदय होने पर श्रीकृष्ण में अत्यन्त ममताबुद्धि हो जाती है। ध्वंस का कारण उपस्थित होने पर भी प्रेम का ध्वंस नहीं होता। प्रेमी-भक्तों में कोई भी बाह्यपेक्षा नहीं रहती। भगवान् के नाम गुणों का कीर्त्तन करते करते वे उन्मत्त की भांति वे कभी उच्चस्वर में हँसने लगते हैं, कभी क्रन्दन करते हैं तो कभी विलाप करने लगते हैं, कभी गान करते हैं, कभी नृत्य करते हैं और कभी पृथ्वी पर मूर्छित होकर पड़े ही रहते हैं। साधक के यथावस्थित शरीर में प्रेम पर्यन्त ही आविर्भूत हो सकता है। जातप्रेम भक्तों के शरीर पात होने के बाद उनका जन्म श्रीकृष्ण के प्रकट-लीलास्थल पर होता है एवं उनके नित्यसिद्ध-परिकर के सङ्ग-प्रभाव से उनका प्रेम क्रमशः उन्नततर विकाश को प्राप्त होता है। तभी वे साक्षात् श्रीकृष्ण-सेवा के सौभाग्य को प्राप्त कर कृतार्थ हो जाते हैं।

साधु-संग और महत्-कृपा

साधु या महत् पुरुषों के लक्षण—

साधन के प्रभाव से भगवत्-कृपा द्वारा सर्वविध मलिनता दूर होकर जिस का चित्त शुद्धसत्व-आविर्भाव-योग्यता को प्राप्त कर चुका है एवं जिन के चित्त में शुद्धसत्व आविर्भूत होकर भक्तिरूप में परिणत हो चुका है, उनको 'साधु या "महत् पुरुष" कहते हैं। उनके वाह्यलक्षणों के सम्बन्ध में श्रीमद्भागवत् (५-५-२, ३) में कहा गया है कि महत्-पुरुष सर्वत्र समदर्शी एवं सरलचित्त अर्थात् कुटिलता रहित होते हैं। प्रशान्त, भगवत्-निष्ठाबुद्धि-युक्त, क्रोधहीन, सब के सुहृद् एवं अदोषदर्शी होते हैं। भगवत्-प्रीति को ही वे परम पुरुषार्थ मानते हैं। भोजनादि ऐवं स्त्री-पुत्र-धन-गृहादि की आसक्ति

तो दूर है, किन्तु जो लोग खानपानादि, स्त्री-पुत्र-धनादि से प्रीति करते हैं, उन से भी वे प्रीति नहीं रखते। उन का जितने धनादि से सेवात्मिक भक्ति के अनुष्ठान का निर्वाह हो सके, उस से अधिक धनादि वे कभी ग्रहण नहीं करते ; अर्थात् वे निर्लोभ होते हैं। देहदैहिक वस्तुओं में उनकी कुछ भी आसक्ति नहीं होती। इन साधु-पुरुषों के सम्बन्ध में श्रीभगवान् ने कहा है कि "वे महत्-व्यक्ति मेरे हृदय हैं, मैं भी उनका हृदय हूँ। वे मेरे बिना और कुछ नहीं जानते। मैं भी उनके बिना और कुछ नहीं जानता" ऐसे पुरुष गृहादि में रहते हुए भी निश्किञ्चन हैं।

महत्–कृपा एवं भक्ति–

महत् व्यक्तिगण मायातीत होते हैं, माया उनके सामने नहीं आ सकती। कारण कि उनका चित्त चित्-शक्ति के विलासरूप शुद्धसत्व से तादात्म्य प्राप्त कर चुका है। इन की कृपा से जीव की विषय वासनाएें अन्तर्हित हो जाती हैं। भक्ति का उद्रेक हो जाता है। कृपाशक्ति के सहयोग से चित्त में शुद्ध सत्वात्मिका भक्ति भी प्रवाहित होने लगती है। भक्ति की प्राप्ति में साधु-सङ्ग व महत्-कृपा अपरिहार्य है।

श्रीचैतन्यचरितामृत (२-२२-४) में भी कहा है:—

"कृष्ण भक्ति-जन्म-मूल हय साधुसङ्ग"

"कृष्णभक्ति का जन्ममूल साधुसङ्ग है।" हम देखते हैं—पञ्चम-वर्षीय बालक श्री ध्रुव ने जब अनन्य भाव से पद्मपलाश-लोचन भगवान् को पुकारा, उस की आन्तिरिकता ने श्रीनारायण के हृदय में स्पन्दन उत्पन्न कर दिया। श्रीध्रुव को कृतार्थ करने के लिए उनकी इच्छा हुई, किन्तु श्रीध्रुव में तब तक दर्शन-प्राप्ति की योग्यता न थी, कारण कि उसके चित्त में विषय-वासना थी। श्रीनारायण ने निश्किञ्चन भक्त श्रीनारद को ध्रुवजी के पास भेजा। श्रीनारद की कृपा से ध्रूवजी की विषय–वासना दूर हो गई। तब श्रीनारायण का दर्शन प्राप्त हुआ, निश्किञ्चन–भक्त श्रीनारद की कृपा से ध्रुवजी की विषय-वासना मूल से उत्पाटित हो गई। अत: वर मांगते समय श्रीध्रुवजी ने इतना ही कहा कि "प्रभो! मैंने कांच का अन्वेषण करते करते काञ्चन को प्राप्त कर लिया है। मुझे अब और कोई वर नहीं

चाहिये। मैं केवल आपकी चरणसेवा ही चाहता हूं।" इससे स्पष्ट है कि साधक चाहे कितना ही साधनाङ्ग अनुष्ठान करता रहे, महत्-कृपा प्राप्ति के बिना उस के चित्त से विषय-वासनादि मलिनता दूर नहीं होती, और न ही उसे यथार्थ भगवत् प्राप्ति हो सकती है।

श्रीचैतन्यचरितामृत (३-१६-५५-५६) में भी कहा गया है:—

> भक्त पद धूलि आर भक्त पद जल।
> भक्तभुक्त-अवशेष तिन महाबल॥
> एई तिन सेवा हैते कृष्णे प्रेमा हय।
> पुनः पुनः सर्वशास्त्रे फुकारिया कय॥

—"भक्त-चरणरज, भक्त चरणामृत एवं भक्त-उच्छिष्ट, इन तीनों में महान सामर्थ्य है। इन के सेवन करने से श्रीकृष्ण में प्रेमा-भक्ति होती है, शास्त्र बार बार यह पुकार कर कह रहे हैं।

साधक-भक्त तथा सिद्ध-भक्त—

श्रीकृष्ण–भक्त कौन हैं?—

"तद्भाव भावितस्वान्ताः कृष्णा-भक्ता इतीरिताः"

(भक्तिरसामृतसिन्धु २-१-१४२)

अर्थात् जिन का अन्तःकरण श्रीकृष्ण-भाव से भावित हो चुका है, वे ही श्रीकृष्ण-भक्त हैं। भक्त दो प्रकार के हैं, "साधक-भक्त" तथा 'सिद्ध-भक्त"। श्रीकृष्णविषय में जो जातरति हैं, किन्तु जिन की सम्यक्‌रूप से विघ्न-निवृत्ति नहीं हुई एवं जो श्रीकृष्ण-साक्षात्कार में योग्यता रखते है, वे साधक-भक्त हैं। और जिन के अविद्या-अस्मितादि समस्त क्लेश तथा अनर्थ दूर हो चुके हैं, जो सर्वदा श्रीकृष्ण सम्बन्धीय कर्मों का अनुष्ठान करते हैं एवं जो सर्वदा प्रेम सुख के आस्वादन परायण हैं, वे सिद्ध-भक्त हैं। भगवान् भक्तों के वशीभूत हैं, इस लिए भगवत्-कृपा भी भक्तकृपा-सापेक्ष है। अतएव कृष्णकृपा प्राप्ति के लिए भक्तकृपा की अपरिहार्यता है।

गुरु-तत्व

गुरु-तत्व—

गुरु दो प्रकार के हैं—१. दीक्षा-गुरु तथा २.शिक्षागुरु । जिन से उपास्यदेव का मूल-मन्त्र ग्रहण किया जाये, वे दीक्षा-गुरु हैं और जिन से भजन सम्बन्धीय शिक्षा ग्रहण की जाये, वे शिक्षागुरु कहे जाते हैं । प्रायः दीक्षागुरु ही शिक्षागुरु होते हैं ; हां' उनकी अनुपस्थिति में अथवा उनसे शिक्षा प्राप्ति का सौभाग्य न मिलने पर पृथक् शिक्षागुरु भी धारण किये जा सकते हैं । दीक्षागुरु एक होते हैं । श्रीगुरुदेव स्वरूपतः श्रीकृष्ण के भक्त हैं; किन्तु साधक के लिये वे श्रीकृष्ण का आविर्भाव ही मनन करने योग्य हैं ।

श्रीगुरुदेव स्वरूपतः श्रीकृष्ण के प्रियतम–भक्त हैं:—

भक्ति-शास्त्रानुसार श्रीगुरुदेव स्वरूपतः श्रीकृष्ण के प्रियतम भक्त हैं । श्रीदासगोस्वामिपाद ने स्वरचित 'मन-शिक्षा' में कहा है:—

शचीसूनुं नन्दीश्वर-पतिसुतत्वे गुरुवरं
मुकुन्द-प्रेष्ठत्वे स्मर परमजस्रं ननु मनः ॥

अर्थात् "हे मन ! शचीनन्दन श्रीगौरसुन्दर को श्रीकृष्णरूप में एवं श्रीगुरुदेव को श्रीकृष्ण के प्रियतम भक्तरूप में अनवरत स्मरण कर ।" श्रीहरिभक्तिविलास में एवं श्रीविश्वनाथचक्रवर्तीपाद ने भी गुर्व्वष्टक में यही कहा है कि समस्त शास्त्र गुरुदेव को साक्षात् हरिरूप कहते हैं—हैं भी, एवं सत्लोक उनकी इस रूप में भावना भी करते हैं; किन्तु वे स्वरूपतः श्रीकृष्ण के प्रियतम भक्त ही हैं ।

श्रीगुरुदेव श्रीकृष्णवत् पूज्य हैं—

स्वरूपतः श्रीकृष्ण के प्रियतम भक्त होते हुए भी :—"आचार्य्यं मां विजानीयात्" इत्यादि शास्त्रवचनों ने श्रीगुरुदेव को श्रीकृष्णतुल्य ही कहा है। श्रीकृष्ण में जैसी प्रीति करनी चाहिये, वैसी ही प्रीति श्रीगुरुदेव में करनी चाहिये। जैसे श्रीकृष्ण पूज्य हैं, श्रीगुरुदेव भी उसी प्रकार पूज्य हैं अर्थात् प्रियतमता एवं पूज्यता में ही श्रीकृष्ण एवं श्रीगुरुदेव की समानता अभिप्रेत है—स्वरूपांश अथवा तत्वांश में नहीं। जो लोग तत्वांश में श्रीगुरु-देव को श्रीकृष्ण मान लेते हैं और श्रीकृष्ण—भक्ति छोड़ कर श्रीगुरु-भक्ति में लगे रहते हैं। वे भटके हुए हैं। उन के निस्तार में शंका है। गुरुभक्ति पूर्वक श्रीकृष्ण-भक्ति करने से ही अभीष्ट की सिद्धी हो सकती है।

श्रीगुरुदेव श्रीकृष्ण का आविर्भाव-विशेष हैं—

श्रीगुरुदेव स्वरूपतः श्रीकृष्ण के प्रियतम भक्त होने पर भी शिष्य के पक्ष में श्रीकृष्ण का आविर्भाव-विशेष हैं। कारण कि श्रीगुरुदेव में अन्य किसी भी प्रकार की निष्ठा रखने से शिष्य के लिए प्रत्यवाय के आने की तथा श्रीगुरुदेव में मनुष्य-बुद्धि हो जाने की पूर्ण आशंका है, जो कि घोर अपराधजनक है। श्रीगुरुदेव भगवान् की अनुग्रहा-शक्ति के साथ तथा गुरु-शक्ति के साथ तथा गुरुशक्ति के साथ तदात्म्य-प्राप्त हैं। श्रीकृष्ण ही गुरु-शक्ति का मूल-आश्रय हैं। वे समिष्ट गुरु हैं, किन्तु श्रीकृष्ण साक्षात् किसी को दीक्षादि नहीं देते। वे अपने प्रियतम भक्त-विशेष में उस गुरुशक्ति का सञ्चार कर के उस का द्वारा भजनार्थी पर कृपा करते हैं। इसी लिए श्रीचैतन्यचरितामृत (में कहा गया) है कि:—

"गुरुरूपे कृष्ण कृपा करेन भक्तगणे"

अतः एक मात्र श्रीगुरुदेव के योग्य से ही श्रीभगवान् की गुरु-शक्ति शिष्य के मङ्गल के निमित्त आविर्भूत होकर उसे कृतार्थ करती है। अन्यान्य भक्तों के योग से श्रीकृष्ण की अनुग्रहाशक्ति आविर्भूत होकर भजनार्थी को कृतार्थ कर सकती है, किन्तु गुरु-शक्ति की कृपा न होने पर मायाबद्ध जीव के लिये अन्य भक्तों की कृपा सम्यक रूप से कार्यकर हो इस की सम्भावना कम है। श्री गुरुदेव के योग से गुरु-शक्ति तथा अनुग्रहा-शक्ति दोनों ही शिष्य के सम्बन्ध में आविर्भूत होती हैं। अतएव श्रीगुरुदेव का

वैशिष्ट्य है। वास्तव में शिष्य के पक्ष में श्रीगुरुदेव भगवान् की अमूर्त-करुणा का मूर्त-विग्रह हैं, एवं श्रीकृष्णाश्रिता अमूर्त-गुरु-शक्ति का मूर्त-विग्रह अर्थात् गुरु-शक्ति की आविर्भाव-मूर्ति हैं। इसलिये श्रीगुरुदेव श्रीकृष्ण के आविर्भाव-विशेष हैं। श्रीभगवान् अनुग्रह के मूल-आश्रय होते हुए भी साधारणतः साक्षात् भाव में जिस किसी पर कृपा नहीं करते, अपितु उनके प्रियतम भक्त एक मात्र श्रीगुरुदेव के द्वारा ही जीव उसे प्राप्त कर सकता है। अतः शिष्य के लिये श्रीगुरुदेव श्री कृष्ण-तुल्य हैं। श्रीकृष्ण के समान प्रिय एवं पूज्य हैं।

गुरु-योग्यता। शुद्धसत्वोज्ज्वलचित्तता—

पहले यह कहा जा चुका है कि श्रीकृष्ण की ही शक्ति श्रीगुरुदेव के चित्त में आविर्भूत होकर शिष्य पर कृपा करती है, अतः जिन का चित्त श्रीकृष्ण-शक्ति के आविर्भाव के योग्य है, अर्थात् जिन का चित्त शुद्धसत्व के साथ तादात्म्य प्राप्त कर चुका है, ऐसे महापुरुष ही दीक्षागुरु होने के योग्य हैं। उन के शुद्ध-सत्वोज्ज्वल चित्त में ही भगवदाविर्भाव सम्भव है एवं भगवदाविर्भाव होने पर ही भगवदनुभूति हो सकती है। यद्यपि शास्त्रों में श्रीगुरुदेव के विषय में श्रोत्रीय ब्रह्मनिष्ठ का उल्लेख है, फिर भी भगवदनुभूति को ही श्रीगुरुदेव का मुख्य लक्षण माना गया है। शास्त्रज्ञ न होने पर काम चल सकता है; किन्तु भगवदनुभूति के सम्पन्न हुए बिना काम नहीं चल सकता। केवल मात्र मन्त्र जानने के निमित्त श्रीगुरुदेव का प्रयाजन नहीं है, क्योंकि मन्त्र तो ग्रन्थों में भी विद्यमान हैं। अनुग्रहा-शक्ति एवं गुरु-शक्ति की कृपा के निमित्त ही श्रीगुरुदेव का प्रयोजन है।

शिक्षा-गुरु—

दीक्षागुरु की अनुपस्थिति अथवा उनकी आज्ञा से जिन महापुरुषों से भजन सम्बन्धीय विशेष शिक्षा मिलती है' उन्हें "शिक्षा-गुरु" कहते हैं। शिक्षा-गुरु दो प्रकार के हैं। अन्तर्यामी-परमात्मा तथा भक्तश्रेष्ठ। श्रीभगवान् परमात्मारूप से प्रत्येक जीव में बैठ कर उस को हित-अहित का उपदेश करते हैं। किन्तु माया-बद्ध जीव उनके उपदेश को ग्रहण नहीं कर पाता, कारण कि वे साक्षात् उपस्थित होकर कुछ बोलते नहीं। हृदय में इंगित रूप में जना देते हैं। भक्त-श्रेष्ठ रूपी शिक्षा-गुरु साक्षात् भाव से उपदेशादि द्वारा जीव को कृतार्थ करते है। शिक्षा-गुरु अनेक भी हो सकते हैं।

साध्य-साधन तत्व

चतुर्वर्ग—

अभीष्ट वस्तु को पुरुषार्थ कहा जाता है, एवं पुरुषार्थ ही साध्य है। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष एवं प्रेम—ये पांच पुरुषार्थ हैं। जीव की चिरन्तनी वासना है सुख-प्राप्ति। वह सुख चाहता है—दुख नहीं चाहता। आनुषङ्गिक-भाव से अत्यन्तिकी दुख-निवृत्ति भी उसका काम्य है। पहले कहा जा चुका है धर्म-अर्थ-काम इस त्रिवर्ग में वास्तविक पुरुषार्थता नहीं है, कारण कि इन से आत्यन्तिकी दुख निवृत्ति नहीं होती एवं नित्य-सुख भी प्राप्त नहीं होता। आत्यन्तिकी दुख-निवृत्ति एवं नित्य ब्रह्मानन्द प्राप्ति होने से मोक्ष में वास्तविक पुरुषार्थता तो है, किंतु मोक्ष भी मुख्य पुरुषार्थ नहीं है क्योंकि मुक्तजीव भी पञ्चम पुरुषार्थ—प्रेम के लिये लालायित होते हैं। अतः धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष औपचारिक पुरुषार्थ माने गये हैं।

चतुर्वर्ग अज्ञानतम हैं—

श्रीचैतन्यचरितामृत (१-१-५०-५१) में कहा गया है :—

> **अज्ञानतमेर नाम कहिये कैतव।**
> **धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष-वाञ्छा आदि सब॥**
> **तार मध्ये मोक्ष वाञ्छा कैतव प्रधान।**
> **जाहा हैते कृष्णभक्ति हय अन्तरधान॥**

"अज्ञानतम को कैतव कहा जाता है। चतुर्वर्ग धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष की वासनादि कैतव हैं। इन में मोक्ष की वासना कैतव-प्रधान है, क्योंकि उस से श्रीकृष्ण-भक्ति अन्तर्हित हो जाती है।" जीव तथा ब्रह्म के सम्बन्ध-ज्ञान के अभाव का नाम अज्ञान है। यह अभाव ही अन्धकार है—गाढ़

अन्धकार है। अन्धकार में जैसे कुछ दीखता नहीं, जीव तथा ब्रह्म के के सम्बन्ध-ज्ञान के अभाव- वशतः वैसे ही जीव अपनी चिरन्तनी सुख-वासना की रचम-तृप्ति के स्थान को नहीं देख पाता। उसे जो कुछ दीखता है उसे ही अपना सुख एवं सुख-साधन जान कर वह वञ्चित होता है। इसी का नाम 'कैतव' व 'आत्मवञ्चना' है। सम्बन्ध-ज्ञान के अभाव से जीव को अपने स्वरूप का ज्ञान भी नहीं है। इसलिये देहात्मबुद्धि होती है। देहात्म-बुद्धि के होने से देह के सुख-साधन, धर्म-अर्थ-कामादि के पीछे वह भटक रहा है। विचार पूर्वक देखने पर उसे पता चलता है कि धर्म-अर्थ-कामादि उसको नित्य सुख नहीं दे सकते, फिर भी उनकी आपात-रमणीयता में मुग्ध होकर वह उन में फंसा रहता है, एवं अन्य उपाय का अनुसन्धान भी नहीं कर पाता। जीव के दहावेश से ही उसकी अनुसन्धानात्मिका बुद्धि भी स्तम्भित हो रही है। मोक्ष में (सायुज्यमुक्तिमें) देहावेश नहीं है। किन्तु मोक्ष में भी जीव-ब्रह्म के सम्बन्ध-ज्ञान का अभाव है। जीव स्वरूपः श्रीकृष्ण-दास है। परब्रह्म श्रीकृष्ण के साथ जीव का सेव्य–सेवक सम्बन्ध है, मोक्ष में उस सम्बन्ध-ज्ञान का अभाव है। कारण कि जीव–ब्रह्म का ऐक्यज्ञान ही मोक्ष चाहते वाले साधकों का ध्येय है। यही ऐक्यज्ञान गाढ़-अन्धकार की तरह मोक्षाकांक्षी एवं मुक्तजीव के यथार्थ-सम्बन्धज्ञान को सम्यकूरूप से आच्छन्न किये रखता है— प्रकट नहीं होने देता। इसी लिए मोक्ष वासना को भी अज्ञानतम कहा गया है। मोक्ष-प्राप्ति में जीव वैचित्री-हीन आनन्द-सत्तामात्र रूप ब्रह्मानन्द में निमग्न होकर उसी को ही चरमतम काम्य मानते हुए परम लोभनीय प्रेमानन्द की चिन्ता करने का अवकाश ही नहीं पाता, जिसमें कोटि ब्रह्मानन्द तुच्छ-कारी प्रेमानन्द के आस्वा-दन से वञ्चित रहता है, मोक्षकांक्षी साधक भी उसी ब्रह्मानन्द के लोभ में प्रेमानन्द की चिन्ता करने का कुछ भी अवकाश नहीं पाता। अतः उसे भी प्रेम-सुख से वञ्चित रहना पड़ता है।

मोक्षवाञ्छा कैतव-प्रधान है—

धर्म-अर्थ कामदि त्रिवर्गजनित सुख के लोभवश जो जीव संसार में बारम्बार आवागमन करते हैं, किसी समय भाग्यवश उन को भक्ति की कृपा-प्राप्ति का सौभाग्य मिल सकता है तथा प्रेम प्राप्त करके वे कृतार्थ भी हो सकते हैं। किन्तु मोक्ष प्राप्त कर जो जीव ब्रह्मानन्द में निमग्न हो जाते हैं,

पूर्व-भक्ति की वासना न होने के कारण उन में तद्रूप सौभाग्य की सम्भावना ही नहीं है। इसीलिये मोक्षवाञ्छा को 'कैतव-प्रधान' कहा गया है। साधन करते समय किसी सौभाग्यवश जिन के मन में भक्ति की वासना उत्पन्न होती है, एवं निर्भेद ब्रह्मानुसन्धानात्मक ज्ञान-साधन में अपरिहार्य-सहायकारिणीरूप से जो भक्ति का अनुष्ठान करते हैं,मु क्तावस्था में वही भक्ति पूर्व-भक्तिवासना को उपलक्ष्य कर उन के जीव-ब्रह्मैक्यज्ञानरूप आवरण को दूर कर देती है, एवं उनकी दृष्टि को परमपुरुषार्थ प्रेम के प्रति प्रसारित कर देती है। तब उन में सम्बन्ध का ज्ञान जागृत हो उठता है एवं प्रेमसुख की परम लोभनीयता में ब्रह्मानन्द को तुच्छ जान कर वे भगवद्भजन में प्रवृत होते हैं। यथाः—

"मुक्ता अपि लीलया विग्रहं कृत्वा भगवन्तं भजन्ते।"

उपरयुक्त आलोचना से यह जान जाता है कि धर्म, अर्थ; काम, मोक्ष—चतुर्वर्ग में वास्तविक पुरुषार्थता का अभाव है एवं मोक्षवाञ्छा प्रधान आत्म-वञ्चना है।

परमधर्म—

जिस धर्म में कैतवों का सम्यकरूप से अभाव है, श्रीमद्भागवत् (१-१-२) में उसे ही परमधर्म कहा गया है। यथाः—

'धर्मः प्रोज्झितकैतवोऽत्र परमो निर्मत्सराणां सतामित्यादि।,

श्रीधरस्वामिपाद ने इस श्लोक की टीका में लिखा है कि धर्म, अर्थ, काम की तो बात ही क्या है, जिस धर्म में मोक्ष कि वासना है; उसे भी परमधर्म नहीं कहा जा सकता। श्री जीवगोस्वामिपाद ने मोक्ष शब्द से केवल सायुज्यमुक्ति को ही नहीं अपितु सालोक्य, समीप्य, सारूत्य, सार्ष्टि एवं सायुज्य, इन पांचों मुक्तियों को ही लक्ष्य किया है। उन्होंने कहा है कि जिस धर्म में इन पांचों में से किसी एक मुक्ति के प्रति भी लक्ष्य रहता है, वह परमधर्म नहों हो सकता। कारण की जीव-ब्रह्म के सम्बन्ध का ज्ञान जिस धर्म में सर्वतोभावेन विकसित हो, उसे परमधर्म कहा जा सकता है। सायुज्यमुक्ति की वासना में वास्तविक सम्बन्ध का ज्ञान विकसित नही हो सकता। अन्य चार प्रकार की मुक्ति वासनाओं में भी

सम्बन्धज्ञान सम्यक्‌रूप से स्फुरित नहीं होता। सालोक्यादि चतुर्विधा मुक्ति में सेव्य-सेवक भाव उद्‌बुद्ध होता है यह बात ठीक है; किन्तु वहां सालोक्यादि प्राप्ति की वासना ही प्रधान रहती है। इसलिये उनमें सेवा-वासना गौण रहती है।

सम्बन्ध-ज्ञान के दो अङ्ग हैं। प्रथमतः—सेव्य-सेवकत्व का ज्ञान। द्वितीयतः— सेवावासना का ज्ञान। इन दोनों का सम्यक् विकाश ही सम्बन्ध-ज्ञान का सम्यक् विकाश है। सेव्य-सेवकत्व का ज्ञान तो सालोक्यादि चतुर्विधा मुक्ति में रहता है, किन्तु सेवावासना के सम्यक् विकाश का वहां अभाव है। सेवा-वासना का सम्यक् विकाश होने पर पर-ब्रह्म श्रीकृष्ण-सुखैकतात्पर्यमयो सेवा के बिना अन्य कोई वासना नहीं रहती। अपने सुख-अनुसन्धान की लेशमात्र गंध भी नहीं रहती। सालोक्यादि चतुर्विधा मुक्ति में सालोक्यादि की वासना सेवा-वासना के साथ अङ्गाङ्गी भाव से जुड़ी रहती है, जिस से सेवा-वासना का सम्यक् विकाश नहीं हो पाता। इस से सिद्ध होत। है कि पञ्चविधा-मुक्ति में किसी एक की वासना भी परमधर्म के प्रतिकूल है।

साध्यवस्तु—

उपर्युक्त आलोचना से जाना जाता है कि धर्म-अर्थ-काम एवं पञ्च-विधा मुक्ति में भी पुरुषार्थता नहीं है। एकमात्र पञ्चम पुरुषार्थ प्रेम में ही वास्तविक पुरुषार्थता है। कारण कि प्रेम में सेव्य-सेवकत्व भाव तो जागृत है ही, अधिकन्तु सेवा का भाव भी सम्यक्‌रूप से परिस्फुट होता है, अर्थात् स्वसुखवासना-गन्ध-लेश-शून्या-कृष्णसुखैकतात्पर्यमयी सेवा की वासना भी सम्यक्‌रूप से स्फुरित होती है। इसलिये पञ्चम पुरुषार्थ प्रेम ही मुख्य साध्य वस्तु है। परम भागवतोत्तम श्रीरायरामानन्द के मुख से इस मुख्य साध्य-वस्तु को प्रकाशित कराने के उद्‌देश्य से ही श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभु ने उनसे पूछा था :—"हे रामानन्द! साध्य-वस्तु क्या है? प्रमाण सहित प्रतिपादन करो" रायरामानन्द ने सर्वप्रथम "प्रेम ही परम पुरुषार्थ है, प्रेम ही परम साध्य-वस्तु है" ऐसा नहीं कहा। क्यों कि देहात्मबुद्धि होने के कारण जिस जीवने देह-सुख को ही अपनी परम साध्य-वस्तुमान रखा है, उस की बुद्धि इस रहस्य को जानने में सर्वथा असमर्थ है। जीव की सुख-प्राप्ति-

विषयक धारणा कितनी भ्रांतिमय है, यह दिखाने के लिये परमकरुण रायरामानन्द ने प्रथम पुरुषार्थ "धर्म" से ही आलोचना आरम्भकी। क्रमशः मोक्ष का वर्णन करते हुये अन्त में पञ्चम पुरुषार्थ एवं परम साध्य-वस्तु को कहा। श्रीमन्महाप्रभु एवं रायरामानन्द में साध्य.साधन तत्व पर श्रीचैतन्य-चारितामृत मध्यलीला सातवें परिच्छेद में जो विषद् आलोचना है, उसका संक्षिप्त परिचय यहाँ देते हैं।

स्वधर्म—

रायरामानन्द ने सर्वप्रथम वर्णाश्रम-धर्मों के सम्बन्ध में कहा कि स्वधर्माचरण से कृष्ण-भक्ति होती है। यह सुन कर श्रीमन्महाप्रभु ने कहा—"यह लक्ष्य से बाहर है, इस के आगे कहो। श्रीमन्महाप्रभु ने वर्णाश्रम धर्म आचरण को इसलिये बाह्य कहा कि वर्णाश्रम के धर्मों के आचरण से इस लोक के सुख-सम्पदा अथवा स्वर्ग लोक के सुख-भोग प्राप्त होते हैं। अधिक से अधिक मुक्ति की प्राप्ति हो सकती है। भुक्ति एवं मुक्ति तो अपने इन्द्रियों के सुख में अथवा अपने दुखकी आत्यन्तिक निवृति में पर्यवसित हैं। जीव का स्वरूपानुबन्धि धर्म है—श्रीकृष्ण-सेवा। जो परम साध्य वस्तु है। भुक्ति–मुक्ति में श्रीकृष्ण-सेवा नहीं है बल्कि इस में देहावेश है। अतः वर्णाश्रम धर्मोंका पालन परमधर्म नहीं है। साध्य-वस्तू से परे की वस्तु है।

श्रीकृष्ण-कर्मार्पण—

राय ने फिर कहा :—"श्रीकृष्ण के निमित्त कर्मों का अर्पण करना साध्य है।"–इसमें भी देहावेश है। कर्म-बन्धन से छुटकारा पाने के उद्देश्य से ही श्रीकृष्ण में कर्मों का अर्पण अभिप्रेत है। इसमें भी वास्तविक पुरुषार्थता नहीं है। इसलिये प्रभु ने कहा :—"इसके आगे कहो, यह साध्य नहीं है।"

स्वधर्म–त्याग—

"स्वधर्मों के त्याग को ही साध्य मानना चाहिये" राय ने कहा। इस का समर्थन राय रामानन्द ने श्रीगीता के "सर्वधर्मान् परित्यज्य" श्लोक से किया, जो श्रीगीता का चरमवाक्य है। क्योंकि श्रीकृष्ण ने इसे "सर्वगुह्यतम परमवाक्य" कहा है। अर्जुन श्रीकृष्ण के अत्यन्त प्रिय हैं। इसीलिये उन्होंने

इस परमतत्व का उद्घाटन किया। किन्तु श्रीमन्महाप्रभु ने ऐसे परम रहस्य मय तत्व को सुन कर भी उसे "बाह्य" बतलाया और कहा कि इसके आगे कहो। इसका कारण यह है कि यहाँ जो सर्वधर्मों का त्याग कथन किया गया है, वह त्याग स्वतः स्फुरित नहीं है। श्रीकृष्ण-सेवाप्राप्ति के लोभ से भी यह "स्वधर्म-त्याग" नहीं है। "स्वयं श्रीकृष्ण सर्वधर्म त्याग का उपदेश दे रहे हैं"—इसलिये इसे त्याग कहा जाय, ठीक है, किन्तु इसमें सर्वधर्म-त्यागजनित पाप की भी आशंका मानो विद्यमान है। तभी तो श्रीभगवान् ने यह आश्वासन भी दिया है कि "पापों से तुम भय मत करो। समस्त पापों से मैं तुम्हारी रक्षा करूँगा।" यहाँ अर्जुन को उपलक्ष्य करके श्रीकृष्ण ने जिन के लिये "धर्म-त्याग" का उपदेश दिया है, उनमें देहावेश का परिचय भी मिलता है। क्योंकि देहावेश के रहने पर ही तो पाप भय की सम्भावना है, जब तक देहावेश है, तब तक जीव-ब्रह्म का सम्बन्ध-ज्ञान अज्ञानान्धकार से आच्छन्न रहता है एवं तब तक परमपुरुषार्थ प्रेम के आविर्भाव की भी कोई सम्भावना नहीं हो सकती। अतः प्रभु ने इसे बाह्य कहा।

ज्ञानमिश्रा-भक्ति—

फिर रायरामानन्द ने कहा :—"ज्ञान-मिश्रा भक्ति साध्यसार है।" प्रमाणस्वरूप श्रीगीता के इस श्लोक का उल्लेख किया :—

ब्रह्मभूतो प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्ति लभते पराम्॥

इस श्लोक में भगवान् ने पराभक्ति का कथन किया है—तथापि महाप्रभु ने कहा—"यह नहीं है, और आगे कहो।" ज्ञानमिश्रा-भक्ति में ज्ञान शब्द से दो लक्ष्य अभिप्रेत हैं। प्रथमतः—ज्ञान शब्द से जीवतत्व, ईश्वरतत्व मायातत्वादि को जानना भी हो सकता है। द्वितीयतः—ज्ञान शब्द से जीव-ब्रह्म का ऐक्यज्ञान भी अभिप्रेत है। दोनों रूपों में ही ज्ञान मिश्रा-भक्ति को महाप्रभु ने बाह्य कहा है। तात्पर्य यह है कि (प्रथमरूप में) शोकादि विघ्नों के रहने पर भजन में प्रवृत्ति नहीं हो सकती। अतः भक्ति (भजन) के लिये ज्ञान (जीवतत्व-ईश्वरतत्व आदि के ज्ञान) की अपेक्षा है। किन्तु ज्ञान की अपेक्षा रहने पर शुद्ध-भक्ति-मार्ग के भजन में विघ्न उत्पन्न होता है। कारण कि भजन प्रवृत्ति में तो केवल इतना ही ज्ञान रखना उपयोग

है कि श्रीभगवान् के साथ जीव का सेव्य-सेवक सम्बन्ध है। भजन प्रवृत में होकर यदि कोई साधक नानाविध तत्वों की आलोचना में ही लगा रहे, तो उसके भजनानुकूल समय का केवल वृथा नाश नहीं होगा, अपितु क्रमशः तत्व-आलोचना में उसको एक मोह भी उत्पन्न हो सकता है, जिससे वह उस तत्वालोचना को भी अपने भजन का एक अपरिहार्य अङ्ग मान बैठेगा। इस तत्वालोचना से भजनमें विघ्न उपस्थित होने लगेगा। अतः(प्रथम रूपमें) तत्व ज्ञान लिप्सा मिश्रित जो भक्ति मार्ग का भजन है, उसमें अर्थात् ज्ञान-मिश्रा-भक्ति में भजन-आवेश उत्पन्न नहीं हो सकता एवं जीवीश्वर सम्बन्ध-ज्ञान की स्फूर्ति की सम्भावना भी नहीं रहती। श्री जीवगोस्वामिपाद ने भी यही कहा है कि प्रथमावस्था में अन्य वस्तु से चित्त का आवेश एवं तज्जनित शोकादि विघ्नों की निवृति के लिये यद्यपि भक्ति के अविरोधी-ज्ञान अर्थात् जीवतत्व, ईश्वरतत्वादि विषयक ज्ञान और वैराग्य की किञ्चित् उपयोग्यता है, किन्तु अन्यावेश परित्याग के फलस्वरूप भक्ति में प्रवेश होने पर ज्ञान व वैराग्य का कोई भी प्रयोजन नहीं है। विशेषतः ज्ञान एवं वैराग्य की आलोचना से भी भक्ति में विघ्न उत्पन्न हो जाता है। इस लिये श्रीमन्महाप्रभु ने इसे बाह्य कहा।

(द्वितीयरूप में) रायरामानन्द ने ज्ञानमिश्रा-भक्ति के समर्थन में श्री-गीता के जिस श्लोक का उल्लेख किया है, वह श्लोक जीव-ईश्वर-ऐक्यज्ञान विषयक है। ऐसा श्रीधरस्वामिपाद की टीका से जाना जाता है। अतः जीव-ब्रह्म के ऐक्यज्ञान-मिश्रा-भक्ति को ही रायरामानन्द ने ज्ञान-मिश्रा-भक्ति कहा है। अभिधेय-तत्व में कहा जा चुका है कि जीव-ब्रह्म के ऐक्यज्ञानमूलक सायुज्यमुक्ति के साधक में भी भक्ति की सहायता आवश्यक है। साधन काल में वह सहायकारिणी भक्ति "तटस्था" ही होकर रहती है— वहाँ भक्ति केवल मात्र साधक की जीव-ब्रह्म-ऐक्यज्ञान की चिन्ता को सफलता प्रदान करती है। ऐसी ज्ञानमिश्रा-भक्ति से सायुज्यमुक्ति प्राप्त होती है। किन्तु सायुज्यमुक्ति की साधन-रूप ज्ञानमिश्रा-भक्ति जीव-ब्रह्म के सम्बन्धज्ञान (सेव्य-सेवक-भाव) के बिकाश के प्रकिकूल है। इसलिए श्रीमन्महाप्रभु ने इसे भी बाह्य कहा।

ज्ञानशून्या-भक्ति—

श्रीमन्महाप्रभु के वचन सुन कर रायरामानन्द ने ज्ञानशून्या-भक्ति

को साध्य कहा, और उस के समर्थन में श्रीभागवत की ब्रह्मस्तुति का (१०-१४-७) "ज्ञाने प्रयासमुदपास्य"—इत्यादि श्लोक भी कहा। जिसका तात्पर्य यह है कि ज्ञान प्राप्ति के लिये कोई भी चेष्टा न करके जो व्यक्ति साधु जनों के निकट अवस्थान पूर्वक उन के मुखकमलनिसृत भगवत् गुण-रूप-लीलादि का काय-मन-वाक्य से सत्कार करते हुए जीवन धारण करते हैं, श्रीभगवान् स्वतन्त्र—अजित होते हुए भी उन के वशीभूत हो जाते हैं। रायरामानन्द का तात्पर्य तत्वादि ज्ञानशून्या भक्ति से है—अर्थात् श्रीभगवत् कथादि श्रद्धा पूवक श्रवण करने मात्र से भी सम्बन्ध ज्ञान स्फुरित हो सकता है एवं प्रेम का आविर्भाव भी हो सकता है। इतना सुनकर श्रीमन-महाप्रभु ने कहा :—"रामानन्द! यह हो सकता है, किन्तु कुछ और आगे कहो।" अब तक प्रभु—"यह बाह्य है" ऐसा कहते रहे, किन्तु अब ज्ञान-शून्या-भक्ति की बात सुन कर उन्हों ने कहा—"यह हो सकता है।" कारण यह कि उपर्युक्त श्रवण नवधा-भक्ति का अङ्ग (श्रवण) है। इसके द्वारा प्रेम-भक्ति का आविर्भाव हो सकता है। मानो एक परमरमणीय मन्दिर में साध्य-वस्तु प्रतिष्ठित है, उस ओर जाने का पथ अब दृष्टि गोचर होने लगा—इसलिये महाप्रभु ने कहा—"हां रामानन्द! ज्ञानशून्या-भक्ति जिस का साधारण भाव से आप ने वर्णन किया है, यह ठीक है— किन्तु इस से आगे और विशेषरूप में कहिये।"

प्रेम-भक्ति—

प्रभु की बात सुन कर राय का मानो कुछ उत्साह बढ़ा और उन्हों ने कहा "प्रेम-भक्ति सर्व साध्य सार है" इस के समर्थन में दो एक श्लोक भी कहे। जिनका रहस्य यह है कि भगवान् केवलमात्र प्रेम ही के वशीभूत हैं—प्रेमरहित नाना उपचार भी उन्हें स्वीकार नहीं हैं—अतः सर्व प्रयत्न से मन, बुद्धि आदि को श्रीकृष्ण-रस से परिसिञ्चित करने की चेष्टा करना ही कर्त्तव्य है। अब रायरामानन्द ने प्रभु को मानो साध्यवस्तु के श्रीमन्दिर के द्वार पर ही—श्रीमन्दिर में आरोहण करने के लिये प्रथम सोपान पर लाकर ही खड़ा कर दिया। राय की बात सुनकर प्रभु ने कहा—"यही है, किन्तु इसे विशेषरूप से कहो—इस रमणीय मन्दिर के भीतर क्या है, अभी वह स्पष्टरूप से नहीं दीखता—उसे दिखाओ।"

दास्य-प्रेम—

रायरामानन्द ने श्रीमहाप्रभु के साथ अब मानो उस मन्दिर में प्रवेश किया, जिसमें चतुश्तल (चार मंजिलें) हैं। प्रथम-तल पर प्रवेश करते ही उन्होंने देखा कि—श्रीकृष्ण उनके दास्यभावमय नित्यपरिकरों की सेवा ग्रहण करके उनको कृतार्थ कर रहे हैं। श्रीकृष्ण-कृपा से उन(दासपरिकरों) के लिये अलभ्य कुछ भी नहीं है। उनकी ओर इङ्गित करके मानो राय-रामानन्द ने कहा—"दास्य-प्रेम सर्वसाध्य-सार है।" प्रभु ने देखा कि दास्यभाव के परिकर अत्यन्त प्रीति एवं आग्रह से श्रीकृष्ण सेवा कर रहे हैं। यह देखते हुये प्रभु ने अनुभव किया कि जब तब वे कुछ संकुचित भी हो जाते हैं, जिसके कारण वे अपनी आशानुरूप सेवा नहीं कर पाते। श्री कृष्ण उनकी सेवा से आनन्द तो प्राप्त कर रहे हैं, किन्तु मानो पूर्णतया नहीं अतः प्रभु की तृप्ति न हुई और उन्होंने रायरामानन्द से कहा "यह ठीक है, किन्तु इससे आगे यदि कुछ और है तो आगे कहो," अर्थात् आगे चलो।

यहाँ इतना और जानलेना चाहियेकि रायरामानन्दने यहां दास्यभाव को कहा है और आगे क्रमशः सख्य, वात्सल्य एवं कान्ताभाव के विषय में कहेंगे। दास्य, सख्य, वात्सल्य एवं कान्ता इन चारों भावों के पारिकर ब्रज में हैं, तथा द्वारका-मथुरा में भी हैं। द्वारका मथुरा के सब भावों में ऐश्वर्यज्ञान मिश्रित है, अर्थात् श्रीकृष्ण भगवान् हैं, यह ज्ञान उक्त चारों भावों में विद्यमान है। ऐश्वर्यज्ञान रहने पर प्रीति संकुचित हो जाती है। जैसे श्रीकृष्ण के ऐश्वर्यात्मक विश्वरूप का दर्शन कर अर्जुन की सख्य-प्रीति संकुचित्त हो गई थी। उसी प्रकार वात्सल्य एवं कान्ताभाव भी ऐश्वर्यज्ञान से संकुचित हो जाते हैं। भगवान् ने स्वयं कहा है :—

ऐश्वर्यशिथिल-प्रेमे नहे मोर प्रीति।

"जो प्रेम ऐश्वर्यज्ञान से शिथिल हो जाता है, उसके मैं वशीभूत नहीं हूँ।"द्वारका-मथुरा के परिकरवर्ग की प्रीति इतनी गाढ़ नहीं है कि उसप्रीति के आवरण से ऐश्वर्यज्ञान प्रच्छन्न हो सके। किन्तु ब्रजपरिकरों की श्रीकृष्ण प्रीति इतनी गाढ़ है कि उसके निविड़ आवरण में ऐश्वर्यज्ञान सम्यक्रूप से प्रछन्न हो जाता है। "श्रीकृष्ण भगवान् हैं, और वे उनके नित्य परिकर हैं"

यह अनुभूति ब्रजपरिकरों को एवं उनके प्रेममुग्ध श्रीकृष्ण को भी नहीं है। वे सभी यह मानते हैं कि वे एक मनुष्य हैं। इसलिये श्रीकृष्ण की ब्रजलीला को नरलीला कहा जाता है। इसका कारण प्रेम-मुग्धता है। प्रेम जितना गाढ़ होता है, उतना ही प्रेम का मुग्धत्व गाढ़ होता है। जितना अधिक प्रेम का मुग्धत्व होगा, प्रेम का आस्वाद्यत्व भी उतना अधिक होगा। ब्रज का भाव शुद्ध माधुर्यमय है। पहले कहा जा चुका है कि ब्रज में ऐश्वर्य का भी पूर्णतम विकाश है, किन्तु माधुर्य के सर्वातिशायी प्राधान्य के कारण ऐश्वर्य माधुर्य द्वारा कवलित है—विमण्डित है,इसलिये ब्रज में ऐश्वर्य अपना प्रभाव विस्तार नहीं कर पाता। यदि कभी वह प्रकाशित होता है, तो माधुर्य विमण्डित होकर ही—माधुर्य का रूप धारण कर माधुर्य की सेवा के निमित्त ही—माधुर्य एवं लीलारस की पुष्टि के लिये ही उसका विकाश होता है। इसलिये ब्रज का भाव ऐश्वर्य ज्ञान से संकुचित नहीं हो पाता। अतः ब्रज-परिकों की सेवा-वासना एवं सेवा भी प्रतिहत नहीं होती। ब्रज-प्रेम,द्वारका-मथुरा परिकरों की श्रीकृष्ण-प्रीति से कोटिगुणाधिक आस्वाद्य है। इसलिये साध्य-तत्व विचार में रायरामानन्द ब्रज के दास्य, सख्य, वात्सल्य एवं कान्त-भाव का ही वर्णन कर रहे हैं। ब्रज के जिन चारभावों की भक्ति का दान करने का संकल्प लेकर श्रीमन्महाप्रभु अवतीर्ण हुये हैं, उनमें प्रथम कोटि "दास्यभाव" है। इसलिये रायरामानन्द ने सर्वप्रथम दास्य-भाव का वर्णन किया।

सख्य-प्रेम—

ब्रज के दास्य-प्रेम की बात सुनकर प्रभुने जब इससे भी आगे जानना चाहा, तब राय प्रभु को मानो उस मन्दिर के द्वितीय तल (दूसरी मंजिल) पर ले आये। वहां उन्होंने देखा कि सुबल-मधुमङ्गलादि अपने सखाओं के साथ श्रीकृष्ण नानाविधि खेल खेल रहे हैं। पत्र-पुष्पादि द्वारा एक दूसरे को सजा रहे हैं। कभी वे अपनी छाया से लड़ रहे हैं। कभी उड़ते हुये पक्षी की छायाके साथ-साथ दौड़ रहे हैं। नर-शिशुओं की भाँति वे सर्वदा चञ्चल हैं। कभी सखा श्रीकृष्ण के कन्धे पर चढ़ रहे हैं और कभी श्रीकृष्ण उनके स्कन्धारूढ़ हो रहे हैं। श्रीकृष्ण निज उच्छिष्ट फल अपने सखा को दे रहे हैं और कभी वे भी अपना उच्छिष्ट एवं लालामिश्रित फल श्रीकृष्ण के मुख

में देते हुये कह रहे हैं—"मित्र कन्हाई ! देख तो सही, यह फल कितना मीठा है।" किसी में कोई भी सङ्कोच नहीं है। सखा, श्रीकृष्ण को अपने समान ही मानते हैं। ज्ञान-मार्ग के उपासक "आनन्द-सत्ता मात्र" जिनको अनुभव करते हैं; दास्य-भाव के साधक जिनको "परमाराध्य देवतारूप" मानते हैं, जो अनन्त कोटि विश्वब्रह्माण्ड के एक मात्र "आश्रय एवं अधीश्वर" हैं, उन्हीं परम-ब्रह्म स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण के साथ निःसङ्कोच भाव से ब्रज-गोप-बालक खेल रहे हैं।

इस समस्त खेल को दिखाते हुये रायरामानन्द ने प्रभु को कहा—"सख्य-प्रेम सर्वसाध्य सार है।" श्रीमन्महाप्रभु ने अनुभव किया कि दास्य-भाव के भक्तगण जैसे श्रीकृष्ण-गत-प्राण हैं, सखा-गण भी उसी प्रकार श्रीकृष्ण के बिना और कुछ नहीं जानते। दास्य की तरह सख्य में भी श्रीकृष्ण-सुखैकतात्पर्यमयी सेवा है। किन्तु दास्य में जो एक सङ्कोच है, वह सङ्कोच यहां सख्य में नहीं है। श्रीमन्महाप्रभु ने कहा—"रामानन्द ! सखाओं की प्रीति अति उत्तम है। इनका प्रेम एवं ममत्व श्रीकृष्ण में इतना गाढ़ है कि स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण को अपने समान ही मानते हैं एवं श्री कृष्ण भी उनके प्रेम में मुग्ध होकर उनके समान अपने को एक गोप-बालक ही मानते हैं। स्वच्छन्द सेवा द्वारा सखा श्रीकृष्ण की प्रीति विधान करते हैं तथा श्रीकृष्ण द्वारा की गई सेवा का ग्रहण भी करते हैं। परस्पर कोई सङ्कोच नहीं है। श्रीकृष्ण उनके प्रेम के वशीभूत हैं। रामानन्द ! सख्य उत्तम है, किन्तु कुछ और भी आगे कहो।" इस बार प्रभु ने सर्वप्रथम "उत्तम" शब्द कहा है। स्वयं भगवान् ने भी कहा है, कि प्रेम की गाढ़ता में जो भक्त अपने को उन से बड़ा तथा उन्हें अपनी अपेक्षा छोटा मानते हैं, वे सर्वतोभावेन उन के प्रेमाधीन रहते हैं, एवं ऐसा न मान कर अन्ततः जो उनको अपने समान भी मानने हैं, वे उनके सदा प्रेमाधीन रहते हैं।

वात्सल्य-प्रेम—

अब रायरामानन्द श्रीमन्महाप्रभु को मानो उस मन्दिर के तृतीयतल (तीसरी मंजिल) पर लाये। वहां प्रभु ने देखा कि श्रीकृष्ण एक शिशु के रूप में हैं। श्रीनन्द-यशोदा उनका लालन-पालन कर रहे हैं। कभी श्रीकृष्ण मां यशोदा की गोद में आकर स्तन पान करने लगते हैं। कभी नन्दबाबा

के पादुका मस्तक पर उठाले आकर अपने छोटे छोटे हाथों से बाबाके पाँव में पहराने की चेष्टा करते हैं। जब नन्दबाबा प्राण-गोपाल को उठा कर चुम्बन करते हैं, तो गोपाल भी बाबा को चुम्बन करने लगते हैं। कभी गोपाल मां यशोदा के दूध-दधि के बासन तोड़ देते हैं। माखन की चोरी करके स्वयं खाते हैं तथा अनेक बानरों को खिलाते हैं। माता यशोदा ताड़ना एवं भत्सना करती हैं, कभी उलूखल से बाँध भी देती हैं। श्रीकृष्ण को अबोध बालक मानकर उनके मङ्गल के निमित्त उन्हें शासन करना भी वह अपना कर्त्तव्य समझती हैं।

प्रभु ने यह सब देख कर अत्यन्त आनन्द प्राप्त किया। कैसा अपूर्व भाव है! श्रीकृष्ण में श्रीनन्द यशोदा की कितनी गाढ़ ममत्व बुद्धि है!! श्रीकृष्ण वास्तविक तो किसी के पुत्र नहीं हैं और न हो ही सकते हैं; क्यों कि वे अज हैं, नित्य हैं तथा सर्वकारण-कारण हैं। तथापि श्रीनन्द-यशोदा की कितनी गाढ़ वात्सल्य प्रीति—जिससे मुग्ध होकर श्रीनन्दबाबा अपने को श्रीकृष्ण का पिता समझते हैं। माता यशोदा मानती हैं कि वह श्रीकृष्ण की माता हैं। अपने को श्रीकृष्ण का लालन-पालन एवं अनुग्राहक मानते हैं। इनके शुद्ध वत्सल्य में मुग्ध होकर श्रीकृष्ण भी मानते हैं कि वह श्रीनन्द यशोदा का सर्वस्व जीवन गोपाल ही हैं। गोपाल भी ऐसा मानते हैं कि मां यशोदा तथा बाबा नन्द ही उनका पालन करते हैं।

श्रीमन्महाप्रभु ने सोचा—सख्य प्रेम भी गाढ़ है, किन्तु इतना गाढ़ नहीं जिससे कोई अन्याय देख कर श्रीकृष्ण का सखा, श्रीकृष्ण को भर्त्सना कर सके। सख्यकी भांति वात्सल्यमें श्रीकृष्ण निष्ठा है। श्रीकृष्ण-सुखैकतात्पर्य मयी सेवा भी है। सङ्कोच का अभाव है, अधिकन्तु ममत्व बुद्धि की अधिकतर गाढ़ता के कारण श्रीकृष्ण के प्रति लाल्यत्व, पाल्यत्व एवं अनुग्राह्यत्व के भाव भी विद्यमान हैं। वे श्रीकृष्ण को अपनी अपेक्षा छोटा जानते हैं। मानो श्रीकृष्ण नितान्त असहाय तथा अबोध हैं, इस प्रकार का एक भाव उनमें विशेष है। स्वयं ब्रह्मा जिनकी महिमा का अन्त नहीं पाते, योगीन्द्र-मुनीन्द्रगण युग-युगान्तर तक ध्यान करते हुये जिनके चरण-नख-ज्योति के आभास का भी सन्धान नहीं पाते, वही परम-ब्रह्म यहाँ श्रीनन्द महाराज के पादुका सिर पर उठा रहे हैं। क्षुधातुर होकर स्तन पान करने के लिये मां यशोदा का अञ्चल पकड़ कर खैंच रहे हैं। स्वयं भय जिनकी स्मृति से

भयभीत होता है; यशोदा माता की ताड़ना के भय से ,उनके दोनों नेत्रों से अश्रु-जल प्रवाहित होकर वक्षस्थल प्लावित कर रहा है। जिनका विग्रह सर्वत्र, अनन्त तथा विभु है, वात्सल्य-प्रेम के वशीभूत होकर वे यशोदा माता द्वारा बन्धन पर्यन्त को भी अङ्गीकार कर रहै हैं। अहो ! कितनी अद्भुत प्रेम की शक्ति ! कितनी अनिर्वचनीय भगवान् की प्रेम-वश्यता !!

यह देखकर श्रीमन्महाप्रभु मुग्ध हो गये, किन्तु इसकी अपेक्षा और कुछ उत्कृष्ट है कि नहीं, यह जानने के लिये वे कहने लगे :—रामानन्द ! यह उत्तम है किन्तु और आगे कहो।"

कान्त-प्रेम—

प्रभु के वचन सुनकर राय प्रभु के साथ मानो उस मन्दिर के चतुर्थ-तल (चौथी मंजिल) पर पहुंचे। वहां क्या देखते हैं ?—परम मनोहर एक बन है जिस में सुन्दर-सुन्दर वृक्ष लताजाल से परिवेष्ठित है। प्रति लता में अनेक सुगन्धित कुसुम प्रस्फुटित हैं। अनेक मधु-लुब्ध भ्रमर कुसुमों पर गुञ्जन कर रहे हैं। कोकिला,पपीहा की पञ्चम-तान से बन मुखरित हो रहा है। मृदु-मन्द पवन कुसुम-गन्धसम्भार को वहन करता हुआ लता-जाल को आन्दोलित कर रहा है। स्निग्ध ज्योत्सना से समस्त बन उद्भासित है। बन के मध्य में एक चबूतरा है मानो हरित रङ्ग के मखमल से आच्छादित है। उस के मध्य-स्थल में एक किशोर मूर्ति विराजमान है। कैसा अपूर्व उस के देह का वर्ण है—नीलोत्पल भी उस के सामने लज्जित है। कितनी अपूर्व सुगन्धि उस देह से चारों दिशाओं में विस्तारित हो रही है-मृगमद तथा नीलोत्पलकी मिलित सुगन्धि भी उस के सामने हार मान बैठी है। ईषद्विकसित होठों पर सुन्दर प्राणोन्मत्तकारी स्निग्धोज्ज्वल मन्द-मुस्कयान है और उस आकर्ण-विस्तृत लालीमायुक्त नैनद्वय की सुन्दर-अवलोकनि मानो समस्त विश्व को अपनी ओर खींच रही है। उस ललित-त्रिभङ्ग मूर्ति के अधर पर वँशी सुशोभित है। चारु कपोलों पर अलकावलि की शोभा न्यारी है। नासिका में मुक्ता की हलन है। कर्णद्वय में मणिरत्न-खचति कुण्डल गण्डद्वय की नीलाभ ज्योति से झलक रहै हैं। मस्तक पर पत्र-पुष्प निर्मित मुकुट है, उस में मयूर-पुच्छ अपूर्व शोभा विस्तार कर रहा है।

भुजाओं में पुष्पों के बाजूबन्द, पुष्पों के कङ्कण शोभित हैं। नीलाकाश में वक-पंक्ति की भांति वक्षस्थल पर मोतियों का हार है। गले में नाना प्रकार के फूलों की मालायें हैं। उनमें एक बहुत लम्बी है, जो मानो चरणद्वय के चूमने को लालायित है। पीताम्बर की फहरान अनोखी है। चरणों में नाना मणि-खचित कनक-नूपुर, नखचन्द्र शोभा-दर्शनानन्द में विभोर होकर अपनी अपूर्व ध्वनि से मानो उनका जयगान कर रहे हैं।

उस किशोर के वामपार्श्व में एक नवीना किशोरी है, मानो अमृत-घन-दामिनी है। उस किशोर के अनुरूप ही इसके वसन-भूषण तथा हाव-भाव हैं। सचमुच मूर्त-प्रेम विग्रह है। इनके चारों ओर असंख्य ब्रज-किशोरियां हैं। मानो ये अनन्त प्रेम वैचित्री, सौन्दर्य वैचित्री के मूर्त-प्रकाश स्वरूप हैं। प्राणों के अन्तस्थल से प्रीति—रस का उत्स प्रवाहित करके युगल-किशोर की प्रीति सम्पादन के लिये ये व्यग्रा हैं। ऐसी आत्म-विस्मृत-सेवा और कहां है?—अपने सुख-दुख का, इहकाल परकाल का कोई भी अनुसन्धान इन्हें नहीं है। इनकी सारी वासनायें, समस्त चेष्टायें किशोर-युगल के सुख सम्पादन में ही केन्द्रित हैं। नवीन-किशोर के वामपार्श्व में विराजमाना नवीना-किशोरी—श्रीराधा हैं, जो कि इन ब्रजकिशोरियों की प्राणों से भी प्यारी हैं। यह इन सब में सर्वश्रेष्ठा हैं। ये किशोरीवृन्द मानो उनके ही अङ्ग-प्रत्यङ्ग हैं। नवीन-किशोर की सेवा में श्रीराधा की सहाय कारिणी हैं। श्रीराधा केवल मात्र उस नव-किशोर नटवर श्रीकृष्ण का सुख चाहती है। उनके लिये जो भी प्रयोजन है, वह सब कुछ अकुण्ठित भाव से वह कर सकती हैं—कर रही हैं। अपने प्राणवल्लभ उस नटवर नव-किशोर के लिये इन्होंने सकल वेदधर्म, लोकधर्म, कुलधर्म, देह-गेह-स्वजन, आर्यपथादि सब कुछ त्याग कर दिया है। इनकी सेवा में दास्य की निष्ठा व सेवा है। सख्य की सङ्कोचहीनता तथा वात्सल्य का लालन-पालन सब कुछ विद्यमान है। अधिकन्तु एक और वस्तु भी है, जो अन्यत्र नहीं पाई जाती। वह है—स्वीय अङ्ग द्वारा परिचर्य्या। प्रेमवती-कान्ता प्रेमवान-कान्त की जिस भाव से सेवा करती हैं, इनकी श्रीकृष्ण-सेवा उससे भी कहीं अधिक प्रीतिमयी हैं। श्रीकृष्ण एवं श्री राधिकादि ब्रजसुन्दरीगण मानो आनन्द के एक महाप्रवाह में निमग्न हैं।

श्रीमन्महाप्रभु मानो इस दृश्य को देखकर मुग्ध हो गये हैं। ऐसे

समय में रायरामानन्द बोल उठे:—"प्रभो ! कान्ता-प्रेम सर्व-साध्य-सार है।"

गोपी-प्रेम का वैशिष्ट्य—

यहां यह जान लेना आवश्यक है कि श्रीराधिकादि ब्रजसुन्दरीगण अपने को मानुषी मानते हुए भी स्वरूपतः जीव-तत्व नहीं हैं। (सुबल-मधु-मङ्गलादि सखागण एवं श्रीनन्द-यशोदादि भी जीव-तत्व नहीं हैं) वे स्वरूपशक्ति ह्लादिनी के मूर्त-विग्रह हैं। श्रीराधा स्वयं ह्लादिनी की अधिष्ठात्री हैं। श्रीकृष्ण-सेवा की बलवती उत्कण्ठा में ही स्वजन-आर्य्य-पथ, वेदधर्म-लोकधर्म, को जलांजलि देकर श्रीराधिकादि ब्रजसुन्दरीगण श्रीकृष्ण-सेवा में संलग्न हैं, एवं उनकी प्रीति के आधिक्य से श्रीकृष्ण भी उसी प्रकार विचरते हैं।

अपातदृष्टि से ऐसा मिलन अवैध होते हुए भी किसी ओर स्वसुख वासना की गंधमात्र इसमें नहीं है। परस्पर प्रीति सम्पादन करना ही इनका एक मात्र काम्य है। यथा पद्मपुराण में कहा गया है :—

"मद्भक्तानां विनोदार्थं करोमि विविधाः क्रियाः।"

—यह श्रीकृष्ण की स्वमुखोक्ति है। इनके इस मिलन में प्राकृत नायक-नायिका के मिलन की भांति जुगुप्सित काम-क्रीड़ा नहीं है। इनकी लीला यदि काम-क्रीड़ा ही होती, तो आजन्म-विरक्त श्रीशुकदेवगोस्वामी रासलीला का वर्णन करके अन्त में यह न कहते :—

विक्रीड़ितं ब्रजवधूभिरिदंच विष्णोः,
श्रद्धान्वितोऽनुश्रृणुयादथवर्णयेद् यः।
भक्तिं परां भगवति प्रतिलभ्य कामं,
हृदरोगमाश्वपहिनोत्यचिरेण धीरः ॥

(श्रीमद्भागवत् १०-३३-४०)

—"ब्रजवधूओं के साथ श्रीकृष्ण की इन क्रीड़ाओं की कथा को श्रद्धान्वित होकर जो श्रवण व वर्णन करते हैं, वे शीघ्र ही पराभक्ति को

प्राप्त करते हैं। तथा उनका हृदरोग—काम दूर हो जाता है।" पारलौकिक मङ्गलकामी आसन्नमृत्यु महाराज श्रीपरीक्षित भी इन कथाओं को सुनकर अपने को कृत कृतार्थ न समझते। यदि व्रजसुन्दरियों के साथ श्रीव्रजेन्द्र-नन्दन की लीला जुगुप्सित काम क्रीड़ा ही होती, तो परम भागवत् श्रीउद्धव जी महाराज व्रजसुन्दरियों की चरणरेणु प्राप्ति के निमित्त श्री वृन्दावन में गुल्म-लता होकर जन्म-लाभ करने के सौभाग्य की प्रार्थना भी न करते। यथा:—

आसामहो चरणरेणुजुषामहं स्याम्,
वृन्दावने किमपि गुल्मलतौषधीनाम्।
या दुस्त्यजं स्वजनमार्य्यं पथञ्च हित्वा,
भेजुर्मुकुन्दपदवीं श्रुतिभिर्विमृग्याम्॥

(श्रीमद्भागवत् १०-४७-६१)

इतना ही नहीं, यदि श्रीकृष्णानुरागिनी व्रजसुन्दरियों में कोई भी दोष गंध होती तो श्रीउद्धव इन व्रजदेवियों की चरणरेणु की वन्दना करते हुए उनकी श्रीमुखनिसृत श्रीहरिकथा को त्रिभवन-पावन न कहते:—

वन्दे नन्द व्रजस्त्रीणाम् पादरेणुमभीक्ष्णशः।
यासां सरिकथोद्गीतं पुनाति भुवनत्रयम्॥

(श्रीमद्भागवत् १०-४७-६३)

व्रजसुन्दरियों के प्रेम में एक और विशेषता यह है कि इनका प्रेम और किसी की अपेक्षा नहीं रखता। दास्य, सख्य, वात्सल्य भावों के परिकरों का श्रीकृष्ण के साथ एक सम्बन्ध है। श्रीकृष्ण हैं—दास के प्रेभु; सखा के सखा एवं माता—पिता के पुत्र। उनकी श्रीकृष्ण प्रीति का विकाश उस सम्बन्ध सीमा का अतिक्रम नहीं कर सकता। अत: उनकी सेवा भी सम्बन्ध की मर्यादा को उल्लङ्घन नहीं कर सकती। तभी तो दास्यभाव का परिकर श्रीकृष्ण के मुख में अपना उच्छिष्ट फल नहीं दे सकता, सखा श्रीकृष्ण का ताड़न-भर्त्सन नहीं कर सकते इत्यादि। इनके लिये पहले सम्बन्ध है, तदनन्तर सेवा। उनकी प्रीति का विकाश सम्बन्ध के आनुगत्य में है। अतः उनकी श्रीकृष्णरति को "सम्बन्धानुगा-रति"

कहा गया है। किन्तु ब्रजसुन्दरियों की स्थिति अलग है। इनमें पहले है श्रीकृष्ण प्रीति, तदनन्तर सेवा है। अतः इनकी श्रीकृष्ण-रति को कहते हैं—"प्रेमानुगा-रति" (कामानुगा-रति)। श्रीकृष्ण की प्रीति के लिये ये सब कुछ कर सकती हैं। किसी की अपेक्षा नहीं रखतीं। इस प्रीति के प्रवल-प्रवाह में इनके वेदधर्म-कुलधर्मादि विविध विघ्न तृण की भांति अपने आप बह गये हैं। श्रीकृष्ण के साथ श्रीब्रजसुन्दरियों का कान्त-कान्ता सम्बन्ध इनकी श्रीकृष्ण-प्रीति या श्रीकृष्ण-सेवावासना के अनुगत है। इनकी प्रीति का विकाश हर समय अबाध है-अप्रतिहत है। इस प्रीति के प्रभाव से श्रीकृष्ण के मन की सारी बातों को ये जान सकती हैं। भगवान् श्रीकृष्ण ने स्वयं श्रीअर्जुन से कहा हैः— (आदिपुराण)

मन्माहात्म्यं मत्सपर्यां मच्छ्रद्धां मन्मनोगतम्।
जानन्ति गोपिका पार्थ नान्ये जानन्ति तत्वतः॥

—"हे पार्थ! मेरी महिमा, मेरी सेवा, मेरी स्पृहा के विषय को एवं मेरे मनोगत भावों को स्वरूपतः एक मात्र श्रीब्रज-गोपिकाएं ही जानती हैं और कोई नहीं।" इसलिये गोपिकाएं ही अपनी सेवा द्वारा श्रीकृष्ण को सब प्रकार में सुखी कर सकती हैं, एवं श्रीकृष्ण भी इनके प्रेम के परिपूर्णतया वशीभूत है। अतः कान्ता-प्रेम के सम्बन्ध में कहा गया हैः—

परिपूर्ण कृष्ण प्राप्ति एइ प्रेमा हैते।
एइ प्रेमार वश हय कहे भागवते॥

(श्रीचै० च० २-८-६६)

"परिपूर्णतया श्रीकृष्ण प्राप्ति इसी प्रेमा (कान्ता-रति) से ही सम्भव है तथा श्रीमद्भागवत् में कहा गया है कि श्रीकृष्ण इसी प्रेमा-भक्ति के परिपूर्ण वशीभूत हैं।"

श्रीमद्गीता में श्रीभगवान् ने अर्जुन के प्रति कहा हैः—

"ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।"

"मुझे जो जिस भाव से भजता है, मैं भी उसे उसी भाव से भजता हूं।" किन्तु श्रीब्रजगोपियों के भजन में उनकी यह प्रतिज्ञा भङ्ग हो जाती है। श्रीकृष्ण उनकी सेवा के अनुरूप आचरण नहीं कर सकते। इसी कारण-भगवान् ने उनका चिरऋणत्व स्वीकार करते हुए स्पष्ट कहा है:— **"न पारयेऽहं निरवद्यसंयुजां"** इत्यादि इस प्रकार का ऋणत्व और किसी भी परिकर के निकट श्रीकृष्ण स्वीकार नहीं करते हैं। जो सर्व-कारण कारण हैं, जो परब्रह्म परमस्वतन्त्र स्वयंभगवान् हैं, वे गोप-किशोरियों के निकट अपने को अपरिशोध्य ऋण (न चुकाये जा सकने वाले ऋण) में ऋणि कहकर घोषणा कर रहे हैं। अहो ! निरुपाधि-प्रेम का कैसा अनिर्वाच्य--अचिन्तनीय प्रभाव है, जो परम-स्वतन्त्र स्वयंभगवान् तक को भी "तृणादपि सुनीच" भाव धारण करा देता है। तभी तो श्रुति कहती है:--

भक्तिवशः पुरुषः। भक्तिरेव गरीयसि।"

ऐसी गरीयसि है गोपिकाओं की श्रीकृष्ण-प्रीति। श्रीब्रज-गोपियों के समान निगूढ़-प्रेमपात्र भी श्रीकृष्ण का और कोई नहीं। श्रीभगवान् कह रहे हैं:— (आदिपुराण)

निजाङ्गमपि या गोप्यो ममेति समुपासते।
ताभ्यः परं न मे पार्थ निगूढ़प्रेमभाजनम् ॥६१॥

"हे पार्थ ! गोपीगण अपने शरीर तक को भी मेरी वस्तु जानकर सुसज्जित करती हैं; अर्थात् मेरे अर्पित मेरा सुखसाधन जानकर मार्ज्जन भूषणादि द्वारा शरीर के लिये यत्नशीला रहती हैं। इन ब्रजगोपियों के सिवाय मेरा निगूढ़-प्रेमपात्र और कोई नहीं।" श्रीगोपियों की श्रीकृष्ण-प्रीति के इस चरम-विकाश को "महाभाव" कहा गया है। महाभाव का एक ऐसा स्वभाव है कि महाभाववती के देह-इन्द्रियादि को वह अपनी स्वरूपता अर्थात् महाभावता प्राप्त करा देता है। महाभाव ह्लादिनी की सारभूत वस्तु है, जो परम आस्वाद्य है। श्रीब्रजसुन्दरियों की समस्त इन्द्रियां एवं उनकी वृत्तियाँ महाभावरूपा होने से परम आस्वाद्य हैं। इसलिये उनसे किया हुआ तिरस्कार भी रसिक-शेखर श्रीकृष्ण के लिये परम आस्वाद्य है।

श्रीब्रजदेवियों के प्रेम की श्रीकृष्ण-वशीकारता शक्ति का वर्णन कर के रायरामानन्द ने श्रीमन्महाप्रभु से गोपीप्रेम की एक अद्भुत महिमा का कथन किया। उन्होंने कहा कि श्रीकृष्ण का सौन्दर्य-माधुर्य स्वभावतः ही उनके अपने चित्त को हर लेने वाला है किन्तु जब वे ब्रजगोपियों के साथ विराजते है, तब उनके प्रेम स्वभाव से वह माधुर्य और भी कोटिगुणाधिक वर्द्धित हो जाता है। कांता-प्रेम के सम्बन्ध में यह सुन कर श्रीमहाप्रभु रायरामानन्द से बोले—"साध्य की सुनिश्चित अवधि यही है—किन्तु इससे आगे यदि कुछ और हो तो कृपा कर कहो।"

श्रीराधा-प्रेम—

श्रीमन्महाप्रभु का कौतूहल जान कर रस-परिवेशन परिपाटि में निपुण रायरामानन्द बोले :—

इहार मध्ये राधार प्रेम साध्य-शिरोमणि।
याहार महिमा सर्व शास्त्रे ते वाखानी॥

"इस कांताप्रेम में श्रीराधा-प्रेम साध्यशिरोमणि है, जिसकी महिमा सब शास्त्रों में वर्णन की गई है।" रायरामानन्द के वचन सुन कर आनंद-मग्न हो श्रीमन्महाप्रभु कहने लगे—"रामानन्द! तुम्हारी वाणी में अपूर्व अमृत-नदी प्रवाहित हो रही है। कहो-आगे कहो। मुझे अत्यन्त सुख मिल रहा है। किन्तु, रामानन्द! रासोत्सव में गोपियों के डर से श्रीकृष्ण, श्रीराधा को चोरी करके ले गये हैं। जहाँ अन्यापेक्षा (गोपियों का डर) है, वहाँ प्रेमगाढ़ता की स्फूर्ति नहीं मानी जा सकती। हां—यदि श्रीराधा के लिये श्रीकृष्ण अन्यान्य गोपियों का साक्षात् त्याग करें तो श्रीराधा के प्रति श्रीकृष्ण का गाढ़ अनुराग जाना जायेगा।" प्रभु का आशय जान कर रायरामानन्द ने श्रीजयदेव वर्णित बसन्त-कालीन रास का उल्लेख करते हुये बताया कि रासमण्डल से श्रीराधा के अन्तर्हित हो जाने पर श्रीकृष्ण अन्यान्य असंख्य ब्रज-गोपियों को छोड़ कर श्रीराधा का ही अन्वेषण करने के लिये चले गए थे जिससे श्रीराधा-प्रेम की सर्वातिशायिनी महिमा सूचित होती है। आपातदृष्टि से इस दृष्टान्त से श्रीराधा के प्रति श्रीकृष्ण के गाढ़ अनुराग का परिचय मिलता है। जो प्रकरण-सङ्गत नहीं दीखता। किन्तु

रायरामानन्द ने अत्यन्त निपुणता से श्रीराधा-प्रेम की सर्वातिशायी महिमा का वर्णन किया है। क्यों कि श्रीराधा-प्रेम देखने की वस्तु नहीं है। जैसे ज्वर के प्रमाण को जानने के लिये देह पर उसके प्रभाव ताप आदि के परिमाण को देखा जाता है, उसी प्रकार इस प्रेम की महिमा जानने के लिये, इस प्रेम के विषय–श्रीकृष्ण पर उसका कितना प्रभाव है, यह जानने की आवश्यकता है। श्रीराधा-प्रेम की प्रबल बाढ़ यदि श्रीकृष्ण के राधा विषयक-अनुराग समुद्र को इस प्रकार आलोड़ित कर सके कि जिससे श्रीकृष्ण के श्रीराधा-प्रीति-विकास मार्ग में अवस्थित सारी विघ्न-बाधायें तथा अन्यापेक्षायें चूर्ण-विचूर्ण होकर क्षुद्र तृण-खण्ड की भांति वह जायें, तभी तो श्रीराधा-प्रेम की महिमा का सर्वातिशायित्व जाना जा सकता है। अतः उक्त दृष्टान्त प्रकरणसङ्गत ही है।

रायरामानन्द से श्रीराधा-प्रेम की सर्वातिशायिनी महिमा सुन कर श्रीमन्महाप्रभु ने अत्यन्त सुख प्राप्त किया और गद्गद् कण्ठ से कहने लगे:— "हे रामानन्द! तुम्हारे स्थानपर मेरा आना सफल हुआ। अब मुझे श्रीकृष्ण तत्व, रस-तत्व तथा श्रीराधा-तत्व सुनाइये।" श्रीमन्महाप्रभु का यह प्रश्न भी श्रीराधा-प्रेम महिमा को ही विकसित करने के लिये था क्यों कि— १. जिस राधा प्रेम ने श्रीकृष्ण को सर्वथा वशीभूत कररखा है, उस श्रीकृष्ण-तत्व को जाने बिना श्रीराधा-प्रेम की महिमा का सम्यक् विकाश नहीं हो सकता। अतः प्रभु ने श्रीकृष्ण-तत्व सम्बन्ध में जिज्ञासा की। २. रस-स्वरू श्रीकृष्ण में जो रस का विकाश है, उस रस-तत्व को जाने बिना प्रेम-महिमा की सम्यक्रूप उपलब्धि नहीं हो सकती। कारण कि श्रीराधा-प्रेम में ही रसत्व का पूर्णतम विकाश है एवं श्रीराधाप्रेम द्वारा ही रस का पूर्णतम आस्वादन सम्भव है। इसलिये श्रीमन्महाप्रभु ने रस–तत्व की जिज्ञासा की। ३. जिस (श्रीराधा के) प्रेम का ऐसा प्रभाव है, वह प्रेम-तत्व स्वरूपतः क्या वस्तु है, यह जाने बिना भी उस श्रीराधा-प्रेम की महिमा पूर्णतया नहीं जानी जा सकती। अतः प्रभु ने प्रेम-तत्व पूछा। ४. तथा जिस श्रीराधा के प्रेम ने श्रीकृष्ण को ऐसा वशीभूत कर रखा है, उस श्रीराधा-तत्व को जाने बिना उसके प्रेम की महिमा का भी सम्यक्रूप नहीं जाना जा सकता। अतः प्रभुने श्रीराधातत्व की जिज्ञासा की। रायरामानन्द ने क्रमशः अति संक्षेप से इन तत्वों का वर्णन किया।

श्रीकृष्ण-तत्व—

श्रीकृष्ण-तत्व के सम्बन्ध में उन्होंने कहा कि श्रीकृष्ण परम-ईश्वर, स्वयंभगवान् सर्वावतारी, सर्वकारण-कारण तथा अनन्त-कोटि-ब्रह्माण्डों एवं वैकुण्ठों के आधार हैं। कितना बड़ा विराट तत्व है!—श्रीकृष्ण अद्वय ज्ञान तत्व हैं। उनको भी जो प्रेम सम्यक् रूप से वशीभूत कर सकता है, उस प्रेम की महिमा वास्तविक ही अनिर्वचनीय हैं।

रस-तत्व—

रायरामानन्द ने रस-तत्व के बारे में कहा कि श्रीकृष्ण रसिक-शेखर हैं। रसरूप से वे आस्वाद्य एवं रसिकरूप से वे आस्वादक भी हैं। सर्व-शक्ति, सर्व-ऐश्वर्य पूर्ण होने से वे सर्व-रस-पूर्ण हैं। अखिलरसामृतवारिधि, वे समस्त रसों के विषय तथा आश्रय हैं। विभु-तत्व होते हुए भी वे रसास्वादन करने एवं कराने के लिये अपरिच्छिन्न होते हुए भी परिच्छिन्नवत् प्रतीयमान सच्चिदानन्दवपु हैं। अज, नित्य, शाश्वत तथा सर्व कारण-कारण होते हुए भी वात्सस्य-प्रेम के वश वे अपने को नन्दनन्दन मानते हैं। आस्वाद्यरूप से नित्य नव-नवायमान आस्वाद्य वैचित्री प्रकट करके सबके चित्त में उसके आस्वादन को बलवती लालसा एवं तज्जनित परमोत्कण्ठा उत्पन्न करके वे सबको उन्मत्त कर देते हैं। इसीलिये ये श्रीवृन्दावन में अप्राकृत—नवीन-मदन हैं। ब्रजदेवियों का प्रेम ही उनके माधुर्य-वृद्धि का कारण है। श्रीराधा में प्रेम विकाश की चरम पराकाष्ठा होने से श्रीराधा के सान्निध्य में ही श्रीकृष्ण के माधुर्य-विकाश की भी पराकाष्ठा है। स्वयं भगवान् कहते हैं :—

मन्माधुर्य राधा-प्रेम-दोंहे होड़ करि।
क्षणे क्षणे बाढ़े दोंहे केह नाहि हारी॥

अर्थात् श्रीकृष्ण का माधुर्य एवं श्रीराधा का प्रेम दोनों होड़ बांध कर प्रतिक्षण वर्द्धित होते रहते हैं। कोई भी किसी से पराजित नहीं होता। माधुर्य के इस चरम विकाश में श्रीकृष्ण "मदनमोहन" हैं। इस

अत्याधिक विकाश का हेतु क्या है?—श्रीराधा-प्रेम ! इससे भी श्रीराधा प्रेम की महिमा ज्ञात होती है।

सर्वरसों में मधुररस-शृङ्गाररस ही सर्व श्रेष्ठ है। रसत्व के विकाश में श्रीकृष्ण मूर्तिमान शृङ्गाररस-रूप में विराजित हैं। श्रीकृष्ण के शृङ्गार-रसराज-मूर्तित्व का विकाश एवं सार्थकता श्रीराधा-प्रेम से ही है।

प्रेमतत्व एवं राधातत्व—

अब रायरामानन्द ने प्रेमतत्व एवं राधातत्व के सम्बन्ध में कहना आरम्भ किया। जैसे श्रीकृष्ण-तत्व एवं रसतत्व स्वरूपतः एक ही वस्तु है, वैसे श्रीराधा-तत्व एवं प्रेम-तत्व एक ही वस्तु है। श्रीकृष्ण की अनन्त-शक्तियों में सर्वशक्तिगरीयसी है—ह्लादिनी-आनन्दस्वरूपा-आनन्ददायिका-शक्ति। उस ह्लादिनी के सार अथवा घनीभूत अवस्था का नाम है प्रेम, अतः प्रेम परम आस्वाद्य है। ह्लादिनी का यह आनन्द आस्वाद्यत्व चिदानन्द है, तथा चिन्मय एवं परम आस्वाद्य होने से यह भी रसस्वरूप है, इसलिये प्रेम का और एक नाम है "आनन्द—चिन्मयरस" प्रेमचिद्वस्तु होने से स्वप्रकाश है, इसलिये वह अपने को प्रकाश कर सकता है तथा अपर को भी प्रकाश कर सकता है। अपने को स्वयं आस्वादन कर सकता है, दूसरे के मन में भी आस्वादन की वासना जागृत कर सकता है एवं दूसरों के द्वारा अपने को आस्वादन भी करा सकता है। यह है प्रेम का साधारण तत्व। प्रेम के परम-सार को या चरम गाढ़ताप्राप्त प्रेम को "महाभाव" कहते हैं। यह महाभाव समस्त व्रजदेवियों में ही नित्य विराजित है। महाभाव के भी चरमतम विकाश—गाढ़ता की चरमतम पराकाष्ठा का नाम है—"मादनाख्य महाभाव।" वह मादनाख्य-महाभाव श्रीराधा के सिवाय और कहीं भी नहीं है। आस्वादन वासना उत्पन्न करके आत्माराम-स्वराट-पूर्णतमतत्व-परब्रह्म-स्वयं-भगवान् श्रीकृष्ण में भी ममता उत्पन्न करने में समर्थ होने के कारण उसे "मादन" कहा गया है। यही मादन शब्द ही मादन-भाववती श्रीराधा के प्रेम की असाधारण महिमा को सूचित करता है। यह मादन ही प्रेमतत्व का चरमतम विकाश है।

श्रीराधा मादनाख्य महाभाव-स्वरूपा हैं। महाभाव की मूर्तविग्रह एवं महाभाव की अधिष्ठात्री भी हैं। इनका स्वरूप ही महाभाव है। भगवान् एवं भगवान् का विग्रह जैसे अभिन्न वस्तु है, वैसे महाभाव एवं श्रीराधा—दोनों एक एवं अभिन्न वस्तु है। महाभाव ही श्रीराधा का विग्रह है। श्रीकृष्ण जैसे आनन्दघन हैं, श्रीराधा भी इसी प्रकार प्रेमघन हैं। श्रीराधा के देहेन्द्रियादि सब कुछ घनीभूत महाभाव द्वारा ही गठित हैं—महाभाव के साथ तादात्म्य प्राप्त नहीं—महाभाव की स्वरूपता-प्राप्त नहीं; किन्तु महाभाव ही महाभाव द्वारा गठित है। महाभावस्वरूपा श्रीराधा श्रीकृष्ण को कान्तारस की अशेष-वैचित्री आस्वादन कराने के लिये स्वयं ही ललित आदि सखीरूप में प्रकटित हैं। श्रीकृष्ण जैसे स्वयं भगवान् हैं, श्रीराधा भी वैसे स्वयं-कान्ताप्रेम हैं। रसवैचित्री आस्वादन के निमित्त श्रीकृष्ण जैसे अनन्त भगवत्-स्वरूपों में आत्मप्रकट करते हैं, श्रीकृष्ण को अनन्त कान्तारस-वैचित्री आस्वादन कराने के लिये श्रीराधा भी उसी प्रकार अनन्तकान्तारूप में आत्मप्रकट करती हैं। श्रीकृष्ण जैसे अखिल-रसामृत-सिन्धु हैं, श्रीराधा भी उसी प्रकार अखण्ड-रसवल्लभा हैं। श्रीराधा स्वयं प्रेमस्वरूपा हैं, इसलिये उनके प्रेम की महिमा भी असाधारण है।

इतना सुनकर श्रीमन्महाप्रभु ने रायरामानन्द से कहा—"रामानन्द ! अखण्डरसवल्लभा महाभावविग्रहा स्वयं-कान्ताप्रेमस्वरूपा श्रीराधा के साथ अखिल-रसामृतवारिधि शृङ्गार-रसराजविग्रह साक्षात् मन्मथ-मदन श्रीकृष्ण का जो विलास है, जिसमें श्रीराधा-प्रेम महिमा का अपूर्व वैशिष्ट्य अभिव्यक्त होता है, उस विलास-महत्व को आपसे सुनना चाहता हूं।" यह सुन कर राय ने संक्षेप में "विलास–महत्व" का भी वर्णन किया। (श्रीचैतन्य-चरितामृत मध्य-खण्ड ८ परिच्छेद द्रष्टव्य)। इतने पर भी श्रीमन्महाप्रभु के कौतूहल की निवृत्ति न हुई, उन्होंने कुछ और आगे जानना चाहा। यह जानकर राय ने कहा—"हे प्रभु ! मेरे मुख से कृपा करके आपने जो कुछ प्रकाश कराया है, उसके आगे मेरी बुद्धि की गति नहीं है। श्रीराधाकृष्ण के "प्रेम-विलास-विवर्त के सम्बन्ध में आपकी कृपा से मुझे सामान्य जो कुछ अनुभव हुआ है, जिसे सुनकर आपको सुख होगा अथवा नहीं, यह भी मैं नहीं जानता; मैं अपने रचित एक गीत द्वारा उसे व्यक्त करता हूँ।" (श्रीचैतन्य चरितामृत मध्य–खण्ड ८ परिच्छेद द्रष्टव्य) इतना कह कर राय ने वह गीत सुनाया।

'विवर्त' शब्द का अर्थ है—परिपक्व अवस्था एवं विपरीत। दोनों ही अर्थ ग्रहण किये जाते हैं। परिपक्व अवस्था का फल है— वैपरीत्य। प्रेम की चरम परिपक्व अवस्था में पुनः पुनः मिलने पर भी-मिलनवासना की अतृप्ति के कारण मिलने की जो बलवती उत्कण्ठा है एवं उसके फलस्वरूप मिलन में भी जो स्वप्नवत प्रतोती है तथा नायक-नायिका में जो आत्म-विस्मृति एवं वैपरीत्य-ज्ञान उत्पन्न होते हैं, वे समस्त प्रेमविलास-विवर्त के परिचायक हैं।

रायरामानन्द रचित "न सो रमण न हाम रमणि" इस गीत को सुनकर श्रीमन्महाप्रभु ने प्रेमोल्लास में आकर अपने हाथों से रायरामानन्द के मुख को आच्छादित कर दिया और कहने लगे— "रामानन्द ! साध्य-वस्तु की अवधि यही है।" प्रेमविलास-विवर्त में श्रीराधा-प्रेम की अद्भुत महिमा का जो परिचय श्रीमन्महाप्रभु को मिला, उससे बढ़कर साध्य-वस्तु की कल्पना भी कोई नहीं कर सकता। अतः श्रीमन्महाप्रभु ने इसे ही चरमतम साध्य-वस्तु कहा।

साधन—

इसके बाद प्रभु ने साधन के सम्बन्ध में प्रश्न किया—"रामानन्द ! साधन के बिना साध्य-वस्तु कोई नहीं पा सकता। अतः कृपया इस साध्य-वस्तु को प्राप्त करने के उपाय को भी कहिये।"—श्रीमन्महाप्रभु ने जो साधन का प्रश्न उठाया, उसका सम्बन्ध जीव से है। जिस श्रीराधा-प्रेम को प्रभु ने साध्य की अवधि कहा है। वह नित्यसिद्ध है तथा अनादिकाल से श्रीराधा में ही विद्यमान है, जो उनके किसी साधन का फल नहीं है। श्रीराधा-प्रेम साध्य शिरोमणि होने पर भी साधन प्रभाव से कोई भी उसको प्राप्त नहीं कर सकता। और और भगवत् परिकरों की तो बात ही दूर है, अन्यान्य ब्रजदेवियों के लिये भी यह दुर्लभ है, जीव के लिये तो कहना ही क्या ?

जीव श्रीकृष्ण का दास है। दास की सेवा सदा आनुगत्यमयी है। श्रीराधा-प्रेम की आनुगत्यमयी सेवा को जीव प्राप्त कर सकता है। किस

साधन के द्वारा जीव साध्य-वस्तु-अवधिरूप श्रीराधा-प्रेम की आनुगत्यमयी सेवा प्राप्त कर सकता है?—प्रभु के साधन विषयक प्रश्न का यही तात्पर्य है।

श्रीराधा-प्रेम का विकाश है—लीला में। श्रीराधाप्रेम की आनुगत्यमयी सेवा का अवकाश भी लीला में ही है। किन्तु श्रीराधा-कृष्ण की लीला में अन्य किसी का अधिकार नहीं है। एक मात्र सखीवृन्द की कृपा से ही उस लीला में सेवा प्राप्ति का सौभाग्य मिल सकता है। अतः सखी—भाव में सखीगण के आनुगत्य में ही श्रीराधा-कृष्ण-कुञ्जसेवारूप साध्य की प्राप्ति हो सकती है; अन्यथा नहीं। सखी–भाव का तात्पर्य—'मैं श्रीराधा की किङ्करीरूपा एक गोपकिशोरी हूँ' इस प्रकार के भाव से है। किङ्करी शब्द से गौरव बुद्धि के द्वारा सेवा का सङ्कोच होना अभिप्रेत नहीं है। किन्तु यहाँ सम्पूर्णतया सङ्कोच का अभाव ही ग्राह्य है। सखी-भाव की यही व्यञ्जना है। इसको रागानुगा-भजन कहते हैं।

श्रीराधा-प्रेम (कान्ताभाव) की आनुगत्यमयी सेवा ही जीव के लिये साध्यवस्तु की अवधि है। इसलिये सब इसी सेवा प्राप्ति के लिते लुब्ध हों, यह बात नहीं है। भिन्न भिन्न जीवों की भिन्न भिन्न रुचि है। इसलिये रुचि भेद से दास्यभाव, सख्यभाव एवं वात्सल्यभाव की आनुगत्यमयी सेवा भी विद्यमान है। जो जिस भाव की सेवा के प्रति लुब्ध होते हैं, श्रीकृष्ण के उसी भाव के परिकरों के आनुगत्य में भजन करते हैं। जो रागानुगा भजन ही कहलाता है। ब्रज के किसी भी भाव के भजन में ऐश्वर्य ज्ञान नहीं है। ऐश्वर्य ज्ञान के रहने पर ब्रजभाव की सेवा की प्राप्ति नहीं हो सकती। निज निज भावानुकूल ब्रजपरिकरों का आनुगत्य स्वीकार किये बिना यथार्थ में ब्रजभाव का भजन भी सार्थक नहीं हो सकता।

श्रीगौर-तत्व*

श्रीकृष्णरूप से तथा श्रीगौरसुन्दररूप से स्वयंभगवान् की लीला है—

यह पहले कहा जा चुका है कि रसिकशेखर स्वयंभगवान् श्रीकृष्ण-चन्द्र स्वयंरूप से, असंख्य भगवत् स्वरूप-रूपों से एवं असंख्य परिकररूपों से लीलारस का आस्वादन करते हैं। स्वयंरूप से वे दो स्वरूपों में लीलारस का आस्वादन करते हैं। वृन्दावन में ब्रजेन्द्रनन्दनरूप से एवं नवद्वीप में शचीनन्दनरूप से। ये दोनों धाम एवं दोनों लीलायें नित्य हैं।

अखिलरसामृतवारिधि स्वयंभगवान् अनन्त रसों के आश्रय एवं विषय हैं, किन्तु उनके एक प्रकाश में (स्वरूप में) आश्रयत्व एवं विषयत्व का समान विकाश नहीं होता—यह पार्थक्य केवल रसवैचित्री की पुष्टि करने के लिये है। प्रेम का चरमतम विकाश–मादनाख्य-महाभाव एकमात्र श्रीराधा में वर्तमान है; श्रीराधा ही इस प्रेम की एकमात्र आश्रय हैं और श्रीकृष्ण इस प्रेम के केवलमात्र विषय हैं—आश्रय नहीं। इससे स्पष्ट है कि स्वयंभगवान् के ब्रजेन्द्रनन्दनस्वरूप में विषयत्व की प्रधानता है और उनके शचीनन्दनस्वरूप में आश्रयत्व की प्रधानता है, अथवा इस स्वरूप में वे श्रीराधा के मादनाख्य महाभाव के भी आश्रय हैं।

---

*मण्डल के द्वारा "श्रीश्रीगौरतत्व" एक पुस्तक के रूप में पृथक् प्रकाशित हो चुका है, जिसमें चरितांश एवं तत्वांश सम्मिलित हैं। तत्वांश पर गवेषणापूर्ण विषद आलोचना की गई है। पाठकगण उसे अवश्य देखें।

रस का आस्वादन विषयरूप से भी होता है और आश्रयरूप से भी। दोनों रूपों से आस्वादन करने में ही लीलारसास्वादन की पूर्णता है—रसिकशेखरत्व की भी पूर्णता है। व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णरूप से व्रज में जो लीलारस आस्वादन करते हैं, उसमें उनका विषयरूप से आस्वादन करना ही प्रधान है और शचीनन्दन श्रीगौरसुन्दररूप से नवद्वीप में वे जो लीलारस आस्वादन करते हैं, उसमें उनके आश्रयस्वरूपत्व की प्रधानता है। अतएव व्रजलीला एवं नवद्वीपलीला—दोनों लीलाओं के समवाये में ही स्वयंभगवान् की लीला की पूर्णता है; एवं दोनों धामों के लीलारसास्वादन में ही रसास्वादन की पूर्णता है तथा उनके रसिक-शेखरत्व का भी पूर्णतम विकाश है। स्वयंभगवान् इन दोनों स्वरूपों से प्रकट एवं अप्रकट—दोनों धामों में लीला करते हैं। कृपा करके जब वे ब्रह्माण्ड में लीला प्रकट करते हैं, तब ही जगत् के जीवों को उनके लीलातत्वादि को कुछ कुछ जानने का सुयोग प्राप्त होता है।

स्वयंभगवान् की लीला प्रकट होने का साधारण नियम यह है कि ब्रह्मा के एक दिन में एक बार स्वयंभगवान् अवतीर्ण होकर प्रकट विहार करते हैं। ब्रह्मा के एक दिन के अन्तर्गत जिस एक द्वापर में स्वयंभगवान् श्रीकृष्णचन्द्र अपनी व्रजलीला प्रकटित करते हैं, उस द्वापर के परवर्ती कलियुग में ही वे फिर श्रीगौरसुन्दररूप से नवद्वीप लीला प्रकटित करते हैं—यह बात श्रीमद्भागवत् से स्पष्ट है। श्रीगर्गाचार्य जी श्रीकृष्ण के नामकरण के समय श्रीनन्दमहाराज से कह रहे हैं :—(श्रीभा० १०-८-१३)

आसन् वर्णास्त्रयो ह्यस्य गृह्णतोऽनुयुगं तनूः।
शुक्लो रक्तस्तथा पीत इदानीं कृष्णतां गतः॥

"हे व्रजराज! युग युग में श्रीमूर्ति प्रगट करने वाले तुम्हारे इस पुत्र के शुक्ल, रक्त तथा पीत ये तीन वर्ण हुए थे। अब इस द्वापर में यह कृष्ण वर्ण को प्राप्त हुआ है।" तात्पर्य यह है कि श्रीनन्दनन्दन भिन्न भिन्न युगों में भिन्न भिन्न रूप धारण करते हैं, अर्थात् चार युगों में इनके चार वर्ण हैं। इस द्वापर में उनका कृष्णवर्ण है। इससे पहले ये शुक्ल, रक्त तथा पीत—तीन वर्ण को धारण कर चुके हैं, शुक्ल-वर्ण सत्ययुग के युगावतार का है। रक्तवर्ण त्रेतायुग के युगावतार का है। किन्तु पीतवर्ण कब हुआ?—

जिस द्वापर में भगवान् श्रीकृष्ण अवतीर्ण हुये, उससे पहले उस चतुर्युगी के सत्य एवं त्रेतायुग तो बीत चुके थे—किन्तु कलियुग अभी बाकी रहता था। नाम-करण के समय वह कलि आरम्भ भी नहीं हुआ था। भूतकाल वाची 'आसन्' क्रियापद से आगामी-भविष्यत्काल तो सुचित हो ही नहीं सकता। अतः जाना जाता है कि गर्गाचार्य ने पहली किसी चतुर्युगी के कलियुग की बात कही, जिसमें श्रीनन्दनन्दन पीतवर्ण से प्रकट हो चुके थे।

प्रश्न हो सकता है कि पीतवर्ण–अवतार जो हो चुका था, क्या वह भी शुक्ल, रक्तादि की भाँति युगावतारूप था, अथवा किसी अन्यरूप का? —चतुर्युग के साधारण युगावतारों के सम्बन्ध में 'श्रीलघुभागवतामृत में लिखा है :—

कथ्यते वर्णनामाभ्यां शुक्लः सत्ययुगे हरिः।
रक्तः श्यामः क्रमात् कृष्णस्त्रेतायां द्वापरेकलौ ॥

(युगावतार प्रकरण–२५)

युगावतारों का जो नाम होता है—वर्ण भी वही होता है। तात्पर्य यह है कि भगवान् हरि का वर्ण तथा नाम सत्ययुग में शुक्ल है, त्रेता में रक्त, द्वापर में श्याम एवं कलियुग में कृष्ण। श्रीहरिवंश के मत में भी कलि का युगावतार कृष्ण है—"**कृष्ण कलियुगे विभुः**" द्वापर के युगावतार के वर्ण के सम्बन्ध में आचार्यों ने श्यामवर्ण का अर्थ शुकपत्राभ—हरित बतलाया है। शब्दकलपद्रुम में भी 'श्याम' शब्द का एक अर्थ हरित वर्ण कहा गया है।

यहां यह स्मरण रखना चाहिये कि युगावतारों के वर्णों के सम्बन्ध में जो श्याम एवं कृष्ण वर्णों का उल्लेख किया गया है, स्वयं भगवान् ब्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण के वर्ण से उनका कोई तात्पर्य नहीं है। कारण कि युगावतार तो स्वयं भगवान् के अंशावतार हैं—समस्त अवतार ही उनके अंश हैं। साक्षाद्भाव में मन्वन्तरावतार ही युगावताररूप में प्रकट होते हैं। तात्पर्य यह है कि द्वापर के साधारण युगावतार का नाम श्याम एवं उसका वर्ण शुकपत्राभ श्याम (हरित) है तथा कलि के साधारण युगावतार का नाम कृष्ण एवं वर्ण भी कृष्ण है। कलि के युगावतार का पीत वर्ण है—

ऐसा कहीं भी उल्लेख नहीं। अतः यह सिद्ध होता है कि पूर्ववर्ती किसी एक कलि में जो भगवान् पीतवर्ण से अवतीर्ण हुये थे वे साधारण युगावतार नहीं थे।

तो फिर यह पीतवर्ण कौन सा अवतार है?—इस का उत्तर श्लोक के 'तथा' शब्द की व्यञ्जना से मिलता है। 'तथा' शब्द जहां रहता है, जानना चहिये—उससे पूर्व वहां 'यथा' शब्द भी है। श्लोक पढ़ने से जाना जाता है कि यथा शब्द का सम्बन्ध 'कृष्णतां गतः' के साथ है—'इदानीं यथा कृष्णतां गतः तथा' इत्यादि। अब देखना है कि 'तथा' शब्द का सम्बन्ध 'शुक्ल' 'रक्त' एवं 'पीत' इनमें किसके साथ है? सिद्धान्त यह है कि 'यथा' शब्द जिस धर्म-विशिष्ट वस्तु से सम्बन्ध रखता हो 'तथा' शब्द भी तद्रूप धर्म-विशिष्ट के साथ सम्बन्ध रखता है, नहीं तो इन दोनों की कोई सार्थकता नहीं रहती। 'यथा' शब्द का सम्बन्ध 'कृष्णतां गतः' के साथ है, जिससे इस अवतार की स्वयं भगवत्ता प्रतिपादित हो रही है। 'शुक्ल' एवं 'रक्त' इन दोनों शब्दों के साथ 'तथा' शब्द का सम्बन्ध नहीं हो सकता, कारण कि यह दोनों शब्द युगावतार वाचक होने से स्वयं भगवत्ता के समधर्मविशिष्ट नहीं हो सकते। 'पीत' शब्द युगावतार वाचक नहीं है, यह पहले कहा जा चुका है। अतः 'पीत' शब्द के साथ निश्चय ही 'तथा' शब्द का सम्बन्ध है। अब अन्वय इस रूप में होगा कि 'इदानीं यथा कृष्णतां गतः तथा पीतः' अर्थात् इस द्वापर में जैसे श्रीभगवान् ने स्वयं रूप में अवतीर्ण होकर कृष्णता को प्राप्त किया है, पुर्ववर्ती किसी एक चतुर्युगी के कलि में वैसे ही श्रीभगवान् ने स्वयं रूप में अवतीर्ण होकर पीत वर्ण को ग्रहण किया था। अतः इस आलोचना से जाना जाता है कि वर्तमान चतूर्युगी के गत-द्वापर में जो स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण नन्दराज के घर अवतीर्ण हुये थे वही पूर्ववर्ती किसी एक चतुर्युगी के कलि में पीतवर्ण धारण करके स्वयं रूप से अवतीर्ण हुये थे। यही पीतवर्ण स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ही श्रीमन्महाप्रभु—श्रीगौर-कृष्ण हैं।

वर्तमान कलि के उपास्य-अवतार श्रीगौरसुन्दर हैं—

स्वयं भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र गत-द्वापर में इस ब्राह्माण्ड में अवतीर्ण हुये थे एवं उसके परवर्ती कलि में ही अर्थात् वर्त्तमान कलियुग में ही वे श्री

श्रीगौरसुन्दर रूप से अवतीर्ण हुये हैं। कारण कि स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण चन्द्र की ब्रजलीला के साथ स्वयं भगवान् श्रीश्रीगौरसुन्दर की नवद्वीपलीला का एक घनिष्ट सम्बन्ध है; अर्थात् स्वयं भगवान् की लीला की पूर्णता ही इन दोनों स्वरूपों की लीलाओं के समवाय में है। तात्पर्य यह है कि ब्रजेन्द्र-नन्दन श्रीकृष्ण चन्द्र ने मुख्यत: दो उद्देश्यों को लेकर अपनी ब्रजलीला को प्रकट किया था—ऐसा समस्त वैष्णवाचार्यों का मत है। प्रथमत:—प्रेम-रसनिर्य्यास-आस्वादन। श्रीकृष्ण रसिक शेखर हैं। रसिकशेखर होने से अनन्त-रसवैचित्री के आस्वादन के लिये उनकी वासना होना स्वाभाविक है। अप्रकट-लीला में (अप्रकट-ब्रज में) वे नित्यकिशोर रूप से दास्य, सख्य, वात्सल्य एवं मधुररस में जितनी वैचित्री का सम्भवना है, वह प्राय: समस्त आस्वादन करते रहते हैं। किन्तु बाल्यावस्था एवं पौगण्डावस्था से इन समस्त रसों में जो वैचित्री की सम्भावना है, अप्रकट लीला में नित्य किशोरत्व होने के कारण उस समस्त रस-वैचित्री के आस्वादन की सम्भावना नहीं हैं। प्रकट-लीलामें जन्मलीला के व्यपदेश से वे नरशिशुवत् अवतीर्ण होकर क्रमश: बाल्य-पौगण्ड के दस्य-सख्य-वात्सल्यरस की समस्त रसवैचित्री का आस्वादन करते हैं, जिसकी अप्रकट-लीला में सम्भावना नहीं है और प्रकट-लीला में मधुरभाव की परकीया-भावात्मिका वैचित्री का भी आस्वदन करते हैं, जिसकी अप्रकट-लीला में सम्भावना नहीं है। इस समस्त रसवैचित्री का आस्वादन करने के लिये एवं उस समस्त रसवैचित्री की उत्सारिणी लीलाओं में अपने परिकर-भक्तवर्गों के प्रेमरस-निर्य्यास का आस्वादन करने के लिये ही श्रीकृष्ण ने अपनी ब्रज-लीला को प्रगटित किया। प्रकट-लीला में भी वे अपने अप्रकट-लीला के परिकरों को साथ लेकर अवतीर्ण होते हैं। इस रीति से रसिक शेखर भगवान् का भक्तप्रेम-रसनिर्य्यास-अस्वादन करना उनकी प्रकट-लीला का एक मुख्य उद्देश्य था।

द्वितीयत:—रागात्मिका भक्ति-मार्ग का प्रचार। श्रीभगवान् परम-करुण हैं। मायावद्ध जीव के प्रति भगवान् की करुणा का पूर्ण प्रकाश है—जीवों के सांसारिक सुख-स्वच्छन्द्य-विधान में नहीं, मोक्ष द्वारा उनके जन्म-मृत्यु की विरति सम्पादन में नहीं, परन्तु, कोटि मन्मथ-मनमथनकारी, कोटि ब्रह्माण्ड-परव्योमस्थ भगवत् स्वरूप–चित्ताकर्षक आत्मपर्य्यंन्त–सर्व-

चित्तहर अपने असमोर्द्ध माधुर्य के आस्वादन प्राप्त करने की योग्यता-विधान में ही श्रीभगवान् की करुणा का पूर्ण विकाश है। उस योग्यता की प्राप्ति हो सकती है केवल-रागानुगा मार्ग में। उस रागानुगा मार्ग का भजन-प्रवर्त्तन श्रीकृष्ण की प्रकट-ब्रजलीला का आनुषङ्गिक (द्वितीय) मुख्य कारण है। इसी लिये ही उन्होंने ब्रजमें अवतीर्ण होकर अपने परिकरवृन्दोंके साथ ऐसी समस्त लीलाएं कीं कि जिनकी कथा सुनकर एवं उन समस्त लीलाओं के व्यपदेश से भक्तगणों के आस्वादन के लिये प्रवाहित आनन्द-रस-धाराओं की कथा को सुनकर संसार-सुस को तुच्छतम अनुभव करते हुये मायाबद्ध जीव भगवान के भजन के लिये प्रलुब्ध हो सकता है। ऐसी परम लोभनीय वस्तु को प्रगटित करके, वह कैसे प्राप्त की जा सकती है—'मन्मना भव मद्भक्तः' —इत्यादि वाक्यों द्वारा श्रीअर्जुन को उपलक्ष्य करते हुये उस रागानुगा-भक्ति का उपदेश भी भगवान ने दिया।

स्वयंभगवान् श्रीकृष्णचन्द्र ने ब्रज में अवतीर्ण होकर अपने परिकरों के प्रेम रस-निर्य्यास का अशेष-विशेष आस्वादन किया और श्रीराधिकादि अपनी कान्तावर्गों द्वारा परिवेशित अपूर्व आस्वादन-चमत्कारितम रस-वैचित्र्य का आस्वादन करके वे ऐसे मुग्ध हुये कि उनके निकट उन्होंने अपने को अपरिशोध्य ऋणी में ऋण ही स्वीकार किया—न पारयेऽहं-इत्यादि। इतने पर भी रसिकशेखर की रसास्वादन-वासना की तृप्ति तो न हो सकी, बल्कि परिकरों के प्रेमरस-निर्य्यास के आस्वादन के उपलक्ष्य में और एक अपूर्व वस्तु के आस्वादन की दुर्दमनीया वासना जाग उठी। वह थी—उनके स्व-माधुर्यास्वादन की वासना, जिसके तीन रूप थे। वही ही श्रीश्रीगौरसुन्दर के अवतार का अन्तरङ्ग हेतु है। तात्पर्य यह है कि श्रीकृष्णचन्द्र की ब्रज-लीला का प्रथम मुख्य उद्देश्य—प्रेमरस-निर्य्यास अपूर्ण ही रहा।

द्वितीय उद्देश्य—रागानुगाभक्ति-प्रचार के विषय में श्रीकृष्णचन्द ने दो कार्य किये। प्रथमतः—उन्होंने लीलाविलास प्रगटित किया—जिस की कथा सुनकर जीवों को भजन में लोभ उत्पन्न हो सके। श्रीकृष्णचन्द्र की ब्रजलीला सर्वसाधारण के लिये अगोचर है, वह शास्त्रादि में वर्णित है—जिसे सुनकर जीव के चित्त में तद्रूप भजन की लालसा उत्पन्न हो सकती है—इस प्रकार की सम्भावना मात्र का सुयोग श्रीभगवान् ने कृपा-

पूर्वक प्रदान किया, किन्तु मायाबद्ध जीव को उस परमलोभनीय वस्तु को (रागानुगाभक्ति को) साक्षाद्भाव में नहीं दिखाया। जब तक किसी धर्म का आचरण स्वयं न किया जाय, उसकी शिक्षा भी सम्यक् प्रकार से नहीं दी जा सकती। अतः इस अंश में भी व्रजलीला में अपूर्णता रह गई। इस रागानुगा-भजन के सम्बन्ध में श्रीअर्जुन को लक्ष्य करके भगवान् केवल उपदेश मात्र ही दे गये हैं—"मन्मना भव मद्भक्तो" इत्यादि। किन्तु उस भजन का कोई आदर्श उन्होंने नहीं दिखाया। इस अंश में भी अपूर्णता रह गई।

इस समस्त अपूर्णता को पूर्ण करने का सङ्कल्प लेकर स्वयंभगवान् ने श्रीगौरसुन्दररूप से व्रजलीला के परवर्ती—वर्तमान कलि में ही नवद्वीप लीला प्रगटित की—अथवा स्वयंभगवान् की स्वरूपशक्ति-ह्लादिनीशक्ति जिसकी आराधना उनकी वाञ्छापूर्ति करना ही है, उस महाभावस्वरूपा श्रीराधा ने अपने प्राणप्रीतम श्याम-सुन्दर को अतृप्त देखकर, कुछ भी विलम्ब न करते हुए व्रजलीला के बाद—वर्तमान कलि में ही उनको श्री-गौरसुन्दररूप में शृङ्गारित कर दिया। इसलिये नवद्वीप लीला को व्रज की परिशिष्ट-लीला भी कहा जाता है।

पुराण शिरोमणि श्रीमद्भागवत् में भी चतुर्युगों के उपास्य-अवतारों तथा उनके पूजोपकरणों का वर्णन करते हुए श्रीकरभाजन मुनि ने श्रीनिमि महाराज को वैवस्वत मन्वन्तरीय अठाईसवें कलि के अर्थात् वर्तमान कलि के ही उपास्य अवतार के सम्बन्ध में यही कहा है :— (श्री भा० ११-५-३२)

कृष्णवर्णं त्विषाकृष्णं साङ्गोपाङ्गास्त्रपार्षदम्।
यज्ञैः सङ्कीर्तनप्रायैर्यजन्ति हि सुमेधसः॥

"हे राजन्! कलियुग में लोग भगवान् की जिस रूप से पूजा स्तुति करते हैं उसे श्रवण करो—सुबुद्धि व्यक्तिगण संकीर्त्तन-प्रधान पूजोपकरण द्वारा अङ्ग व उपाङ्गरूप अस्त्र एवं पार्षदगणों के सहित अकृष्ण-कान्ति-विशिष्ट कृष्णवर्ण भगवान् की अर्च्चना करते हैं। तात्पर्य यह है कि जो कृष्ण का वर्णन करते हैं अथवा जिनका वर्ण कृष्ण है किन्तु जिनकी कान्ति अकृष्ण है और अङ्ग अर्थात् हस्तपादादि ही जिनके अस्त्र हैं तथा पार्षद

ही जिनके उपाङ्ग हैं, कलि में उन भगवान् की सुबुद्ध व्यक्तिगण सङ्कीर्तन-प्रधान पूजोपकरण द्वारा अर्च्चना करते हैं। अकृष्ण-शब्द से क्या तात्पर्य है?—'आसन् वर्णा' श्लोक की आलोचना में पहले कहा जा चुका है कि कलि के साधारण युगावतार का वर्ण कृष्ण है, अथवा किसी एक विशेष कलि में भगवान् पीतवर्ण से भी अवतीर्ण होते हैं। इन दो वर्णों के व्यतीत तीसरा वर्ण तो कलि के अवतार का शास्त्रों में कहीं वर्णन नहीं किया गया है। अतः अकृष्ण-शब्द से पीतवर्ण ही सूचित होता है।

यहां यह भी जान लेना आवश्यक है कि इस श्लोक में कलि के अवतार की केवल कान्ति का वर्णन किया गया है। पूर्ववर्ती कृष्ण वर्णम्-शब्द से यदि उनके स्वभाविक वर्ण को ग्रहण किया जाय एवं वह वर्ण यदि अनाच्छादित हो, तो पृथक्भाव में कान्ति के वर्ण को उल्लेख करने का कोई प्रयोजन नहीं है, क्यों कि अनाच्छादित स्वभाविकरूप का वर्ण ही उस की कान्तिका वर्ण होता है। अतः यहां इस अवतार की कान्ति के सम्बन्ध में विशेष उल्लेख द्वारा यह भी सूचित होता है कि ये "छन्न अवतार" है अर्थात् इन का स्वाभाविकरूप अन्य रूप द्वारा आच्छादित है, और उस आच्छादक-रूप की वर्ण विशिष्ट कान्ति ही इस अवतार की कान्ति है—जैसे कि श्रीप्रह्लाद ने भी श्रीभगवान् नृसिंहदेव की स्तुति करते हुये कहा है—"छन्नः कलौ" (श्रीमद्भा० ७-९-३८) अर्थात् कलियुगमें भगवान् का निजवर्ण अन्य वर्ण द्वारा आच्छादित होता है। श्रीपाद जीवगोस्वामी ने भी 'तत्वसन्दर्भ-२' में कहा है:—

अन्तः कृष्णं बहिर्गौरं दर्शिताङ्गादिवैभवम्।
कलौ सङ्कीर्तनाद्यैः स्मः कृष्णचैतन्यमाश्रिताः॥

"जो भीतर कृष्ण वर्ण हैं तथा बाहिर गौरवर्ण (पीत) हैं एवं जिन्हों ने अङ्गादि (श्रीनित्यानन्दादि) द्वारा अपनी महिमा प्रकाशित की है, उन्हीं श्रीकृष्णचैतन्य की हम कलियुग में सङ्कीर्तन प्रधान पूजादि द्वारा (अर्च्चना करके) शरण ग्रहण करते हैं" उपर्युक्त आलोचना से स्पष्ट है कि श्री श्री-गौरसुन्दर ही वर्तमान कलि के उपास्य अवतार हैं। श्रीकृष्ण ही अन्तः कृष्ण–बहिर्गौर होकर वर्तमान कलि के उपास्यरूप में अवतीर्ण होंगे—यह बात उप-पुराण के एक श्लोक से भी सिद्ध होती है—स्वयंभगवान् श्रीकृष्ण ने श्रीव्यासदेव से कहा है:—

अहमेव क्वचिद् ब्रह्मन् संन्यासाश्रममाश्रितः ।
हरिभक्तिं ग्राहयामि कलौ पापहतान्नरान् ॥

"हे व्यासदेव ! मैं ही किसी एक कलि में संन्यासाश्रम अवलम्बन करके पापहत-मनुष्यों को हरिभक्ति ग्रहण कराता हूं।" श्रीमद्भागवत् के साथ समन्वय करते हुए अर्थ करने पर इस श्लोक के 'क्वचित् कलौ' वाक्य का वर्तमान कलि से ही अभिप्राय है। स्वयंभगवान् श्रीकृष्णचन्द्र के किसी एक कलि में उपर्युक्त 'संन्यासरूप' का एवं 'कृष्णवर्णं त्विषाकृष्णम्' का समर्थन श्रीमहाभारत के अनुशासनपर्व्व में श्रीविष्णुसहस्रनामस्तोत्र से भी पाया जाता है। यथा :—

सुवर्णवर्णः हेमाङ्गो वराङ्गश्चन्दनाङ्गदी ।
संन्यासकृच्छमः शान्तो निष्ठाशान्तिपरायणः ॥

इस श्लोक में श्रीभगवान् के श्रीनामों का ही वर्णन है। उत्तम वर्ण-द्वय "कृष्ण" का वर्णन करने से उनका नाम सुवर्णवर्ण है, स्वर्ण (सोने) की भांति उज्ज्वल (पीतवर्ण) अङ्ग होने से उन्हें 'हेमाङ्ग' कहते हैं। श्रेष्ठ अङ्ग होने से-'वराङ्ग' एवं चन्दन के अङ्गद धारण करने से उन्हें—'चन्दनाङ्गदी कहते हैं। संन्यास-आश्रम ग्रहण करने से उनका नाम—'संन्यास-कृत्' है। भगवद् निष्ठाबुद्धि होने से उन्हें—'शम', अचञ्चलचित्त होने से उन्हें—'शान्त' तथा श्रीकृष्ण-भक्तिनिष्ठ एवं निवृत्ति-परायण होने से उन्हें—'निष्ठाशान्ति परायण' कहते हैं। इस प्रकार अनेक शास्त्र-प्रमाणों से यह बात सिद्ध है कि स्वयंभगवान् ही श्रीश्रीगौरसुन्दररूप से वर्तमान कलि के उपास्य अवतार हैं। श्रीचैतन्यचरितामृत में कहा गया है कि :—

अवतार नांहि कहे "आमी अवतार" ।
मुनि सब जानि करे लक्षण विचार ॥

—अवतार अपने मुख से कभी नहीं कहता कि "मैं अवतार हूं" किन्तु विज्ञ-व्यक्तिगण—अनुभवीभक्त ही, जिनसे श्रीभगवान् आत्म-गोपन नहीं कर सकते; लक्षणों द्वारा उन्हें पहिचान लेते हैं। श्रीपाद वासुदेवसार्व-भौम, श्रीपादरूपगोस्वामी, श्रीपादसनातनगोस्वामी आदि उस समय के अनेक विज्ञ-अनुभवी भक्तों ने मुक्तकण्ठ होकर श्रीगौरसुन्दर को स्वयं भगवान्

रूप से वर्तमान-कलि का उपास्य-अवतार घोषित किया है, तथा लाखों भाग्यवान-व्यक्तियों ने उस समय श्रीमन्महाप्रभु के दर्शन मात्र से उन्हें स्वयंभगवान्‌रूप में अनुभव करने का सौभाग्य प्राप्त किया है।

श्रीमन्महाप्रभु के विग्रह का उनके हाथों चार हाथ लम्बा होना, (प्राकृत ब्रह्माण्ड में ब्रह्मा से लेकर मनुष्य पर्यन्त हर एक का शरीर साढ़े तीन हाथ लम्बा होता है) उनमें अत्यद्भुत सुदीप्त-सात्विक-विकारों की अभिव्यक्ति एवं उनका अनेक स्थानों पर आविर्भावरूप से दर्शन देना आदि उनके वर्तमान-कलि के उपास्य-अवतार होने में ज्वलन्त प्रमाण हैं।

प्रेम-दातृत्व का विशेष लक्षण केवल मात्र स्वयंभगवान् श्रीकृष्ण-चन्द्र में ही विद्यमान है। प्रेमदाता श्रीगौरसुन्दर में प्रेम-दातृत्व का विकाश कितना अद्भुत है ?—उन्होंने व्याघ्र-भल्लूक-कूकरादि पर्यन्त को प्रेम-दान किया है, जिसके फलस्वरूप व्याघ्र-भल्लूक-कूकरादि "कृष्ण-कृष्ण" उच्चारण करने लगे एवं उनके शरीरों में अश्रु-कम्प-पुलकादि सात्विक विकार उदय हो आये। व्याघ्र-मृग एक दूसरे के साथ गलकण्ठ होकर नृत्य करने लगे थे। इन समस्त लक्षणों को देखकर—"श्रीमन्महाप्रभु वर्तमान-कलि के उपास्य अवतार हैं", इस विषय में सन्देह होने का कोई भी अवकाश नहीं है। श्रीगौरसुन्दर ही इस कलि के उपास्य अवतार हैं— यह उनके अनेक अलौकिक चरित्रों से स्पष्टतया जाना जा सकता है। श्रीश्रीचैतन्य-भागवत, श्रीश्रीचैतन्यचरितामृत तथा श्रीश्रीचैतन्यचन्द्रोदय आदि ग्रन्थों में उन चरित्रों का विशद वर्णन है, जिनका उल्लेख ग्रन्थ विस्तार भय से यहां नहीं किया गया—जिज्ञासु देख सकते हैं।

श्रीश्रीगौरसुन्दर-अवतार का बहिरङ्ग हेतु—

श्रीपादरूपगोस्वामी ने "विदग्ध-माधव-नाटक" के आदि में आशीर्वादात्मक मङ्गलाचरण में श्रीश्रीगौरसुन्दर-अवतार के बहिरङ्ग कारण का संकेत करते हुए कहा है :—

अनर्पितचरीं चिरात् करुणयावतीर्णः कलौ
समर्पयितुमुन्नतोज्ज्वलरसां स्वभक्तिश्रियम्।

हरिः पुरटसुन्दरद्युतिकदम्बसन्दीपितः
सदा हृदयकन्दरे स्फुरतु वः शचीनन्दनः ॥

—'बहुत काल पर्यन्त पहले जो अर्पित नहीं की गई, ऐसी उन्नत-उज्ज्वलरसमयी अपनी उस भक्ति-सम्पत्ति को दान करने के निमित्त जो कृपापूर्वक कलियुग में अवतीर्ण हुए हैं, तथा जो स्वर्ण से भी अत्यन्त सुन्दरद्युति समूह से समुद्भासित हैं, वे श्रीशचीनन्दन हरि सर्वदा तुम्हारी हृदय-कन्दरा में स्फुरित हों।"

तात्पर्य यह है कि परब्रह्म स्वयंभगवान् श्रीकृष्ण गोलोकधाम में ब्रजपरिकरों के साथ नित्यलींला करते हैं। ब्रह्मा के एक दिन में एक वार स्वयभगवान् श्रीब्रजेन्द्रनन्दन प्राकृत ब्रह्माण्ड में अवतीर्ण होते हैं। सत्य-त्रेता-द्वापर तथा कलियुग-इन चारों युगों के समय को चतुर्युगी अथवा एक दिव्य-युग कहते हैं। इकहत्तर चतुर्युगी के समय का एक मन्वन्तर (४३२००००००० वर्ष) या ब्रह्मा का एक दिन होता है। सातवें वैवस्वत नाम मन्वन्तर की अठाईसवाँ चतुर्युगी के द्वापर के अन्त में ब्रजधाम तथा ब्रजपरिकरों के साथ श्रीकृष्ण का आविर्भाव होता है। ऐश्वर्य-ज्ञान हीन, शुद्धमाधुर्य-भावात्मक अनादि सिद्ध दास्यादि परिकरों के साथ श्रीब्रजेन्द्र-नन्दन श्रीवृन्दावन में रसास्वादन के लिये लीला करते हैं और अपने इच्छानुरूप भावों से विहार करके फिर अपनी प्रकट-लीला को अन्तर्धान कर देते हैं; अर्थात् प्राकृत ब्रह्माण्ड के लिये अगोचर कर देते हैं।

भगवान् परम करुण हैं—पहले ही कहा जा चुका है कि उनकी करुणा का पूर्णतम विकाश जीव को अपना असमोर्द्ध माधुर्य-आस्वादन करने की योग्यता प्रदान करने में है, वह योग्यता केवल मात्र रागानुगा भजन मार्ग द्वारा ही प्राप्त हो सकती है। अतः परमकरुण भगवान् अपनी प्रगट-लीला को अन्तर्धान करने के पश्चात् गोलोक में इस प्रकार का चिन्तन करते हैं—'बहुत काल से अपनी प्रेम-भक्ति अर्थात् ममतामयी—शुद्धमाधुर्यमयीभक्ति का दान मैंने जगत् को नहीं दिया हैं एवं उस प्रेमा-भक्ति के बिना जीवों को मेरी सम्यक् प्राप्ति नहीं हो सकती। वह प्रेमा-भक्ति काल प्रभाव से प्रायः विलुप्त हो चुकी है। चाहे जगत् मेरी वैधी-भक्ति का अनुष्ठान कितना ही क्यों न करता रहे, परन्तु उससे ब्रजभाव

की प्राप्ति नहीं हो सकती तथा ब्रजभाव के बिना ऐश्वर्यज्ञान-हीन प्रेम की प्राप्ति कदाचित् नहीं हो सकती। ऐश्वर्यज्ञान हीन प्रेम के बिना सम्यक् प्रकार से मेरी प्राप्ति असम्भव है; और मुझे प्राप्त किये बिना जीव का यथार्थ कल्याण नहीं हो सकता। वैधीभक्ति से सालोक्यादि मुक्ति प्राप्त करके जीव वैकुण्ठ में जाता है, किन्तु मेरे भक्त मेरी सेवा के बिना और कुछ भी नहीं चाहते।" इस प्रकार की विवेचना करते हुए श्रीभगवान् करुणापूर्वक उस शुद्धमाधुर्यमयीभक्ति सम्पत्ति को दान करने के लिये एवं युगधर्म-नाम संकीर्तनके स्थापन करने केलिये स्वयं भक्त-भाव को अङ्गीकार कर श्रीगौर-सुन्दररूप में अवतीर्ण होते हैं। भगवान् ने श्रीमन्महाप्रभुरूप से स्वयं उस भक्ति का आचरण कर जगत् को उसकी शिक्षा प्रदान की —स्वयं आचरण किये बिना किसी धर्म की शिक्षा भी नहीं दी जा सकती।

युगधर्म नाम-सङ्कीर्तन का स्थापन तो युगावतार द्वारा भी हो सकता था, किन्तु ब्रज की प्रेमभक्ति स्वयंभगवान् के बिना और कौन प्रदान कर सकता है?—अतः स्वयंभगवान् ब्रजपरिकरों ब्रजपरिकरों को लेकर कलि की प्रथम संध्या में—सम्वत् १५४५ में नवद्वीप में श्रीश्रीचैतन्यमहाप्रभुरूप से भक्तरूप में अवतीर्ण हुए।

श्रीश्रीगौरसुन्दर-अवतार का अन्तरङ्ग हेतु—

श्रीपादस्वरूपगोस्वामी ने कड़चा में कहा है :—

> **राधा कृष्णप्रणयविकृतिर्ह्लादिनीशक्तिरस्मा-**
> **देकात्मानावपि भुवि पुरा देहभेदं गतौ तौ।**
> **चैतन्याख्यं प्रकटमधुना तद्द्वयं चैक्यमाप्तं-**
> **राधाभावद्युतिसुवलितं नौमि कृष्णस्वरूपम्॥**

—"श्रीराधा श्रीकृष्ण के प्रणय की विकारस्वरूपा हैं, अर्थात् श्री-कृष्ण-प्रेम की गाढ़तम अवस्था महाभाव की मूर्त-विग्रह हैं। श्रीराधा श्री-कृष्ण की ह्लादिनी शक्ति हैं। अतः शक्ति तथा शक्तिमान के अभेद होने के कारण श्रीराधा तथा श्रीकृष्ण एकात्मा हैं। किन्तु एकात्मा होते हुए भी वे अनादिकाल से श्रीगोलोक में पृथक् पृथक् विग्रह से विहार करते

हैं। अब इस कलियुग में वे दोनों एकत्व को प्राप्त होकर श्रीचैतन्यनाम से प्रकट हुए हैं। ऐसे श्रीराधा-भाव-कान्तियुक्त श्रीकृष्णस्वरूप—श्रीचैतन्य-देव को मैं नमस्कार करता हूँ।"

भावार्थ यह है कि रसस्वरूप परब्रह्म श्रीकृष्ण आस्वाद्य एवं आस्वादक हैं। परब्रह्म परतत्व वस्तु हैं— अतः अन्यनिरपेक्ष हैं। वे स्वयं ही आस्वाद्य एवं आस्वादक हैं। जब वे स्वयं ही आस्वाद्य एवं आस्वादक हैं, तब वे एक होते हुए भी-आस्वाद्य एवं आस्वादक इन दो रूपों में अभिव्यक्त होते हैं। दो रूपों की अभिव्यक्ति बिना उमका रसत्व सिद्ध नहीं होता। आस्वाद्यरस के लिये आस्वादक एवं आस्वादक के लिये आस्वाद्यरस की अपरिहार्यता है। यह भी कहा जा चुका है कि सशक्तिक आनन्द ही ब्रह्म है—सशक्तिक आनन्द ही रस—आस्वाद्यरस एवं आस्वादकरस है, अर्थात् वे परब्रह्म अपने एकस्वरूपत्व को अक्षुण्ण रखते हुए श्रीराधा एवं श्रीकृष्ण इन दो स्वरूपों में प्रकाशित होते हैं। श्रीराधा पूर्णतमशक्ति हैं, श्रीकृष्ण पूर्णतम शक्तिमान हैं। मृगमद एवं उसकी गन्ध की भाँति शक्ति एवं शक्तिमान अविच्छेद्यरूप से नित्य विराजित हैं। शक्तिमान स्वयं श्रीकृष्ण-विग्रह-रूप से एवं शक्ति स्वयं श्रीराधाविग्रहरूप से लीला रसास्वादन के लिये दो पृथक् स्वरूपों में नित्य विराजित हैं—लीला के लिये दो देहों का प्रयोजन है। जो लीलारस-आस्वादन के लिये-श्रीराधा एवं श्रीकृष्ण इन दो पृथक् रूपों में प्रकटित होते हैं, वे ही इस वर्तमान कलियुग में श्रीश्रीराधाकृष्ण-मिलितविग्रहरूप से श्रीकृष्णचैतन्य नाम से अवतीर्ण हुए हैं। रसास्वादन की पूर्णता के लिये श्रीराधाकृष्ण के पृथक् दो विग्रहों की आवश्यकता है एवं दोनों के मिलितविग्रह की भी आवश्यकता है, कारण कि दो पृथक् विग्रहों से जो रस आस्वादित हो सकता है, वह एक विग्रह द्वारा आस्वादित नहीं हो सकता एवं जो रस एक विग्रह से आस्वादित हो सकता है, वह पृथक् दो विग्रहों द्वारा आस्वादित नहीं हो सकता।

प्रश्न हो सकता है कि क्या श्रीराधाकृष्ण दो पृथक् विग्रहों द्वारा रस आस्वादन करने के कुछ काल पश्चात् श्रीकृष्णचैतन्यरूप से एक विग्रह में प्रकटित हुए ?—नहीं यह बात नहीं है, श्रीराधा एवं श्रीकृष्ण जैसे अनादि-काल दो पृथक् विग्रहोंमें से विद्यमान हैं;उनका मिलितविग्रह श्रीकृष्णचैतन्यरूप

से भी उसी प्रकार अनादिकाल से विद्यमान है—कलियुग में उसका प्राकट्य-मात्र है।

यह पहले भी कहा जा चुका है कि रसिकशेखर स्वयंभगवान् श्रीकृष्ण अपनी प्रकट-व्रजलीला में अपने परिकरों के प्रेम-रसनिर्य्यास का आस्वादन करते हैं। उन्होंने अपनी कौमार-अवस्था को वात्सल्य-आवेश में, पौगण्ड-अवस्था को सख्य-आवेश में तथा कैशोर-वयस को उन्होंने व्रजगोपियों के साथ रासादि लीला में सफल किया अर्थात् त्रिविध अवस्थाओं में वात्सल्य, सख्य एवं शृङ्गार इन तीन रसों का पूर्णतया आस्वादन किया, यह ठीक है किन्तु फिर भी रसिकशेखर की रसास्वादन-वासना की परितृप्ति न हो सकी। परिकरों के प्रेमरस-निर्य्यास आस्वादन के उपलक्ष्य में और एक अपूर्व वस्तु के आस्वादन करने की दुर्दमनीया वासना जाग उठी, वह थी—उनके स्वमाधुर्य-आस्वादन की वासना।

श्रीकृष्ण हैं—आत्मपर्यन्त-सर्व-चित्तहर माधुर्य के आश्रय। उनके उस माधुर्य का आस्वादन उनके परिकर-भक्तवृन्द ही कर सकते हैं। माधुर्य के आस्वादन करने का एकमात्र उपाय है—प्रेम, जिस भक्त में प्रेम का विकाश जितना अधिक होता है, माधुर्य का वह उतना अधिक आस्वादन कर सकता है। भगवान् के निखिल परिकरवृन्दों में एकमात्र श्रीराधा में ही प्रेम का सर्वातिशायी विकाश—मादनाख्य-महाभाव विद्यमान है, जिससे श्रीराधा ही सर्वापेक्षा अधिकरूप में श्रीकृष्ण-माधुर्य का आस्वादन करने में समर्था हैं।

श्रीकृष्ण असमोर्ध्व-माधुर्य के अधिकारी होते हुए भी एक मात्र भक्त का प्रेम ही उनके माधुर्य को उच्छलित कर सकता है। जिसमें प्रेम का विकाश जितना अधिक है, उसके सान्निध्य में श्रीकृष्ण के माधुर्य का उच्छलन भी उतना अधिक है। अतः श्रीराधा का प्रेम सर्व्वातिशायी होने के कारण, श्रीराधा के सान्निध्य में श्रीकृष्णमाधुर्य का उच्छललन भी सर्वातिशायी है। श्रीकृष्णमाधुर्य एवं श्रीराधा-प्रेम दोनों ही परस्पर होड़ बांधकर वर्धित होते हैं, मानो कोई भी किसी से पराजित नहीं होना चाहता। इस प्रकार क्रमशः वर्द्धमान जो माधुर्यमय श्रीकृष्णरूप है, वह है—मदनमोहन-रूप। एकमात्र श्रीराधा के साहचर्य में ही इस रूप का विकाश है एवं एक

मात्र श्रीराधा ही अपने असमोर्ध्व प्रेम के द्वारा श्रीकृष्ण के इस असमोर्ध्व माधुर्य का आस्वादन कर सकती हैं।

व्रजसुन्दरियों के प्रेम में स्वसुख-वासना की गंध तक नहीं है। उनका प्रेम है—कृष्णसुखैकतात्पर्यमय। अतएव कृष्णमाधुर्य के आस्वादन की वासना उनकी कृष्ण सेवा-वासना की प्रवर्तक नहीं है। तथापि माधुर्य का आस्वादन एवं तज्जनित सुख उनमें सञ्चार होता है—अग्नि के निकट जाने पर ताप के अनुभव की इच्छा न होने पर भी जैसे ताप अनुभव होता ही है, तद्रूप। व्रजसुन्दरियों के इस सुख में भी कृष्ण-सुख की पुष्टि साधित होती है। यथा :—

गोपिका-दर्शने कृष्णेर बाढ़े प्रफुल्लता।
से माधुर्य बाढ़े, यार नाहिक समता॥
'आमार दर्शने कृष्ण पाईल एत सुख'।
एइ सुखे गोपीर प्रफुल्ल अङ्ग मुख॥
गोपीशोभा देखी कृष्णेर शोभा बाढ़े यत।
कृष्णशोभा देखी गोपीर शोभा बाढ़े तत॥
एइ मत परस्पर करे हुड़ाहुड़ी।
परस्पर बाढ़े केहो मुख नाहि मुड़ि॥
किन्तु कृष्णेर सुख हय गोपी-रूप-गुणे।
तार सुखे सुखबुद्धि हय गोपीगणे॥
अतएव सेइ सुखे कृष्णसुख पोषे।

श्री चै च० १।४।१६१-६६

"व्रजगोपिकाओं के दर्शन से श्रीकृष्ण की प्रफुल्लता बढ़ती है—उनके माधुर्य का इतना अधिक विकाश होता है, जिसकी समता नहीं हो सकती। (जब गोपीगण यह अनुभव करती हैं कि) "हमारे दर्शनों से श्रीकृष्ण इतना अधिक सुख प्राप्त करते हैं!—तब इसी सुख में ही गोपिकाओं के शरीर-मुख प्रफुल्लित हो उठते हैं। गोपियों की शोभा देखकर श्रीकृष्ण की जितनी शोभा बढ़ती है, श्रीकृष्ण की शोभा देखकर उतनी अधिक गोपियों की शोभा बढ़ती है। इस प्रकार वे परस्पर होड़ बांधते हैं, परस्पर बढ़ते ही चले जाते हैं, कोई मुख नहीं मोड़ता। किन्तु श्रीकृष्ण का सुख—

गोपियों के रूप-गुण में है एवंश्रीकृष्ण के सुख में ही गोपियों की सुख बुद्धि है। अतः उनके सुख से कृष्णसुख की ही पुष्टि साधित होती है।"

तात्पर्य यह है कि श्रीकृष्ण का माधुर्यास्वादन-जनित सुखभी सर्वातिशायीरूप में श्रीराधा ही प्राप्त करती हैं। उनके उस सर्वातिशायी सुख को देखकर श्रीकृष्ण भी तदनुरूप आनन्द प्राप्त करते हैं, किन्तु वह माधुर्यास्वादन-जनित सुख श्रीराधा के मुखकमल नेत्रों एवं सर्वाङ्गों पर जो एक अनिर्वचनीय उल्लास-तरङ्ग प्रवाहित कर देता है, उसे देख कर श्रीकृष्ण यही अनुभव करते हैं कि—"मेरे माधुर्य का आस्वादन करके श्रीराधा जो अनिर्वचनीय आनन्द प्राप्त करती हैं, उसके सामने श्रीराधादि की प्रेमसेवा द्वारा मुझे जो सुख मिलता है, वह अत्यन्त तुच्छ है।" अतः श्रीकृष्ण स्वीय-माधुर्य आस्वादन केलिये लालायित हो उठते हैं। स्वमाधुर्य आस्वादन की एक वासना के साथ साथ और भी दो वासनाएं स्वाभाविक श्रीकृष्ण के चित्त में जागृत हो उठती हैं—१. जिस प्रेम के द्वारा श्रीराधा उनके माधुर्य का आस्वादन करती है, उस प्रेम का क्या स्वरूप है?—उसकी क्या महिमा है?—२. उस प्रेम के द्वारा उनका माधुर्य आस्वादन करके श्रीराधा जो सुख प्राप्त करती हैं, उस सुख का क्या स्वरूप है?

ये तीन वाञ्छाएं ब्रज में श्रीकृष्ण की पूर्ण न हो सकीं—इनमें से एक—स्वमाधुर्य आस्वादन की वाञ्छा पूर्ण होने पर अन्य दो की आनुषङ्गिक भाव से पूर्ति हो सकती है। किन्तु इस मुख्य वाञ्छा की पूर्ति का भी उपाय ब्रज में नहीं है। कारण कि श्रीकृष्ण के माधुर्य को सम्पूर्णरूप से आस्वादन करनेका एक मात्र उपाय-प्रेमका सर्वातिशायी विकाश—मादनाख्य-महाभाव है, जो ब्रज में एकमात्र श्रीराधा में ही विकशित है और किसी में नहीं—श्रीकृष्ण में भी नहीं। क्योंकि श्रीकृष्ण इस प्रेम के विषय हैं, आश्रय नहीं। अतएव श्रीकृष्ण उक्त तीन वाञ्छाओं की पूर्ति के लिये श्रीराधा-भावद्युति सुवलित होकर ब्रजलीला के परवर्ती—वर्तमान कलि में श्रीश्रीगौरसुन्दर-रूप से अवतीर्ण हुए, यही इनके अवतार का अन्तरङ्ग हेतु है—जैसे कि श्रीपादस्वरूपगोस्वामी जी ने कहा है :—

श्रीराधायाः प्रणयमहिमा कीदृशो वानयैवास्वद्यो
येनाद्भुतमधुरिमा कीदृशो वा मदीयः।

सौख्यञ्चास्या मदनुभवतः कीदृशं वेति लोभा-
त्तद्भावढ्यः समजनि शचीगर्भसिन्धौ हरीन्दुः ॥

"श्रीराधा-प्रेम की महिमा कैसी है ? इस प्रेम के द्वारा श्रीराधा मेरे जिस अद्‌भुत माधुर्य का आस्वादन करती हैं, वह मेरा माधुर्य कैसा है ? तथा मेरा माधुर्य आस्वादन करके श्रीराधा जो सुख प्राप्त करती हैं, उस सुख का क्या स्वरूप है ? इन विषयों को भलीभांति जानने के लोभ से श्रीराधा-भावयुक्त होकर श्रीहरि रूप चन्द्र श्रीशचीदेवी के गर्भरूप समुद्र से प्रादुर्भूत हुये।"

श्रीश्रीगौरसुन्दररूप में आश्रयस्वरूप की प्रधानता है—

यह कहा जा चुका है कि भगवान् श्रीकृष्ण की ब्रज में तीन वांछाएं पूर्ण न हो सकीं। अतः वे श्रीराधाभाव द्युति सुवलित होकर श्रीगौरसुन्दर-रूप से अवतीर्ण हुए। रसिक शेखर श्रीकृष्ण की कोई भी वान्छा अपूर्ण नहीं रह सकती। ऐसा होने पर उनके रसिकशेखरत्व का विकास अपूर्ण रह जाता है एवं उनकी ह्लादिनी-शक्तिस्वरूपणी श्रीराधा की कृष्ण-सुखैकतात्पर्यमयी सेवावासना का विकास भी अपूर्ण रह जाता है। श्रीकृष्ण की ह्लादिनीशक्ति का धर्म ही है—श्रीकृष्ण को एवं उनके भक्तों को सुख देना। उस ह्लादिनी का मूर्त–विग्रहा—ह्लादिनी की अधिष्ठात्री देवी हैं श्री-राधा। इनकी आराधना—श्रीकृष्ण-वान्छापूर्ति करना ही है। श्रीकृष्ण की स्वीय-माधुर्य-आस्वादन-वान्छापूर्ति के लिये एवं इसी व्यपदेश से सेवा द्वारा श्रीकृष्ण को सुखी करने के लिये श्रीराधा ने अपना मादनाख्य-महाभाव श्रीकृष्ण को दिया, देकर अपना राधिका नाम सार्थक करते हुये श्रीकृष्ण के रसिकशेखरत्व के पूर्णतम विकाश के पथ को भी उन्मुक्त कर दिया।

श्रीराधा श्रीकृष्ण की स्वरूपशक्ति हैं, दोनों परस्पर अभिन्न हैं। अतएव श्रीराधा अपना भाव श्रीकृष्ण को प्रदान कर सकतीं हैं एवं श्रीकृष्ण उसे ग्रहण कर सकते हैं। यह पहले ही कहा जा चुका है कि श्रीकृष्ण एवं उनके परिकरों के विग्रह भावमय हैं। उनके भाव एवं विग्रह में कुछ भी पार्थक्य नहीं है—दोनों ही शुद्ध सत्व का विलास है। दोनों अविच्छेद्यरूप से सम्मलित हैं। अतएव राधा-भावप्रदानत्व में राधा-विग्रहप्रदानत्व स्वतः

सिद्ध है। तात्पर्य यह है कि श्रीराधा ने अपने प्रति अङ्ग द्वारा अपने प्राण-कोटि वल्लभ श्रीकृष्ण के प्रति अङ्ग को आलिङ्गन कर उन्हें श्रीश्यामसुन्दर से श्रीगौरसुन्दर कर दिया एवं अपने चित्त द्वारा उनके चित्त को आलिङ्गन कर अर्थात् अपने प्रीति रस में श्रीश्यामसुन्दर के चित्त को सम्यक्‌रूप से परिसिञ्चित कर, श्रीकृष्ण को महाभावस्वरूपा-राधा बना दिया। अतः श्रीराधाकृष्ण-मिलितस्वरूप श्रीगौरसुन्दर में आश्रय-स्वरूपत्व का प्राधान्य कहा गया है। यहाँ यह जान लेना परमावश्यक है कि उपर्युक्त आलोचना में राधा-भावविग्रह के सम्बन्ध में "प्रदान" एवं "ग्रहण"—इन शब्दों का प्रयोग केवल तत्व को बोधगम्य कराने के लिये ही किया गया है। वास्तव में मादनाख्य-महाभाव का सर्वतोन्नत विचित्र विकाश श्रीराधाकृष्ण-संयोग-अवस्था में होता है। यथा :—

"योग एव भवेदेष विचित्रः कोऽपि मादनः।"
(उज्ज्वलनीलमणि। १६०)

अतः श्रीगौरसुन्दर उस संयोगावस्था की ही चरम परिणति हैं। तात्पर्य यह है कि मादनाख्य-महाभाव के किसी एक विचित्र उच्छलना-वस्थारूप उत्ताप से—सान्द्रीभूत मादनाख्य-महाभाव उपादान द्वारा उद्-भावित परमोज्ज्वल-कान्तिमय श्रीराधा-विग्रह नवनीतवत् द्रवित होकर श्रीकृष्ण के अन्तर्बाहिर-चित्तेन्द्रकाय में विभावित हो गया है। युगलित श्रीराधाकृष्ण के परमस्वरूप की चरम-परिणति हैं—श्रीश्रीगौरसुन्दर।

श्रीगौर-करुणा का माधुर्य एवं उल्लास—

करुणा स्वतः माधुर्य है—विषय एवं आश्रय दोनों के लिये ही। अन्यान्य अवतारों में श्रीभगवान् जो असुर-संहार करते हैं, वह भी उनकी असुरों के प्रति करुणा ही है। कारण कि हतारि-गतिदायक भगवान् उनको भी निज चरणों में स्थान देते हैं। किन्तु असुर-देह त्यागने के पश्चात् ही उन को इस सौभाग्य की प्राप्ति होती है। जीवित अवस्था में वे स्वयं भी उनकी इस प्रकार की कृपा को नही जानते एवं उनके विनाश से पहले अथवा पश्चात् इस कृपा का और दूसरा भी कोई अनुभव नहीं कर पाता। अतएव इस करुणा के माधुर्य का अनुभव असुरों के परिवारों को नहीं होता। असुर स्वयं भी मृत्यु से पहले इसका अनुभव नहीं कर पाते।

किन्तु श्रीगौर-अवतार में भगवान् का अस्त्र-धारण नहीं है। उन्होंने असुर-संहार तो इस अवतार में भी किया है—प्राणविनाश के द्वारा नहीं, किन्तु असुरत्व-विनाश के द्वारा। नाम-प्रेम वितरण के द्वारा प्रभु ने जिस क्षण ही असुर की कुप्रवृति एवं कुप्रवृति की मूल-माया का नाश किया, उसी क्षण ही वह श्रीकृष्ण-प्रेमोन्मत्त महाभागवत बन गया। इस करुणा का आस्वादन केवल उसने स्वयं ही नहीं किया, अपितु तत्क्षण उसके बन्धु-बान्धव एवं दूसरे जन-साधारण भी इस करुणा-माधुर्य का आस्वादन करके कृतार्थ हो गये। श्रीगौरसुन्दर के इस असमोर्द्ध करुणा-माधुर्य ने ही आपामर जन-साधारण को अपने चरणों की ओर आकृष्ट कर लिया।

श्रीगौरसुन्दर में करुणा के सर्वातिशायी-उल्लास का ज्वलन्त प्रमाण यह है कि:—जो, अनासङ्ग साधन के द्वारा सर्वथा अलभ्य है, सासङ्ग साधन के द्वारा भी जिसकी प्राप्ति सहज नहीं, तथा भुक्ति-मुक्ति की वासना रहने पर जो नहीं मिल सकती एवं कर्म-योग-ज्ञानादि मार्गों के साधनों से जो कदापि प्राप्त ही नहीं हो सकती, ऐसी सुदुर्लभा प्रेमाभक्ति को श्रीमन् महाप्रभु ने पात्र अपात्र आदि का कोई भी विचार न करते हुए सर्वत्र वितरण कर दिया।

श्रीगौर-करुणा का एक और अपूर्व्व विकाश हरिनाम-वितरण में है। चारों युगों में श्रीभगवन्नाम प्रचलित है। ऋग्वेद तथा श्रुतियों में नाम-माहात्म्य एवं नाम-नामी के अभेदत्व का वर्णन है। अन्यान्य युगों में भी युगावतारों के द्वारा नाम वितरण किया गया है, किन्तु इस वर्तमान कलियुग के बिना अन्य किसी समय भी स्वयंभगवान् ने स्वयं नाम-सङ्कीर्तन का आस्वादन करते हुए अपने नाम का वितरण नहीं किया है। प्रेमघन एवं माधुर्यघन-विग्रह श्रीमन्महाप्रभु के मुख से निकला स्वभावत: परम मधुर नाम और भी अपूर्व माधुयमण्डित हो अपनी अलौकिक चमत्कारिता के द्वारा सर्वातिशायित्व को प्राप्त हुआ। गौर-करुणा का यह एक अपूर्व उल्लास है।

उल्लास शब्द का दूसरा अर्थ है—सर्वातिशायी आनन्दोच्छ्वास। जब कोई मनुष्य अपनी अभीष्ट वस्तु को आशा के अतिरिक्त रूप से प्राप्त करता है—तब उसे उल्लास उत्पन्न होता है। भगवत्-करुणा ने भी श्रीगौर-

सुन्दर के निकट आशातिरिक्त एक अभीष्ट वस्तु को प्राप्त किया है। भगवत् करुणा सर्वदा निर्पेक्षता पूर्वक जीवों को कृतार्थ करने के लिये उत्सुक रहती है। करुणा में किसी प्रकार का पक्षपात नहीं है—न्यायपरायणता में ही विचार का पक्षपात होता है। भगवत्-करुणा का ऐसा स्वभाव होते हुए भी वह भगवत्-इच्छाशक्ति की अपेक्षा रखती है; अर्थात् भगवान् की इच्छाशक्ति की प्रेरणा से ही करुणा जीव की ओर अग्रसर होती है। नवद्वीप लीला में श्रीगौरसुन्दर का आपामर जन-साधारण पर कृपा करने का जो सङ्कल्प—वही करुणा का अभीष्ट था। किन्तु प्रभु के सङ्कल्प ने और भी अधिक व्यापकरूप धारण किया, वह था—आपामर जन-साधारण को बिना किसी विचार के परमतम एवं चरमतम वस्तु--प्रेमाभक्ति दान करना। सम्भवतः करुणा के लिये यह बात आशातिरिक्त थी। श्रीमन्महाप्रभु ने मानो करुणा को कह दिया—"ओ करुणा! मैंने अपने को सम्पूणतया तुम्हारे हाथों सौंप दिया है। जहाँ तुम्हारी इच्छा हो—जिसे चाहो, तुम मुझे बिना मूल्य दे सकती हो। अब तुम्हारा अबाध्य स्वातन्त्र्य है।" अन्यान्य लीलाओं में करुणा श्रीभगवान् के आधीन रहती है। इसबार भगवान् ही करुणा के आधीन हो गये। ऐसे अनेक दृष्टान्त भी हैं कि श्रीगौरसुन्दर के अनुसन्धान के बिना उनकी करुणा ने बहुतों को कृतार्थ कर दिया।

रसराज-महाभाव-स्वरूप श्रीगौरसुन्दर का सर्वातिशायी माधुर्य—

श्रीपाद कविराज श्रीकृष्णदास गोस्वामी ने श्रीश्रीचैतन्यचरितामृत (२-१३-१) में कहा है कि :—

स जीयात् कृष्णचैतन्यः श्रीरथाग्रे ननर्त्त यः।
येनासीञ्जगतां चित्रं जगन्नाथोऽपि विस्मितः॥

—"जिन्होंने श्रीजगन्नाथ के परम सुन्दर रथ के आगे नृत्य किया एवं जिनके नृत्य को देखकर समस्त जगत्-वासी एवं स्वयं श्रीजगन्नाथ भी विस्मित हो जाते थे—उन्हीं श्रीकृष्ण-चैतन्यमहाप्रभु की जय हो।"

तात्पर्य यह है कि रथ के आगे श्रीगौरसुन्दर जिस भाव से नृत्य करते थे, उसे देखकर रथयात्रोत्सब पर आये हुए सभी लोग आश्चर्य करते थे,

यहां तक कि स्वयं श्रीजगन्नाथ भी विस्मित हो जाते थे। दर्शनी लोगों के लिये तो विस्मय का कारण यह था कि प्रभु का अदृष्टपूर्व, अश्रुतपूर्व नृत्य ऐसा विलक्षण था कि जिसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती। उनका नृत्य इतना द्रुत था कि केवल मात्र एक स्वर्ण वर्ण का चक्र ही भ्रमण करता हुआ प्रतीत होता था। उनके उदण्ड नृत्य में ऐसा मालूम होता था कि मानों ससागरा पृथ्वी डगमगा रही हो। कभी तो वे बहुत ऊँचे उछलते थे और कभी पछाड़ खाकर पृथ्वी पर गिर जाते थे। उनमें एक ही समय अश्रु-पुलक-कम्पादि अष्टसात्विक-विकारों का अद्भुत विकाश दर्शकों को स्तम्भित कर देता था। नेत्रों से पिचकारी की भाँति जल की धारा बह निकलती, जिससे आस पास के सब लोग भीज जाते—(अश्रु), गौर-शरीर कभी रक्त की भांति लाल, कभी मल्लिका पुष्प की भांति श्वेत हो जाता था—(वैवर्ण्य), शरीर का प्रति रोम पके फोड़े की भांति सूज उठता था—(पुलक), दन्त इतनी तीव्रता से खट-खट करके बजने लगते कि मानो अभी गिर जायँगे—(कम्प), देह के समस्त अंशोंसे पसीने के साथ रक्त बह निकलता था—(प्रस्वेद), वे कोई भी शब्द स्पष्ट उच्चारण न कर पाते, जगन्नाथ कहने में ज···ज···ग···ग ही कहकर रह जाते—(स्वरभेद), हस्त-पादादि अचल होकर उनका समस्त शरीर काष्ठवत् स्तब्ध हो जाता—(स्तम्भ), वह एक महाभयानक दृश्य होता था, जब वे घण्टों श्वास-प्रश्वास-हीन होकर पृथ्वी पर पड़े रहते—(प्रलय)। यह सब सुदीप्त सात्विक विकार उनके अङ्गों में देखकर सभी लोग चित्रवत् खड़े रह जाते।

किन्तु वह अद्भुत वस्तु क्या थी? जिसको देखकर श्रीजगन्नाथ को भी विस्मय एवं अत्यधिक आनन्द की प्राप्ति होती थी—श्रीश्रीगौरसुन्दर परमकाष्ठा प्राप्त श्रीकृष्ण-प्रेम के आश्रय हैं। श्रीजगन्नाथ के मुखचन्द्र-दर्शन से वह प्रेम उद्वेलित हो उठता था, जिसका प्रभाव, प्रेम के आश्रय—श्री-गौरसुन्दर के शरीर पर उदण्ड नृत्य एवं सुदीप्त सात्विक विकारादि के रूप में प्रगटित होता था। उस प्रेम का प्रभाव, प्रेम के विषय—श्रीजगन्नाथ पर होना अनिवार्य था। जैसे कि प्रेम की आश्रय—श्रीराधा के सान्निध्य में प्रेम के विषय—श्रीकृष्ण का माधुर्य आत्यधिक वर्द्धित हो उठता है। प्रेम और माधुर्य उत्तरोत्तर वर्द्धित ही होते चले जाते हैं।

किन्तु श्रीराधा-विरहित श्रीकृष्ण का जो स्वाभाविक माधुर्य है, वह भी तो "स्वस्य च विस्मापनं" (श्रीमद्भागवत् ३-२-१२)— आत्मपर्यन्त सर्वचित्तहर है—अन्यान्य को तो विस्मित करता ही है, स्वयं श्रीकृष्ण भी उसे देखकर विस्मित एवं मुग्ध हो जाते हैं।— द्वारका में जहां श्रीराधा विद्यमान न थीं, मणिखम्भ में प्रतिबिम्बत अपने माधुर्य को देखकर श्रीकृष्ण विस्मय-पूर्वक कहते हैं :—

अपरिकलित पूर्वः कश्चमत्कारकारी
स्फुर्तिमम गरीयानेष माधुर्यपूरः ।
अयमहमपि हन्त प्रेक्ष्य या लुब्धचेताः
सरभसमुपभोक्तुं कामये राधिकेव ॥

(श्रीललितमाधव ८ । ३२)

"अहो ! अननुभूतपूर्व चमत्कारजनक एवं श्रेष्ठ यह मेरा माधुर्य-समूह कैसा अनिर्वचनीय स्फुरित—प्रकाशित होता है, जिसको देखकर स्वयं मैं भी लुब्धचित्त होकर श्रीराधा की भांति उत्सुकतापूर्वक उपभोग करने की अभिलाषा करता हूँ।" श्रीवृन्दावन के निभृत निकुञ्जों में जब श्रीराधा श्यामसुन्दर गलबांहि दिये एक आसन पर विराजमान होते हैं, तब उनके सम्बर्द्धित-माधुर्य सम्भार को देखकर, श्रीयुगलकिशोर को उनके निज निज माधुर्य का अनुभव कराने के उद्देश्य से जब कोई कुंज-सेविका उन्हें दर्पण दिखाती है, उस दर्पण में अपना रूप-माधुर्य देखकर श्रीकृष्ण की क्या अवस्था होती है ?—यह तो वे आप ही जानते हैं। ज्ञात होता है, सम्भवतः उसी अवस्था के फलस्वरूप जगत्-वासियों ने श्रीश्रीगौरसुन्दर को देखने का सौभाग्य प्राप्त किया है। श्रीराधा के सान्निध्य की निबिड़ता जितनी अधिक होती है, श्रीकृष्ण का माधुर्य उतना ही अधिक स्फुरित होता है। श्रीश्री-राधाश्यामसुन्दर के सम्मिलित-विग्रह श्रीगौरसुन्दरस्वरूप में इस सान्निध्य की जितनी निबिड़ता है, उतनी निबिड़ता ब्रज में भी सम्भव न हो सकी। कारण कि श्रीगौरसुन्दर का स्वरूप-युगलित श्रीराधाकृष्ण के परम-स्वरूप की चरम-परिणति है। इस स्वरूप में रसराज एवं महाभाव का अपूर्व मिलन है। श्रीकृष्ण का नवजलधर श्यामरूप, श्रीराधा की केवल अङ्ग-कान्ति द्वारा प्रच्छन्न नहीं—किन्तु श्रीराधा के गौरअङ्ग द्वारा आच्छादित

है, अर्थात् नवगोरोचना गोरी श्रीवृषभानुनन्दिनी का प्रति अङ्ग मानो प्रेम-उल्लास से द्रवित होकर श्रीनन्द-नन्दन के प्रति श्याम अङ्ग में विजड़ित हो गया है—अथच महाभावमयी के विग्रहरूप गौर-आवरण में रसराजस्वरूप श्यामतन की अद्भुत झांकी है। इस अपूर्व एवं अनिर्वचनीय रसराज-महाभाव स्वरूप को देखकर श्रीजगन्नाथ विस्मित हो गये—ऐसा जान पड़ता है। कारण कि यह स्वरूप द्वारकाबिहारी श्रीजगन्नाथ के लिये अपूर्वदृष्ट एवं अपरिचित ही था। इसलिये इसे देखकर वे विस्मित हो उठते थे। इस परमाद्भुत स्वरूप के सर्वातिशायी माधुर्य के अनुभव में उन्हें अत्यधिक अनिर्वचनीय आनन्द भी प्राप्त हुआ।

वस्तुतः जिस स्वरूप में रसराज साक्षात्-शृङ्गाररसमूर्ति-श्रीकृष्ण का पूर्ण माधुर्य तथा श्रीवृषभानुनन्दिनी के महाभाव का अपूर्व विकाश सम्मिलित है—ऐसे रसराज-महाभावस्वरूप श्रीश्रीगौरसुन्दर का माधुर्य सर्वातिशायी है—अनिर्वचनीय है—केवल उनकी कृपा द्वारा ही अनुभव-गम्य है।

नाम-तत्व

नामाभास—

वेद, उपनिषत्, पुराण, इतिहास, स्मृति आदि समस्त शास्त्रों में श्री-भगवन्नाम का असाधारण माहात्म्य वर्णन किया गया है। नाम की महिमा जानकर अथवा न जानकर, श्रद्धापूर्वक अथवा अवहेलना से तथा नामी के प्रति लक्ष्य करके अथवा किसी अन्य लक्ष्य से, चाहे किसी भी भाव से क्यों न हो, श्रीभगवन्नाम के साथ जिह्वा का स्पर्श होते ही नाम का फल प्राप्त होता है, जैसे किसी अङ्ग का अग्नि के साथ स्पर्श होते ही--चाहे वह जान कर हो अथवा न जान कर हो, वह अङ्ग जल जाता है। यह नाम की वस्तु-गत शक्ति है। अतएव नाम अपने फल प्रकाश करने में अपने ग्रहणकारी की बुद्धि व ज्ञान, उद्देश्य व लक्ष्य इत्यादि किसी की कुछ भी अपेक्षा नहीं रखता। नामी के प्रति लक्ष्य न करते हुए नामोच्चारण करने पर भी नाम अपनी स्वाभाविक शक्ति से उस पर कृपा करता है—इस बात का साक्षी अजामिल है। अजामिल की भांति नामी के प्रति लक्ष्य न रखकर नाम उच्चारण करने को "नामाभास" कहते हैं। वास्तविक, आभास नाम का नहीं होता, कारण कि नाम तो स्वीय महिमा में महीयान होकर नित्य विराजित है। केवल लक्ष्य का ही आभास होता है। नामी के प्रति लक्ष्य न होकर अन्य की ओर लक्ष्य होने का नाम "नामाभास" है। देखा जाय तो नामाभास और नाम स्वरूपतः एक ही वस्तु है। वह जब नामी को प्रकाश करता है उसे नाम कहते हैं और जब वह अन्य वस्तु को प्रकाश करता है उसे नामाभास कहते हैं। अन्य वस्तु को भी प्रकाश करने में नाम की शक्ति नष्ट नहीं होती।

नाम तथा नामी अभिन्न हैं—

श्रुति में प्रणव को ब्रह्म कहा गया है—"ॐ इति ब्रह्म।" (तैत्तिरीय १-८) सर्वोपनिषत्सार श्रीभगवद्गीता कहती है—श्रीकृष्ण ही प्रणव हैं, श्रीकृष्ण ही परमब्रह्म हैं—"वेद्यं पवित्रमोङ्कार"—इत्यादि (६-१७)। यह प्रणव-स्वरूप परब्रह्म श्रीकृष्ण अनादि काल से अनन्तस्वरूपों में विराजित हैं। गुणकर्मानुसार परब्रह्म श्रीकृष्ण के भी अनन्त नाम हैं एवं उनके अनन्त स्वरूपों के भी अनन्त नाम हैं। प्रणव उनका स्वरूप है एवं प्रणव उनका वाचक अर्थात् उनका नाम है। पातञ्जल कहता है—

"ईश्वर-प्रणिधानाद् वा। तस्य वाचकः प्रणवः॥

(समाधिपाद-२७)

प्रणवस्वरूप श्रीकृष्ण का विभिन्न प्रकाश जैसे विभिन्न भगवत् स्वरूप हैं वैसे ही उनके विभिन्न नाम उनके वाचक प्रणव के विभिन्न प्रकाश हैं। प्रणव परब्रह्म है, प्रणव परब्रह्म का नाम है,इस प्रकार नाम तथा नामा का अभेदत्व ही श्रुतिद्वारा प्रतिपादित होता है, और भी कहा है:—

नाम चिन्तामणिः कृष्णश्चैतन्यरसविग्रहः।
पूर्णः शुद्धो नित्यमुक्तोऽभिन्नत्वान्नामनामिनोः॥

(भक्तिरसामृतसिन्धु १-२-१०८)

अर्थात्–नाम तथा नामी में कुछ भेद नहीं है–अभिन्न हैं। अतः श्रीकृष्णनाम श्रीकृष्ण की भांति चिन्तामणिवत् सर्वाभीष्टप्रद, चिदानन्दविग्रह–चिदानन्द-घनमूर्ति है एवं सर्वशक्तिपूर्ण, मायागन्धशून्य तथा नित्यमुक्त है। इससे स्पष्ट है कि एक ही सच्चिदानन्दादिरूप तत्व नाम एवं नामी इन दो रूपों में अनादिकाल से आविर्भूत हो रहा है।

नाम स्वप्रकाश एवं परम स्वतन्त्र है—

नाम एवं नामी में अभेद होने के कारण नामी-भगवान् जैसे चैतन्य-रस-विग्रह हैं, नाम भी उसी प्रकार चैतन्यरसविग्रह-चिदानन्दस्वरूप है।

चिदानन्दस्वरूप होने से नामी की भांति नाम भी स्वप्रकाश है अर्थात् अपने को अथवा अपनी महिमा को प्रकाश करने में नाम किसी की भी अपेक्षा नहीं रखता। नाम ग्रहणकारी के चित्त की अवस्था, मन के लक्ष्य आदि किसी की भी नाम अपेक्षा नहीं रखता।

स्वप्रकाश होने से नाम भी परमस्वतन्त्र भगवान् से अभिन्न होने से नाम भो परमस्वतन्त्र है। नाम अपने फल प्रकाश करने में दीक्षा-पुरश्चरणादि एवं देश-काल-पात्र-देशादि की—किसी की भी कुछ अपेक्षा नहीं रखता। नाम के साथ जिह्वा का स्पर्श होते ही नाम के आनुषङ्गिक फल-स्वरूप संसार-बन्धन का नाश होकर चित्त में प्रेमोदय होता है। कोई भी व्यक्ति किसी भी स्थान पर किसी भी समय हर अवस्था में नाम-सङ्कीर्तन द्वारा कृतार्थ हो सकता है, जो अनन्यगति, नियत विषयभोगी, परपीड़क, ज्ञानवैराग्य वर्जित एवं ब्रह्मचर्य्यशून्य तथा सर्वधर्मत्यागी हैं; वे भी यदि श्रीभगवान् का नाम-मात्र जाप करें तो धर्मनिष्ठव्यक्ति के लिये भी दुर्ल्लभ-गति को अनायास प्राप्त कर सकते हैं—(पद्मपुराण)। स्त्री, शूद्र, चांडाल एवं ऐसा अन्य कोई भी पाप-योनिजात व्यक्ति यदि भक्तिपूर्वक हरिनाम कीर्त्तन करे, वह वन्दनीय है—और भी श्रीहरिभक्ति विलास (११, २०२-३) में कहा गया है कि :—

न देशनियमस्तस्मिन् न काल नियमस्तथा।
नोच्छिष्टादौ निषेधोऽस्ति श्रीहरेर्नाम्नि लुब्धक॥

चक्रायुधस्य नामानि सदा सर्वत्र कीर्त्तयेत्।
नाशौचं कीर्त्तने तस्य स पवित्रकरो यतः॥

अर्थात् नामसङ्कीर्त्तन के लिये स्थान की पवित्रता एवं अपवित्रता का तथा समय के सम्बन्ध में विचार करना निश्प्रयोजन है। झूठे मुख से भी नाम ग्रहण करना निषेध नहीं है। अशौच-अवस्था में भी नाम-कीर्त्तन में बाधा नहीं है। श्रीभगवान् का नाम परम पवित्र है, समस्त-अपवित्रता को भी पवित्र करने वाला है। अतः हर समय एवं हर स्थान पर नाम कीर्त्तनीय है। नाम परम स्वतन्त्र होने से किसी भी विधि-निषेध के आधीन नहीं है—सर्व कामनाओं की पूर्ति करने वाला है।

नाम सर्वशक्ति-सम्पन्न है—

स्वयंभगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जैसे अनन्त स्वरूपों में विराजित हैं तद्रूप उनका नाम भी अनन्तस्वरूपों में विराजित है। भगवान् के अनन्त नाम हैं। जिसकी जिस नाम में रुचि हो, वह उसी नाम का कीर्त्तन कर सकता है। समस्त नामों में समान शक्ति है। श्रीहरिभक्ति विलास (११-१३४) में कहा गया है :—

सर्व्वार्थ शक्तियुक्तस्य देवदेवस्य चक्रिणः।
यथाभिरोचते नाम तत् सर्वार्थेषु कीर्त्तयेत् ॥
सर्वार्थसिद्धिमांप्नोति नाम्नामेकार्थता यतः।
सर्वाण्येतानि नामानि परस्य ब्रह्मणो हरेः ॥

अर्थात्—भगवान् देव-देव चक्रधारी सर्वशक्ति सम्पन्न हैं। अतएव अपनी रुचि अनुसार उनके नामों का कीर्तन करना ही उचित है। परब्रह्म हरि के सभी नाम एकार्थ बोधक हैं। अतएव उनके सब नाम ही सर्वार्थ सिद्धि देने वाले हैं। अथच :—

दानव्रततपस्तीर्थक्षेत्रादिनांच याः स्थिताः,
शक्तयो देवमहतां सर्वपापहराः शुभाः।
राजसूयाश्वमेधानां ज्ञानस्याध्यात्मवस्तुनः,
आकृष्टा हरिणा सर्व्वाः स्थापिता स्वेषु नामसु ॥

(हरिभक्तिविलास ११-१९६)

अर्थात्—दान, व्रत, तपस्या, तीर्थयात्रादि, देवता-साधु-सेवा में तथा राजसूय व अश्वमेघ यज्ञों में एवं अध्यात्मवस्तु के ज्ञान में पाप-हारिणी जो शुभाशक्ति है, उस समस्त शक्ति को आकर्षण कर श्रीहरि ने अपने नामों में स्थापन कर दिया है. श्रीमन्महाप्रभु ने भी (शिक्षाष्टक-२) में कहा है :—

नाम्नामकारि बहुधा निजसर्वशक्ति-
स्तत्रार्पिता नियमितः स्मरणे न कालः।

एतादृशी तव कृपा भगवन्ममापि-
दुर्दैवमीदृशमिहाजनि नानुरागः ॥

"हे भगवन्! आपने अपने अनेक नामों को प्रकट किया है एवं उन सब नामों में अपनी समस्त शक्ति स्थापन की है। उनके स्मरण उच्चारण में किसी काल, नियम की अपेक्षा नहीं है। आपकी तो इतनी निस्सीम कृपा है, किन्तु मेरे फूटे भाग्यों का क्या कहना—आपके नामों में मेरा अनुराग ही नहीं हैं।

नाम सर्वसाधन-श्रेष्ठ है एवं सर्वार्थद है—

जो धर्म-अर्थ-काम—इस त्रिवर्ग की कामना करते हैं, वे अनेक प्रकार के कर्मों का अनुष्ठान करते हैं—उनके साधन को 'कर्म-मार्ग' कहा जाता है। कर्ममार्ग से मायाबन्धन की निवृति नहीं होती एवं आत्यान्तिकी दुख-निवृति भी नहीं होती—कर्मियों का यह काम्य भी नहीं है। जो परमात्मा के साथ संयोग चाहते हैं, उनके साधन का नाम 'योगमार्ग' है। जो निर्वि-शेषब्रह्म के साथ सायुज्य-तादात्म्य चाहने वाले हैं, उनके साधन पंथ को 'ज्ञानमार्ग' कहा जाता है। जो सालोक्यादि चतुर्विधा मुक्ति प्राप्त करके वैकुण्ठ में भगवत्-पार्षदत्व के इच्छुक हैं, उनके साधन का नाम 'भक्तिमार्ग'—ऐश्वर्यज्ञानयुक्ता भक्ति है। उनका भाव तदीयतामय है। तथा जो ऐश्वर्य-ज्ञान हीन शुद्धमाधुर्यमय मदीयता-भाव से स्वयंभगवान् श्रीब्रजेन्द्रनन्दन की प्रेम-सेवा चाहते हैं, उनके साधन को कहते हैं—शुद्धभक्ति-मार्ग। इन समस्त साधन-पंथों पर ही नाम-सङ्कीर्तन की व्याप्ति है—नाम-सङ्कीर्तन का विस्तार है। वह दो प्रकार से है—आनुषङ्गिकभाव से, साहचर्य्यदानरूप-व्याप्ति तथा स्वतन्त्ररूप-व्याप्ति।

प्रथमतः—कर्म, योग एवं ज्ञान मार्गों पर साहचर्य्यदानरूप व्याप्ति है—अभिधेय-तत्व में यह कहा जा चुका है कि भक्ति के साहचर्य्य बिना कर्म, योग एवं ज्ञानमार्गों के साधन अपना अपना फल प्रदान नहीं कर सकते। अतः कर्मयोग एवं ज्ञानमार्ग पर सहायकारिणीरूप से भक्ति की व्याप्ति है। तथा भक्ति के चतुषष्ठि अङ्गों पर नामसङ्कीर्तन ही व्याप्त है।

इससे स्पष्ट है कि कर्म-योगादि मार्गों पर सहायकारीरूप से नाम-सङ्कीर्तन की व्याप्ति है।

द्वितीयतः--समस्त साधनों पर नामसङ्कीर्तन स्वतन्त्ररूप से व्याप्त है। कर्म-योग-ज्ञानादि मार्गों के जिन अनेक साधनाङ्गों का शास्त्रों में वर्णन किया गया है, उन समस्त साधनाङ्गों का कुछ भी अनुष्ठान न करके, अपने अभीष्ट की कामना करते हुए, यदि केवल मात्र नाम-सङ्कीर्तन का आश्रय ग्रहण किया जाये, तो भी विभिन्न पंथों के साधक अपने अपने अभीष्ट-फल को प्राप्त कर सकते हैं। नाम-सङ्कीर्तन स्वतन्त्रभाव से वे समस्त फल प्रदान करने में समर्थ है।

श्रीमद्भागवत् (२-१-११) में भी कहा गया है :—

एतन्निर्विद्यमानानामिच्छतामकुतोभयम् ।
योगिनां नृप निर्णीतं हरेर्नामानुकीर्त्तनम् ॥

"हे राजन् ! फलाकांक्षी सकाम-व्यक्तियों की अभीष्ट प्राप्ति के विषय में, निर्वेद-भावापन्न मुमुक्षुओं की मोक्ष-प्राप्ति के विषय में, एवं योगियों के लिये परमात्मा-प्राप्ति के विषय में अर्थात् कर्मीयोगी-ज्ञानियों की स्व-स्व अभीष्टफल-प्राप्ति के विषय में श्रीहरिनाम कीर्त्तन ही एकमात्र विघ्नादि-आशंकाशून्य निरापद पंथ निर्णय किया गया है।"

गरुड़पुराण में भी यही कहा गया है :—(श्रीहरिभक्तिविलास११-२०७)

किं करिष्यति सांख्येन किं योगैर्नरनायक।
मुक्तिमिच्छसि राजेन्द्र कुरु गोविन्दकीर्त्तनम् ॥

"हे राजेन्द्र ! सांख्ययोग एवं अष्टाङ्गयोग से क्या होगा ? यदि तुम्हें मुक्ति की इच्छा है, तो गोविन्दनाम-कीर्तन कर।" ऐसे अनेक प्रमाण हैं, जिनसे यह जाना जाता है कि केवल मात्र नाम-सङ्कीर्तन से ही सकाम साधक उनके अभीष्ट-स्वर्गादि भोग प्राप्त कर सकते हैं, योगमार्ग के साधक उनके अभीष्ट—परमात्मा के मिलन को प्राप्त कर सकते हैं, एवं निर्व्विशेष ब्रह्मानुसंधानकारी उनके अभीष्ट—सायुज्यमुक्ति को प्राप्त कर सकते हैं, और नाम-सङ्कीर्तन से सालोक्यादि चतुर्विधामुक्ति प्राप्त करके साधक महा-

वैकुण्ठ या विष्णुलोक में पार्षदत्व प्राप्त कर सकते हैं—यह बात भी शास्त्रों द्वारा प्रमाणित है। उपर्युक्त आलोचना से स्पष्ट है कि भगवन्नाम ही सर्व-साधन श्रेष्ठ है एवं सर्वाभीष्टप्रद है।

श्रीकृष्ण-नाम का विशेषत्व—

ऊपर कहा जा चुका है कि भगवान् के समस्त नाम सर्वशक्ति सम्पन्न हैं एवं समान फल देने वाले हैं। यह नाम का साधारण माहात्म्य है। किसी किसी नाम का यह साधारण माहात्म्य तो है ही, उसके अतिरिक्त उसका कुछ विशेष माहात्म्य भी है। समस्त भगवत् स्वरूपों में सच्चिदानन्द एवं सर्वव्यापकत्वादि सामान्य लक्षण विद्यमान रहते हुये भी श्रीकृष्ण-स्वरूप में जैसे सौन्दर्य-माधुर्यादि का आधिक्य है, वैसे ही समस्त नामों में समान शक्ति एवं समानफलदातृत्व रहने पर भी भगवान् के किसी किसी नाम में विशेषत्व विद्यमान है। महाभारतोक्त श्रीविष्णु के सहस्र नामों के एक बार पाठ करने से जो फल मिलता है, वही फल केवल मात्र श्रीराम-नाम के एक बार कहने से प्राप्त होता है। यथा :—

राम रामेति रामेति रमे रामे मनोरमे।
सहस्रनामाभिस्तुल्यं रामनाम वरानने ॥

पद्मपुराण ७२।३३५

इससे श्रीरामनाम का विशेषत्व सूचित होता है। ब्रह्माण्ड-पुराण में कहा गया है कि श्रीविष्णुसहस्रनाम के तीन बार पाठ करने से जो फल मिलता है, वही फल श्रीकृष्ण नाम केवल एक बर उच्चारण करने से प्राप्त होता है :—

सहस्रनाम्नां पुण्यानां त्रिरावृत्यातु यत्फलम्।
एकावृत्यातु कृष्णस्य नामैक तत् प्रयच्छति ॥

(श्रीहरिभक्तिविलास ११।२५८)

इससे श्रीकृष्ण-नामका महिमाधिक्य सूचित होता है। यहाँ श्रीकृष्ण-नाम का अभिप्राय श्रीकृष्णावतार सम्बन्धी—गोपाल, वनमाली, गोवर्धन-धारी आदि सब नामों से है। कहा गया है :—

श्रीमन्नाम्नाञ्च सर्वेषां माहात्म्येषु समेष्वपि ।
कृष्णस्यैवावतारेषु विशेषः कोऽपि कस्यचित् ॥
(श्रीहरिभक्तिविलास ११।२५७)

"श्रीभगवान् के समस्त नामों का समान माहात्म्य होते हुये भी श्रीकृष्णावतार सम्बन्धी नामों का कुछ विशेष माहात्म्य है।" श्रीकृष्ण स्वयंभगवान् होने एवं उनमें समस्त शक्तियों का, समग्र सौन्दर्य-माधुर्यादि का पूर्णतम विकास होने से अन्य समस्त भगवत्-स्वरूपों से जैसे उनका एक विशेषत्व है, अन्य समस्त भगवत्-स्वरूपों के नामों से उसी प्रकार उनके नाम का भी एक विशेषत्व है। अन्यान्य भगवत्-स्वरूपों में मुक्ति-पर्यन्त प्रदान करने की क्षमता होने से उनके नाम में भी मुक्ति पर्यन्त फल प्रदान करने की सामर्थ्य है, किन्तु स्वयंभगवान् श्रीकृष्ण में ही केवल प्रेम-प्रदानत्व का विशेषत्व रहने से उनके श्रीकृष्ण-नाम में ही—(स्वयंभगवान् के किसी भी नाम में ही) प्रेम-दान की क्षमता है। प्रेम-दातृत्व की क्षमता श्रीकृष्ण-नाम का चरमतम वैशिष्ट्य है।

नाम का मुख्य-फल—भगवत्-प्रेमदायकत्व तथा भगवद्-वशीकारित्व—

ऊपर यह कहा जा चुका है कि सकाम साधकों के इह काल-परकाल के सुखभोगादि से लेकर पञ्चविधा मुक्ति पर्यन्त सर्वाभीष्ट केवल नाम-सङ्कीर्त्तन द्वारा ही प्राप्त किये जासकते हैं। सालोक्यादि चतुर्विधामुक्ति है—ऐश्वर्यज्ञानमिश्रा-भक्तिमार्ग का फल। किन्तु नाम संकीर्त्तन का इतना ही एकमात्र फल नहीं है, और न ही यह नाम-संकीर्त्तन का मुख्यफल है। नाम-संकीर्त्तन का मुख्यफल, परमफल है—भगवत्-प्रेम, जिसके फलस्वरूप भगवान् प्रीति लाभ करते हैं एवं नाम संकीर्त्तनकारी के वशीभूत हो जाते हैं। पूर्वोल्लिखित स्वर्गादि-सुखभोग एवं पञ्चविधा मुक्ति भी भगवान् देते हैं। नामकीर्त्तन द्वारा वे प्रीति लाभ करते हैं एवं प्रीति करके नामकीर्त्तन-कारी को उसका अभीष्ट प्रदान करते हैं। किन्तु जिस प्रीतिके वश होकर वे ये समस्त अभीष्ट देते हैं, वह प्रीति—नाम के मुख्यफल भगवत्-प्रेम से भगवान् के चित्त में उद्‌बुद्ध प्रीति नहीं है। फलकामी अथवा सायुज्यादि पञ्चविधामुक्ति कामी ये सब अपने अपने लिये कुछ चाहते हैं—कोई कुछ,

कोई कुछ। इन सबको इनका अभीष्ट देकर भगवान् मानो इनसे छुटकारा पा लेते हैं—लेखा चुका देते हैं। तथा साधक भी भुक्ति-मुक्ति प्राप्ति करके अपने को परम कृतार्थ मानते हुये ऐसा जानते हैं—उन्होंने जो कुछ भगवान् से चाहा था—वह प्राप्त हो गया हैं और अब उनकी कुछ प्रार्थना नहीं है। इस प्रकार जिनके मन की अवस्था है, भगवान् उनको नाम का मुख्यफल जो प्रेम हैं, वह नहीं देते। क्यों ?—

कृष्ण यदि छूटे भक्ते भुक्ति–मुक्ति दिया।
कभु प्रेम–भक्ति न देय, राखेन लुकाईया॥

यदि साधक भुक्ति-मुक्ति लेकर ही सन्तुष्ट हो जाये, तो भगवान् उसे प्रेम-भक्ति कभी नहीं देते—छिपाकर रखते हैं—वशीभूत होना पड़ता है न ! —प्रेम का अर्थ है—श्रीकृष्ण-सुखैक-तात्पर्यमयी सेवा-वासना। अत: जो ऐसा प्रेम चाहते हैं—जो अपने लिये कुछ चाहते नहीं, यहाँ तक कि संसार बन्धन-निवृत्ति भी नहीं चाहते, पञ्चविधा मुक्ति भगवान के देने पर भी ठुकरा देते हैं, जो केवल श्रीकृष्ण के लिये ही श्रीकृष्ण—सेवा चाहते हैं—जिनको उनके अपने लिये कुछ देने में तो भगवान् असमथ से रह जाते हैं, परन्तु जो कुछ वे चाहते हैं, उसके देने में स्वयंभगवान् को ही अपने लिये कुछ प्राप्त हो जाता है—उनके द्वारा किया हुआ अपना सुखकारी सेवन। ऐसे साधकों के साधन से संतुष्ट होकर यदि भगवान् उनके सामने आकर कहें—"कहो–क्या चाहते हो ?" प्रत्येक साधक यही कहेगा—"प्रभु, मैं चाहता हूँ केवल आपकी चरण-सेवा।" सत्यसंकल्प सत्यवाक् भगवान् के लिये "तथास्तु" ना कह कर अन्य उपाय ही क्या है ? भक्त को स्वीय चरण देने ही पड़ते हैं। बस इसी में ही वे बँध जाते हैं। फिर उस भक्त से छुट्टी पाने का उपाय नहीं है उसकी प्रीतिरज्जु द्वारा उसके चित्त में चिरकाल पर्यन्त आबद्ध होकर रहते हैं और इसीमें ही वे परम आनन्द का अनुभव करते हैं। सर्वेश्वर-सर्वशक्तिमान, परम स्वतन्त्र होते हुये भी भगवान् जिस प्रेम के निकट ऐसी वश्यता स्वीकार करते हैं, वह प्रेम ही साधन-भजन के सर्वाविध फलों में मुख्य फल है। जो भुक्ति-मुक्ति-वाञ्छा हीन होकर इस प्रकार के प्रेम की वासना को हृदय में पोषण करते हुये नाम–संकीर्त्तन करते हैं, वे उसके द्वारा ऐसे श्रीकृष्ण-वशीकरण शक्तिसम्पन्न प्रेम को प्राप्त कर सकते हैं। यही नाम–संकीर्त्तन का मुख्य फल है।

आदिपुराण में श्रीभगवान् अर्जुन के प्रति यही कहते हैं :—

गीत्वा च मम नामानि नर्तयेन्ममसन्निधौ ।
इदं ब्रवीमि ते सत्यं क्रीतोऽहं तेन चार्जुन ॥
गीत्वा च मम नामानि रुदन्ति मम सन्निधौ ।
तेषामहं परिक्रीतो नान्यक्रीतो जनार्दनः ॥

(श्रीहरिभक्तिविलास ११-२३१)

"हे अर्जुन !—जो मेरा नाम गान करते हुए मेरे सामने नृत्य करता है । मैं सत्य कहता हूं—मैं उसके हाथों विक जाता हूँ । जो मेरा गान करते हुए मेरे सामने रुदन करता है । मैं जनार्दन सर्वतोभावेन उसके वशीभूत हो कर रहता हूँ—अन्य किसी के नहीं ।"

भावार्थ यह है कि साधक नाम-सङ्कीर्तन द्वारा उस पंचम-पुरुषार्थ प्रेम को प्राप्त कर सकता हैं, जिस प्रेम के वशीभूत स्वयंभगवान् हैं । प्रेम का विकाश श्रीश्रीयुगलकिशोर की सेवा में ही है । अतः नाम-सङ्कीर्तन द्वारा जीव अपने स्वरूपानुबन्धि कर्तव्य श्रीश्रीयुगलकिशोर की सेवा (कृष्ण दासत्व) को प्राप्त करके कृतार्थ हो सकता है ।

श्रुति भी कहती है :—

एतदालम्बनं श्रेष्ठमेतदालम्बनं परम् ।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते ॥

(कठोपनिषत् १-२-१७)

तात्पर्य यह है कि परब्रह्म-श्रीकृष्ण-प्राप्ति के जितने भी आलम्बन या साधन हैं, उनमें श्रीकृष्ण-नाम ही सर्वश्रेष्ठ साधन है । इस साधन को जान लेने पर—नाम-नामी का अभेदत्व अनुभव कर लेने पर जीव भगवत् धाम में—श्रीवृन्दावन धाम में श्रीश्रीयुगलकिशोर की चरणसेवा को प्राप्त कर कृतार्थ हो जाता है ।

नाम की असाधारण कृपा—

"नाम"—शब्द का मुख्यार्थ विचार करने से नाम की असाधारण कृपा का परिचय मिलता है । 'नम"—धातु से "घञ" प्रत्यय करने पर

"नाम"— शब्द निष्पन्न होता है। "नम" धातु का अर्थ है—नवना, झुकना। "नमयति इति नाम"— "नाम"—शब्द का अर्थ है नवाने वाला—झुकाने वाला। किसको झुकाने वाला?—नामग्रहणकारी को तथा नामी-श्रीभगवान् को। नामग्रहणकारी को तो देहावेशजात अभिमानरूप पर्वत से भक्ति के अनुकूल दैन्यरूप महानिधि की ओर झुकाता है—अभिमान दूर करके चित्तको विशुद्ध करता है, तथा श्रीभगवान् को अपने धाम से नाम-ग्रहणकारी के निकट लाकर झुका देता है, अर्थात् श्रीभगवान् को नाग-ग्रहणकारी के ऐसा वशीभूत करदेता है कि श्रीभगवान् अपने धाम से अवतीर्ण होकर उसे कृतार्थ करते हैं।

नाम-नामी अभिन्न हैं। श्रीकृष्ण की भांति उनका नाम भी सच्चिदानन्द विग्रह है। सच्चिदानन्दमय वस्तु कभी भी प्राकृत-इन्द्रियों द्वारा ग्राह्य नहीं हो सकती। अतः श्रीकृष्णनामादि सच्चिदानन्दमय होने के कारण प्राकृत-इन्द्रिय द्वारा ग्रहणीय नहीं है। जीव अपनी प्राकृत-इन्द्रिय-जिह्वा द्वारा अपनी चेष्टा से भगवन्नाम ग्रहण नहीं कर सकता। ऐसा होने पर जीव किस रूप में भगवन्नामादि का कीर्तन कर सकता है?—इसके उत्तर में भक्तिरसामृत सिन्धु—१०९ में यह कहा है :—

अतः कृष्णनामादि न भवेद्ग्राह्यमिन्द्रियैः।
सेवोन्मुखे हि जिह्वादौ स्वयमेव स्फूरत्यदः॥

अर्थात् श्रीकृष्णनामादि (नाम, लीला, रूप, गुणादि) प्राकृत-इन्द्रियों द्वारा ग्रहणीय नहीं हैं। जिह्वादि-इन्द्रियों के श्रीकृष्णनामादि की सेवा में (ग्रहण करने में) प्रवृत होने पर, इन इन्द्रियों पर नामादि स्वयं ही स्फूरित होते हैं"—स्वप्रकाश होने से। तात्पर्य यह है कि जीव की जिह्वादि इन्द्रिय यदि नामग्रहणादि के लिये उन्मुख हों, तो नामादि कृपा करके अपने आप ही जिह्वादि पर उदय होते हैं। नाम-सङ्कीर्तन करने की इच्छा करने पर—मन और जिह्वा से चेष्टा करने पर नाम स्वयं कृपा करके जिह्वा को नामसङ्कीर्तन की योग्यता प्रदान करता है।

सेवोन्मुख जीव के नर-देह के अतिरिक्त अन्य देह में अवस्थित होने पर भी, उसकी जिह्वा पर श्रीकृष्णनामादि स्फूरित होते हैं—यह बात

श्रीमद्भागवत् से सिद्ध है। भरत महाराज को मृग-शावक की आसक्तिवश मृग-देह की प्राप्ति हुई। इस मृग-देह को परित्याग करते समय उन्होंने—"नारायण हरये नमः" (५-४-४५) इत्यादि रूप से स्तुति करते हुये श्रीभगवान् को नमस्कार किया। ग्रह द्वारा आक्रान्त गजेन्द्र जब अपनी समस्त चेष्टाएं करके अपनी रक्षा करने में निराश होगया एवं अपनी सम्पूर्ण शक्ति को निशेष कर चुका, तब भाग्यवश उसके चित्त में सर्वशक्तिमान, सर्वरक्षाकर्ता भगवान् की स्मृति हो आई। उसने अपनी रक्षा के लिये भगवान् के शरणागत होने के उद्देश्य से उनकी स्तुति करने की ज्योंही इच्छा की "ॐ नमो भगवते तस्मै" इत्यादि (८-३-२) स्तववाक्य उसकी जिह्वा पर स्फूरित हो उठे। श्रीमन्महाप्रभु जब झारिखण्ड के पथ से श्री वृन्दावन जा रहे थे, तब उनकी कृपा से वहाँ के व्याघ्र-भल्लुक-हस्ति आदि के मुख से श्रीकृष्णनाम स्फूरित हो उठा था। सारार्थ यह है कि जीव के श्रीकृष्णनाम ग्रहण करने की इच्छा मात्र करने पर नाम स्वतः स्फूरित हो उठता है, किन्तु नामी श्रीभगवान् के दर्शन की इच्छा मात्र करने पर भगवान् किसी को दर्शन नहीं देते। यह है नामी से नाम की असाधारण कृपा का वैशिष्ट्य।

नाम स्वप्रकाश होने से जिस किसी जीव की जिह्वा पर आत्म-प्रकाश कर सकता है, उस जीव की नामकीर्तन करने की इच्छा हो अथवा न भी हो। किसी किसी भाग्यवान् व्यक्ति की जिह्वा द्वारा निद्रित अवस्था में भी नाम उच्चारित होता हुआ सुना जाता है—यह है नाम की अपूर्व कृपा, जो किसी अन्यसाधनाङ्ग में नहीं देखी जाती।

नाम की असाधारण कृपा का और एक वैशिष्ट्य यह है कि—जगत् के मङ्गल निमित्त भगवान् अवतीर्ण होते हैं, उनका नाम भी अवतीर्ण होता है। किन्तु यथासमय भगवान् तो अन्तर्धान हो जाते हैं किन्तु नाम नहीं। जीव को कृतार्थ करने के लिये एवं जिस उद्देश्य को लेकर भगवान् अवतीर्ण होते हैं, भगवान् के अन्तर्धान हुए पीछे भी उसी उद्देश्य की सिद्धि के लिये नाम जगत् में नित्य विराजता है।

नामापराध-खण्डनत्व में भी नाम की असाधारण कृपा का परिचय मिलता है। नामापराधयुक्त नामकीर्तनकारी नाम के मुख्य फल—प्रेम को

प्राप्त नहीं कर सकता, किन्तु नाम ही उन समस्त नामापराधों का खण्डन करके नाम के मुख्यफल प्रेम को प्रदान करता है। यथा :—

जाते नामापराधेऽपि प्रमादेनकथञ्चन।
सदा सङ्कीर्तयन्नामं तदेकशरणो भवेत्॥

नामापराधयुक्तानां नामान्येव हरन्त्यघम्।
अविश्रान्तप्रयुक्तानि तान्येवार्थ कराणि च॥

(श्रीहरिभक्तिविलास ११-२८-७, ८)

अनवधानतावश किसी प्रकार का नामापराध हो जाने पर, सर्वदा नाम-सङ्कीर्तन करते हुए नाम की शरणापन्न होना ही कर्तव्य है। नामापराधयुक्त पुरुषों के समस्त पाप-अपराध भगवन्नाम ही हर लेता है। निरन्तर नाम-सङ्कीर्तन करने से नाम का मुख्यफल—प्रेम प्राप्त होता है।

नाम-अक्षर अप्राकृत चिन्मय है—

नाम एवं नामी अभिन्न होने से नामी की भांति नाम भी पूर्ण, नित्य शुद्ध अप्राकृत चिन्मय है। श्रीमन्महाप्रभु ने कहा है :—

कृष्णनाम, कृष्णगुण, कृष्णलीलावृन्द।
कृष्णेर स्वरूपसम सब चिदानन्द॥

"कृष्णनाम, कृष्णगुण एवं कृष्णलीलाएं ये समस्त श्रीकृष्ण के स्वरूप की भांति चिदानन्दमय हैं।" नाम चिन्मय होने से नाम के अक्षर-समूह भी अप्राकृत चिन्मय हैं। प्राकृत अक्षरों में भगवान् का नाम लिखा हुआ प्राकृत नहीं रहता। प्राकृत भक्ष-पेय आदि भगवान् के अर्पित हो जाने पर जैसे चिन्मय हो जाते हैं, प्राकृत दारू-पाषाणादि द्वारा निर्मित भगवद्-विग्रह भगवत्-अधिष्ठित होने पर जैसे चिन्मय हो जाते हैं, तद्रूप प्राकृत-अक्षरों द्वारा लिखित भगवन्नाम भी अप्राकृत-चिन्मय हो जाता है। कारण कि उन्हीं अक्षरों से सच्चिदानन्द रसस्वरूप नाम का आविर्भाव होता है। नराकृति परब्रह्म श्रीकृष्ण के तत्व को न जानकर उन्हें जैसे बहिर्मुख अज्ञानी जीव प्राकृत मानुष समझते हैं (अवजानन्ति मां मूढ़ा—इत्यादि श्रीगीता ९-११)। उसी प्रकार नाम के तत्व को न जानकर मूर्ख ही नाम-

अक्षर को प्राकृत जानते हैं। वस्तुतः नराकृति परब्रह्म जैसे सच्चिदानन्द हैं, उनका नाम एवं नाम-अक्षर भी उसी प्रकार सच्चिदानन्द है। इसलिये श्रुति ने भी नामाक्षर को ब्रह्म-सच्चिदानन्द कहा है :—

"एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म ॥"

प्राकृत जिह्वा द्वारा जो नाम उच्चारित होता है—वह भी अप्राकृत चिन्मय है। पूर्ण, शुद्ध एवं नित्यमुक्त होने से जिह्वा का प्राकृतत्व उसे आवृत नहीं कर सकता। नाम जिह्वा पर नृत्य करते करते वरं जिह्वा के प्राकृतत्व को नाश कर देता है। प्राकृत जिह्वा द्वारा उच्चारित नाम यदि प्राकृत-शब्द ही रहता, तो अजामिल के अशेष पापराशि नाश न होते—और न ही उसे वैकुण्ठ प्राप्ति होती। इसी प्रकार प्राकृत कर्णों द्वारा जो नाम सुना जाता है, प्राकृत मन द्वारा जो नाम स्मरण किया जाता है, प्राकृत चक्षुओं द्वारा जो नामाक्षर दर्शन किया जाता है तथा प्राकृत त्वचा द्वारा जो नाम लिखा जाता है वह नाम भी अप्राकृत चिन्मय है।

नाम पूर्णता-विधायक है—

नामी की भांति नाम भी पूर्ण है। इसकी पूर्णता के लिये और किसी साधन का प्रयोजन नहीं है। किन्तु नाम ही अन्य अनुष्ठानों की पूर्णता विधान करता है। श्रीमद्भागवत (८-२३-१६) में कहा है—

मन्त्रतस्तन्त्रतश्छिद्रं देशकालार्हवस्तुतः।
सर्वं करोति निश्छिद्रं नामसङ्कीर्तनं तव ॥

"मन्त्रों में स्वरभ्रंशादि द्वारा, तन्त्रों में क्रम-विपर्य्ययादि द्वारा एवं देश, काल, पात्र व वस्तु से अशुद्धि आदि द्वारा और दक्षिणादि द्वारा जो अङ्गहानि हो जाती है, वह समस्त आपके नामसङ्कीर्तन से पूर्ण हो जाती है।" तपस्या, यज्ञ एवं अन्यान्य क्रियाएं भी भगवान् के स्मरण एवं नाम-उच्चारण से ही सम्पूर्णता को प्राप्ति होती हैं। यहां तक कि नवधाभक्ति भी नामसङ्कीर्तन के द्वारा ही पूर्णता लाभ करती है।

सर्व-वेदों से नाम का माहात्म्य अधिक है—

श्रीहरिभक्तिविलास (११-१८१) में कहा गया है कि :—

ऋग्वेदो हि यजुर्वेदः सामवेदोऽप्यथर्वणः ।
आधीनता स्तेन येनोक्तं हरिरित्यक्षरद्वयम् ॥

"जो 'हरि' यह दो अक्षर उच्चारण करते हैं, इस उच्चारण में ही उनसे ऋग्वेद, यजुर्वेद, समावेद और अथर्ववेद अधीत हो जाते हैं।" स्कन्द-पुराण में श्रीपार्वती जी कह रहीं हैं :—(श्रीहरिभक्तिविलास ११-१८२)

मा ऋचो मा यजुस्तात मा साम पठ किंचन ।
गोविन्देति हरेर्नाम गेयं गायस्व नित्यशः ॥

"हे वत्स ! तू ऋग्, यजु एवं साम वेद पाठ मत कर । श्रीहरि का 'गोविन्द' यह नाम गान करने योग्य है, तू नित्य इस 'गोविन्द' नाम का गान कर।"

सर्व तीर्थों से नाम का माहात्म्य अधिक है—

पद्मपुराण में कहा गया है :—(श्रीहरिभक्तिविलास ११-१८४)

कुरुक्षेत्रेण किं तस्य किं काश्या पुष्करेण वा ।
जिह्वाग्रे वसते यस्य हरिरित्यक्षरद्वयम् ॥

"जिस की जिह्वा पर 'हरि' ये दो अक्षर विराजते हैं, उसको कुरुक्षेत्र से क्या प्रयोजन ? काशी पुष्कर से क्या प्रयोजन ?— कुछ नहीं ।

वामनपुराण में कहा गया है:—(हरिभक्तिविलास ११ १८४)

तीर्थकोटिसहस्राणि तीर्थकोटिशतानि च ।
तानि सर्व्वाण्यवाप्नोति विष्णोर्नामानुकीर्त्तनात् ॥

"शतकोटि तीर्थ कहिये किंवा सहस्रकोटि तीर्थ कहिये, विष्णु नाम-सङ्कीर्त्तन से वे समस्त प्राप्त हो जाते हैं।"

समस्त सत्कर्मों से नाम का माहात्म्य अधिक है—

लघुभागवत (हरिभक्तिविलास ११-१८६) में कहा गया है:—

गोकोटिदानं ग्रहणे खगस्य प्रयाग-गङ्गोदक-कल्पवासः ।
यज्ञायुतं मेरुसुवर्णदानं गोविन्दकीर्त्ते र्न समं शतांशैः॥

"सूर्य ग्रहण काल में कोटि गोदान, प्रयाग में गङ्गाजल में कल्पवास, अयुत यज्ञ, सुमेरु सदृश सुवर्णदान—ये समस्त श्रीगोविन्दनामकीर्त्तन के शतांश के एक-अंश के तुल्य भी नहीं हैं।"

श्रीनामसङ्कीर्त्तन का असाधारण माहात्म्य समस्त वेदों, उपनिषदों पुराणों, स्मृति-श्रुति आदि में विस्तरतः वर्णित है। वस्तुतः श्रीनाम का माहात्म्य अनिर्वचनीय है, अनन्त है। ग्रन्थ साफल्य एवं चित्तेन्दियकाय-पावनार्थ उसका यत्किञ्चित उल्लेख यहाँ किया गया है।

नाम सर्व-महाप्रायश्चित्त है—

श्रीगरुड़पुराण में कहा है:—

नाम्नोऽस्ति यावती शक्तिः पापनिर्हरणे हरेः ।
तावत्कर्त्तुं न शक्नोति पातकं पातकी जनः ॥

"श्रीहरिनाम में पापों के नाश करने की जितनी शक्ति है, पापीपुरुष उतने पाप करने के लिये ही समर्थ नहीं हो सकता"—नाम समस्त पापों को नाश कर देता है। इतना ही नहीं, श्रीहरिभक्तिविलास में कहा गया है कि:—

वर्त्तमानन्तु यत् पापं यद्भूतं यद् भविष्यति ।
तत् सर्व्वं निर्दहत्याशु गोविन्दानल कीर्त्तनात् ॥

"द्वादशाब्दादि जितने प्रायश्चित हैं, उनके द्वारा केवल पाप नष्ट होते हैं— किन्तु पाप के संस्कार नहीं। नाम समस्त पापों को मूल से उत्पाटन कर देता है। अतः नामकीर्त्तन से वर्त्तमान एवं भूतकाल में किये हुए पाप तो नष्ट होते ही हैं, भविष्यत के पाप भी विनष्ट हो जाते हैं। इसलिये नाम ही सर्व-महाप्रायश्चित है।

नाम स्वतः ही परम-पुरुषार्थ है –परम-धर्म है—

नामी की भांति नाम भी रसस्वरूप है, परममधुर है। रसस्वरूप परब्रह्म की प्राप्ति में जैसे जीव की परम-पुरुषार्थता है, उसी प्रकार नाम की प्राप्ति में अर्थात् नाम के रसस्वरूप एवं माधुर्य की अपरोक्ष अनुभूति में जीव की परम-पुरुषार्थता है। नाम केवल उपाय ही नहीं, उपेय भी है—केवल साधन ही नहीं, परम साध्य भी है—"नाम मधुर से मधुर समस्त मङ्गलों में मङ्गलस्वरूप है—नाम से समस्त मङ्गलों का आविर्भाव है। नामसच्चिदानन्द रसस्वरूप है। नाम समस्त-निगम (उपनिषत्) रूप कल्प-लता का अत्युत्कृष्ट फल है। श्रद्धा या अवहेलना से भी यदि श्रीकृष्ण-नाम एकबार कीर्तित हो जाय, उससे नरमात्र का उद्धार हो जाता है"—यथाः—

मधुर मधुरमेतन्मङ्गलं मङ्गलानाम्-
सकल-निगमवल्ली सत्फलं चित्स्वरूपम्।
सकृदपि परिगीतं श्रद्धया हेलया वा-
भृगुवर ! नारमात्रं तारयेत् कृष्णनाम ॥

(हरिभक्तिविलास ११।२३४)

श्रीमन्महाप्रभु ने (शिक्षाष्टक-१) कहा हैः—

चेतोदर्पण मार्ज्जनं भवमहादावाग्निनिर्व्वापणं,
श्रेयः कैरवचन्द्रिकावितरणं विद्यावधू जीवनम्।
आनन्दाम्बुधिवर्द्धनं प्रतिपदं पूर्णामृतास्वादनं,
सर्व्वात्मस्नपनं परं विजयते श्रीकृष्णसङ्कीर्त्तनम् ॥

"श्रीकृष्ण सङ्कीर्तन चित्तरूप दर्पण को मार्जित करता है— चित् की दुर्वासना रूप मलिनता को हटाकर शुद्ध करता है, जिससे श्रीकृष्ण तथा श्रीकृष्ण धाम (जो सर्वग, विभु होने से चित्त के अत्यन्त निकटतम हैं) चित्त में सदा स्फूरित होने लगते हैं। श्रीकृष्ण सङ्कीर्तन संसार दावाग्नि को (जो दुर्वासनाओं के परस्पर सङ्घर्ष से अपने आप ही उत्पन्न होती है एवं सहज में बुझाई नहीं जा सकती) बुझाने वाला है। श्रीकृष्णसङ्कीर्तन जीव के

मङ्गलरूप कमलों को प्रफुल्लित करने में ज्योत्सना विस्तार करने वाला है, अर्थात् मायाबद्ध जीव के चित्त में कृष्ण-सेवोन्मुखतारूप मङ्गल-सेवा-वासना विकसित करता है। श्रीकृष्णसङ्कीर्तन विद्यावधू-कृष्णभक्तिरूप वधू (जो कोमल-स्वभावा, सेवा-परायणा, मधुरभावा एवं आत्मगोपनचेष्टिता है) का जीवन-प्राणतुल्य है। अर्थात् इसके बिना कृष्णभक्ति उन्मेषित नहीं हो सकती एवं स्थायित्व भी प्राप्त नहीं कर सकती। श्रीकृष्णसङ्कीर्तन भक्त के हृदय में आनन्द-समुद्र को सर्वदा उद्वेलित किये रखता है—आनन्द की नाना वैचित्री को प्रकाशित करता है। श्रीकृष्णसङ्कीर्तन प्रतिपद में, प्रति अक्षर में कीर्तनाकरी को पूर्णमाधुर्य का पूर्ण-आस्वादन कराता है। श्री-कृष्ण-सङ्कीर्तन समस्त जीवों के—अनादिकाल से संसारमरु भूमि में भ्रमण शील त्रिताप-ज्वाला-दग्ध जीवों के देह-मन-इन्द्रियों को आनन्दरस में संप्लावित करता है—अभिषिक्त कर देता है।—ऐसा जो श्रीकृष्णसङ्कीर्तन है—श्रीकृष्णनाम, रूप, गुण, लीलादि का सङ्कीर्तन है, उसकी जय हो—विशेषरूप से, सर्वोत्कर्षरूप से विराजित है।" अतः श्रीकृष्णसङ्कीर्तन ही परमधर्म है। श्रीमद्भागवत् (६-३-२२) में भी कहा है कि भगवन्नाम ग्रहण पूर्वक भक्ति योग का अनुष्ठान ही जीवों के लिये परमधर्म है।

नाम-सङ्कीर्तन एवं वागिन्द्रिय का वैशिष्ट्य—

नाम-सङ्कीर्तन से श्रीभगवान् के नामादि का सङ्कीर्तन ही अभिप्रेत है। सङ्कीर्तन शब्द का अर्थ श्रीपाद जीव गोस्वामी ने—'कृष्णवर्णं त्विषा-कृष्णम्'—इत्यादि (श्रीमद्भागवत् ११-५-३) श्लोक की टीका में इस प्रकार किया है—

"सङ्कीर्तनं बहुभिर्मिलित्वा तद्गानसुखं श्रीकृष्णगानम्।"—

बहुत व्यक्तियों द्वारा एकत्र मिलकर उच्च स्वर से श्रीकृष्ण के नाम, रूप, गुण, लीलादि के कीर्तन को—गान करने को 'नाम-सङ्कीर्तन' कहते हैं। तथा—"श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं"— इत्यादि (श्रीमद्भागवत् ७-५-२३) श्लोकस्थ कीर्तन शब्द का अर्थ उन्होंने यह भी किया है—**"नाम कीर्तनञ्चेदनुच्चैरेव प्रशस्तम्"**—नाम कीर्तन उच्चस्वर से करना ही प्रशस्त है।" तात्पर्य यह है कि सम्यक्रूप से उच्चारण-पूर्वक कीर्तन—अर्थात्

उच्चभाषण ही सङ्कीर्तन है। श्रीमन्महाप्रभु का अभिप्राय भी इसी प्रकार के अर्थ से है। उनकी एवं अन्य शास्त्रों की जहां यह आज्ञा है कि—खाते, पीते, उठते बैठते, चलते-फिरते, जागते-सोते एवं श्वास प्रति श्वास में नाम-सङ्कीर्तन परम कर्तव्य है—वहां नामसङ्कीर्तन से बहु-व्यक्तियों द्वारा मिलित नाम-सङ्कीर्तन से अभिप्राय नहीं है; कारण कि उपर्युक्त समस्त अवस्थाओं में वहु-व्यक्तियों का मिलकर सङ्कीर्तन करना असम्भव है। अतः नाम-सङ्कीर्तन का अभिप्राय उच्चस्वर से नाम उच्चारण करने में है—चाहे वह बहुत व्यक्तियों द्वारा हो अथवा एक व्यक्ति द्वारा किया जाये।

उच्चस्वर में नाम कीर्तन द्वारा औरों की सेवा भी सम्पादित होती है। स्थावर जङ्गमादि उस नाम को सुनकर धन्य हो सकते हैं। उच्चस्वर में उच्चारित नाम उच्चारणकारी के अपने कानों को भी पवित्र करते हुए उसके चित्त पर प्रभाव विस्तार करता है एवं जिह्वा को भी संयत कर देता है।

श्रीहरिदासठाकुर निर्जन वन में एकान्त कुटिया में रहकर प्रतिदिन एक लक्ष नाम उच्चस्वर में ही कीर्तन करते थे। श्रीमन्महाप्रभु भी उच्च-स्वर में तारक ब्रह्मनाम कीर्तन करते थे। अतः श्रीहरिनाम सुस्पष्ट उच्चारण पूर्वक उच्चस्वर में—अन्ततः जो अपने कानों से सुना जा सके—इस भाव से नामकीर्तन करना ही अभिहित है। इस भाव में नाम-कीर्तन करने से नाम के प्रति मनोयोग आकृष्ट होने की अधिक सम्भावना है—अन्य शब्दों को कानों में प्रवेश करके चित्त को विक्षिप्त करने का अवकाश नहीं रहता। अवश्य मनोयोग-विहीन नामकीर्तन से भी पाप दूर हो जाते हैं, मुक्ति भी प्राप्त हो जाती है, किन्तु नाम के मुख्य फल—प्रेम-प्राप्ति की सम्भावना कम होती है।

नामकीर्तन के साथ साथ शास्त्रों में नाम-जप का, नाम-स्मरण का एवं नाम-श्रवण का भी माहात्म्य वर्णित है। नाम-जपसे तीन प्रकार के जप वाचक-उपांशु एवं मानसिक में से उपांशु-जप से ही तात्पर्य है, जिसमें नाम अथवा मन्त्र धीरे धीरे उच्चारित होता है, होंठ भी किंचितमात्र चालित होते हैं एवं मन्त्र या नाम केवल अपने श्रुतिगोचर होता रहता है। वाचक-जप तो कीर्तन के अन्तर्गत है एवं मानसिक जप स्मरणात्मक है।

किन्तु उच्चस्वर में नाम-कीर्तन का माहात्म्य सर्वाधिक है। विषय-मलिन एवं चंचलचित्त की नाम में प्रीति तथा स्थिरता नहीं होती--जिसके लिये अभ्यास की आवश्यकता है। अतएव प्रतिदिन निर्दिष्ट संख्यायुक्त (मालादि द्वारा) नामकीर्तन करना ही कर्तव्य है। इस प्रकार के नामकीर्तन द्वारा नाम की कृपा से चित्त जब शुद्ध हो जाता है, तब नाम का माधुर्य अनुभव होता है एवं साधक के चित्त-इन्द्रिय-काय उस आनन्दरस में अहर्निश प्लावित रहते हैं। प्रतिदिन नियमित-संख्यक नामकीर्तन कर लेने के पश्चात् भी नामकीर्तन करना अवैध नहीं है। कारण कि सर्वावस्थाओं (खाते-पीते-सोते) में संख्यक नामकीर्तन की सम्भावना नहीं हो सकती। श्रीमन्महाप्रभु ने कहा है :—

"सर्वमन्त्रसार नाम एई शास्त्र मर्म"

"समस्त शास्त्रों का मर्म-रहस्य यही है—कि नाम ही सर्व मन्त्र-सार है--महामन्त्र है। दीक्षा-मन्त्रादि के लिये साधारणतः अन्य के श्रुतिगोचर न करते हुए उच्चारण करने का नियम है, किन्तु नाम-रूप महामन्त्र का उच्चारण उच्चस्वर में ही श्रीगोस्वामीपादगण ने अभिहित किया है। अन्य मन्त्रों की दीक्षा लेने का प्रयोजन है, स्थान-आसनादि एवं शौच-अशौच-विधानादि का विचार रखना आवश्यक है। किन्तु नामरूप महामन्त्र परम-स्वतन्त्र है--किसी विधि-निषेध के अधीन नहीं है।

नामकीर्तन का सर्वाधिक माहात्म्य इसलिये भी है कि वागिन्द्रिय (वाणी) समस्त इन्द्रियों की चालक है एवं वागिन्द्रिय के संयत होने पर अन्यान्य इन्द्रियाँ संयत हो जाती हैं। यथा :—"**अग्नि र्वैव वाग्भूत्वा प्राविशत्**" इस श्रुति का तात्पर्य यह है कि—जीव के मनुष्यादि देह में जो वाक् इन्द्रिय है—वह अग्नि है। वह वाक्‌रूपा अग्नि शारीरिक प्राणाग्नि का अंश है। मनुष्य की वागिन्द्रिय के व्यापार में प्राणशक्ति की प्रधान क्रिया ही प्रकाशित होती है। अपरिमित बोलने से शरीर जितना दुर्बल एवं मन जितना विक्षिप्त हो जाता है, तथा प्राणों की गति जितनी असमान हो जाती है, उतनी दुर्बलता, विक्षेप्तता एवं असमानता अन्य किसी इन्द्रिय की चालना में नहीं होती। अग्निरूपी वागिन्द्रिय की यथायोग्य परिचालना से प्राण असमानगति रहित होकर पुष्ट होते हैं—प्राणशक्ति वर्द्धित होती है।

इसलिये ही योग-शास्त्रान्तर्गत अष्टाँग-योग-साधनों में "नियम"—नामक साधनान्तार्गत 'स्वाध्याय' एवं जप द्वारा वागिन्द्रिय की परिमित चालना की व्यवस्था विहित है। जप (उपांशु-जप) ही प्राणाग्नि के लिये पुष्टिकर आहार्य्य है। अतएव नामकीर्तन द्वारा साधक की प्राणाग्नि वीर्यशाली हो उठती है। वाक्-चक्षु-श्रोत्रादि—समस्त इन्द्रियों का व्यापार प्राणों के अधीन है। नामकीर्तन द्वारा प्राण पुष्टि होती है, इसके फलस्वरूप समस्त इन्द्रियों की पुष्टि होती है एवं उनका व्यापार केन्द्रित हो जाता है—मन के साथ वे स्थिर हो जाती हैं—सारांश यह है कि नामकीर्तन द्वारा वागिन्द्रय संयत होती है तथा उसके संयत होने पर अन्यान्य समस्त इन्द्रियां संयत होती हैं, जिससे मन स्थिर होकर निरन्तर नाम का माधुर्य आस्वादन करके जीव कृतार्थ हो जाता है।

"कलौ केशव-कीर्तनात्"—

नाम और नामी की अभिन्नता नित्य है। अतः नाम का असाधारण माहात्म्य—सर्वसाधन-श्रेष्ठत्व, सर्वाभीष्ट-प्रदानत्व, परम-पुरुषार्थत्व आदि (जो समस्त पीछे कहा जा चुका है) वह समस्त नित्य है। सत्य, त्रेता, द्वापर एवं कलि—इन चारों युगों में ही नाम अपने असाधारण माहात्म्ययुक्त नित्य सर्वोपरि विराजमान है। तथापि कलियुग में नाम को परम-उपाय कथनपूर्वक उसको कलियुग से विशेष सम्बन्धान्वित किया गया है। केवल-मात्र नाम के माहात्म्य को लक्ष्य करके नहीं, परन्तु कलियुग के जीवों की अवस्था को लक्ष्य करते हुए ऐसा कहा गया है। कलि के जीव हीन-शक्ति एवं अल्पायु हैं। उनमें देहावेश अत्यन्त गाढ़ है एवं तज्जनित इन्द्रिय-लालसा भी अत्यन्त बलवती है, संयम का तो सर्वथा अभाव ही है। सत्यत्रेतादि के जीवों की अवस्था कलि के जीवों की अवस्था से उन्नततर होती है। कलिजीवों का भवरोग जब कि अत्यन्त घोर एवं सांघातिक है, तब उसके प्रतिकार के लिये उसी प्रकार की अमोघ औषध का भी प्रयोजन है। नाम सङ्कीर्त्तन ही अमोघ औषध है। श्रद्धा से हो, अवहेलना से हो, जिस किसी भी रूप में क्यों न हो, नाम उच्चारण करने से जब भवरोग से मुक्ति प्राप्त की जा सकती है—सर्वाभीष्ट एवं सर्वसाध्य सार पंचम पुरुषार्थ प्रेम की भी प्राप्ति की जा सकती है, तब—नाम ही असंयत चित्त इन्द्रियासक्त

दुर्बल कलिजीवों के लिये प्रकृष्ट औषध है—इसमें संशय ही क्या है ? अन्य-साधनों में चित्तसंयम का कुछ न कुछ अवश्य प्रयोजन है, विशेषत: अन्य साधन नाम के समान शक्तिशाली भी तो नहीं है। अतएव वे कलिजीवों के लिये सहजसाध्य भी नहीं है। अन्यान्य साधनों में विधिनिषेध की अपेक्षा है, किन्तु केवल भवरोग से मुक्ति पाने के लिये तो नामसङ्कीर्त्तन में किसी भी विधिनिषेध की अपेक्षा नहीं है। कलिजीवों की बहिर्मुखता इतनी निबिड़ है कि वे विधिनिषेध से भयभीत हो उठते हैं। उनके लिये नाम-सङ्कीर्त्तन ही सर्वश्रेष्ठ उपाय है। यहाँ तक कि जो कलिजीव भगवान् का अस्तित्व भी स्वीकार नहीं करते, उनके लिये भी अमोघ उपाय है—केवल नामसङ्कीर्त्तन। श्रीवृहन्नारदीय पुराण में (३८-१२६) कहा गया है कि :—

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम् ।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येव गतिरन्यथा ॥

"कलियुग में और गति नहीं है—केवल हरिनाम ही गति है। कलियुग में और गति नहीं है—केवल हरिनाम ही गति है। कलियुग में और गति नहीं है—केवल हरिनाम ही गति है।" कलियुग में केवल हरिनाम ही गति है और गति नहीं हैं—इस बात की दृढ़ता के लिये ही उक्त श्लोक में "हरेर्नाम" एवं "नास्त्येव"—शब्द तीन बार कहे गये हैं, तथा निश्चयात्मक "एव"—शब्द का प्रयोग करके शास्त्र-मर्म निर्णय करने में असमर्थ पुरुषों को सुस्पष्ट-रूप में बताया गया है कि हरिनाम के बिना कलियुग में अन्य कोई भी गति नहीं है।

अथवा—कलियुग में कर्म, योग एवं ज्ञान—इन तीनों की कोई सार्थकता नहीं है—एक मात्र हरिनाम ही श्रेष्ठ उपाय है—इस बात को स्पष्टरूप से बताने के लिये तीन बार "हरेर्नाम"—शब्द का प्रयोग किया गया है। हरिनाम ही गति है—कर्म नहीं। हरिनाम ही गति है—योग नहीं, हरिनाम ही गति है ज्ञान नहीं।

अथवा—इस जगत् में कोई भी पुरुष क्षण भर के लिये बिना कर्म किये नहीं रह सकता। सब जीव प्राकृतगुणों के वशीभूत होकर कर्म करते रहते हैं, तथा स्वर्ग-नरक आदि में जाकर उन कर्मों का फल भोगते है।

अतः जो पुरुष सात्विक कर्मों में लिप्त हैं, उनके लिये कलियुग में केवल हरिनाम ही गति है—और गति नहीं। जो राजस कर्मों में लिप्त हैं, उनके लिये हरिनाम ही गति है—और गति नहीं। तथा जो तामस कर्मों में लिप्त हैं, उनके लिये हरिनाम ही गति है—और गति नहीं—यह बात स्पष्ट बताने के लिये "हरेर्नाम"—एवं "नास्त्येव"—शब्दों का तीन बार प्रयोग किया गया।

अथवा—त्रिविध-तापों से परितप्त जीवों को लक्ष्य करके ही यहाँ इन शब्दों की त्रिरावृति की गई है—अर्थात् जो पुरुष आध्यात्मिक तापों (आधि-व्याधि) से तपित हैं, उनके लिये कलि में केवल हरिनाम ही गति है—और गति नहीं। जो आधिदैवक तापों (अनावृष्टि-ग्रहादि की पीड़ा) से एवं जो आधिभौतिक तापों (सिंहसर्पादि के भय) से पीड़ित हैं, उन दोनों के लिये भी इन तापों से निष्कृति पाने का उपाय हरिनाम को छोड़ कर और कोई नहीं है।

तीन प्रकार के पापों में निरत पुरुषों के लिये भी हरिनाम ही सर्व-श्रेष्ठ प्रायश्चित है। जो पुरुष कायिक (परस्त्रीगमनादि) वाचक (कुवचन-मिथ्यादि) तथा मानसिक (परानिष्ट-चिन्तादि) पापों से मुक्त होना चाहते हैं, उन सबके लिये केवल हरिनाम ही गति है—अन्य कोई गति नहीं। मुक्त, मुमुक्षु-विषयी, इन तीन प्रकार के जीवों के लिये कलियुग में हरिपद प्राप्ति का एवं संसार दुख-निवृति का एक मात्र साधन हरिनाम ही है—अन्य गति नहीं। त्रिभुवन (स्वर्ग-मर्त्य-पाताल) के पुरुष-स्त्री-क्लीब—इन तीनों के लिये तीनों अवस्थाओं (बाल्य-यौवन-जरा) में कलि में केवल हरिनाम ही गति है—अन्य गति नहीं। इसलिये भी उक्त श्लोक में "हरेर्नाम" एवं "नास्त्येव"—शब्दों का तीन बार प्रयोग है।

मूकावस्था में हरिनाम के श्रवण मात्र से ही अभीष्ट फल की प्राप्ति हो सकती है। मूक-वधिर होने पर हरिनाम के दर्शन मात्र से एवं मूक-वधिर-अन्धावस्था में हरिनाम के स्पर्शमात्र से ही जीव कृतार्थ हो सकता है। सारार्थ यह है कि कलि में हरिनाम ही एक मात्र अवलम्बनीय है। यहां यह बात भी उल्लेखनीय है कि श्रीमद्भागवत् कथित नवधा-भक्ति के समस्त साधनाङ्ग भी कलि में हरिनाम-आश्रय-ग्रहणपूर्वक अनुष्ठान करने

पर ही अभीष्टप्रद होते हैं—अन्यथा नहीं। कलि में अनेक दोष हैं—यह सत्य है। किन्तु इसमें एक महागुण यह है कि केवल हरिनाम सङ्कीर्त्तन द्वारा जीव संसार-बन्धन से मुक्त होकर परमधाम को प्राप्त कर सकता है।

कलियुग में नाम-सङ्कीर्त्तन का एक यह वैशिष्ट्य भी है कि कलिकाल में भगवान् स्वयं ही नाम प्रचार करते हैं। वह प्रचार दो प्रकार का है। प्रथमतः--भगवान् युगावताररूप से साधारण कलि में—कलि का धर्म नाम-सङ्कीर्त्तन प्रचार करते हैं। द्वितीयतः-विशेष कलि में—वर्त्तमान कलि में स्वयंभगवान् श्रीकृष्ण श्रीगौर-सुन्दररूप में अपनी कृपाशक्ति को पूर्णतम विकसित करते हुए आपामर-साधारण को हरिनाम ग्रहण कराते हैं, ऐसे अपूर्व सौभाग्य की सम्भावना अन्य किसी युग में नहीं है। अतएव वर्तमान कलि में हरिनाम का अपूर्व वैशिष्ट्य है।

"तृणादपि सुनीचेन"—

पहले यह कहा जा चुका है कि नाम-सङ्कीर्तन का मुख्य फल-प्रेम प्राप्ति है, किन्तु जब तक चित्त में नामापराध विद्यमान हैं, तब तक नाम के मुख्य फल-प्रेम की प्राप्ति नहीं हो सकती। जिससे नामापराध दूर होकर चित्त में प्रेम का आविर्भाव हो सकता है, तदनुकूल भाव से नाम-सङ्कीर्तन का विधान श्रीमन्महाप्रभु ने इस प्रकार बतलाया है :—(शिक्षाष्टक–३)

तृणादपि सुनीचेन तरोरिव सहिष्णुणा।
अमानिना मानदेन कीर्त्तनीयः सदा हरिः॥

"तृण से भी नीच एवं वृक्ष की भांति सहनशील होकर, अपने सन्मान की अभिलाषा न रखकर दूसरों को सन्मान प्रदान करते हुए सर्वदा हरिनाम सङ्कीर्तन करना चाहिये।" तात्पर्य यह है कि किसी के द्वारा असद्व्यवहार अन्याय, अपमान, ताड़नादि किये जाने पर भी नामकीर्तनकारी को विच-लित—विक्षिप्तचित्त नहीं होना चाहिये। उसे हर अवस्था में समान-चित्त रहकर, हर प्रकार के व्यवहार को सहन करना चाहिये। हर एक जीव को श्रीकृष्ण का अधिष्ठान जानकर सन्मान देते हुए एवं सदैव नामापराधों से बचते हुए नाम-आश्रय ग्रहण करना ही श्रेयस्प्रद है। नामापराधों के खण्डनत्व में भी केवल भगवन्नाम ही अवलम्बनीय है

यह ठीक है कि उपर्युक्त समस्त गुण असाधारण होने से पहले पहले किसी भी साधक को इनकी उपलब्धि नहीं हो सकती। किन्तु इन गुणों की प्राप्ति के लिये तीव्र उत्कण्ठापूर्वक एवं तदनुकूल यत्न तथा अभ्यास करते हुए जब नामाश्रय ग्रहण किया जाता है, तब परम-करुण सर्वाभीष्ट-प्रद श्रीभगवन्नाम की असाधारण कृपा से ये समस्त गुण स्वतः ही आकर उपस्थित हो जाते हैं।

सारार्थ यह है कि—'तृणादपि-सुनीचत्व', 'तरोरिव-सहिष्णुत्व', 'निज-मान शून्यत्व' एवं दूसरे के प्रति 'सन्मान प्रदर्शनत्व'—रूप इन चारों रत्नों की माला श्रीभगवन्नामरूप सूत्र में ग्रथित करके सदा कण्ठ में धारण करने से ही जीव की शोभा है—तब ही जीव परम पुरुषार्थ—प्रेम को प्राप्त कर, अपनी चिरमिलषित पूर्णानन्द-प्रदायनी श्रीश्रीप्रिया-प्रीतम की निकुञ्ज सेवा द्वारा कृतार्थ हो सकता है।

श्रीहरिनाम सङ्कीर्तन मंडल के मुख-पत्र

"श्री हरिनाम"

(त्रैमासिक)

के ग्राहक बनिये और बनाइये !

* गौड़ीय ग्रन्थों का निचोड़ है।
* भक्ति विषयक ज्ञातव्य दार्शनिक तत्वों का गुटका है।
* ब्रज की मधुरतम लीलाओं का सम्पुट है।
* प्राचीन संस्कृति का सुरक्षक है।
* विशुद्ध प्रेम-भक्ति रस का प्रतिपादक है।
* साईज २० × २६ का ८ पेजी, सुन्दर ग्लेज पेपर।
* पृष्ठ सख्या ७० में एक उपादेय पुस्तक के आकार में।

वार्षिक मूल्य केवल ५) रु०

प्राप्ति स्थान—

'श्रीहरिनाम' कार्यालय

बाग बुन्देला, वृन्दावन।

श्रीहरिनाम सङ्कीर्तन मंडल के मुख-पत्र

"श्री हरिनाम"

(त्रैमासिक)

के ग्राहक बनिये और बनाइये !

* गौड़ीय ग्रन्थों का निचोड़ है।
* भक्ति विषयक ज्ञातव्य दार्शनिक तत्वों का गुटका है।
* ब्रज की मधुरतम लीलाओं का सम्पुट है।
* प्राचीन संस्कृति का सुरक्षक है।
* विशुद्ध प्रेम-भक्ति रस का प्रतिपादक है।
* साईज २०×२६ का ८ पेजी, सुन्दर ग्लेज पेपर।
* पृष्ठ सख्या ७० में एक उपादेय पुस्तक के आकार में।

वार्षिक मूल्य केवल ५) रु०

प्राप्ति स्थान—

'श्री हरिनाम' कार्यालय

बाग बुन्देला, वृन्दावन।